विक्रमांक

(उत्तरार्ध)

संवत् २००१ वैक्रम

नागरी प्रचारिणी सभा
काशी

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

त्रैमासिक

[नवीन संस्करण]

वर्ष ४९, अंक १—४
संवत् २००१

संपादक
वासुदेवशरण अग्रवाल

संवत् २००१
काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित
मूल्य १०)

निवेदन

(१)

विक्रमांक का यह उत्तरार्द्ध, संवत् २००१ के चारों अंकों के समुच्चय के रूप में सभासदों के सेवार्पित है। विचार था कि उत्तरार्द्ध में भी पूर्वार्द्ध जितनी ही वाचन-सामग्री दी जाय, पर सरकारी प्रतिबंध के कारण वैसा नहीं हो सका। सभा ने सरकार से अनुरोध किया था कि केवल विक्रमांक का यह उत्तरार्द्ध ही प्रतिबंध-मुक्त कर दिया जाय जिससे संपूर्ण संपादित सामग्री इसी अंक में दे दी जाय; परंतु खेद है कि पत्राचार में विलंब भी हुआ और अनुमति भी नहीं मिल सकी। आशा है, सभासद्गण विवशता के लिये क्षमा करेंगे। शेष सामग्री अगले अंकों में दी जायगी।

रामनारायण मिश्र
प्रधान मंत्री

---

(२)

विक्रमांक के लिये लगभग पाँच सौ पृष्ठों की सामग्री एकत्र की गई थी। अनेक लेखक महानुभावों ने मेरा अनुरोध मानकर लेख भेजने की कृपा की थी। मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। विचार यह था कि गत दो सहस्र वर्षों में भारतीय संस्कृति का विविध क्षेत्रों में जो विकास हुआ है उसका संपूर्ण चित्र एक ही सुंदर अंक में प्रस्तुत किया जाय। परन्तु यह योजना सर्वांश में पूरी न हो सकी और प्रकाशन की कठिनाइयों से विवश होकर विक्रमांक के कई खंड करने पड़े। फिर भी कुछ लेख, विशेषतः वे जिनका संबंध भाषा-विज्ञान और हिंदी-साहित्य के इतिहास से था, छपने से रह गए। इसके लिये मैं लेखक महानुभावों से सविनय क्षमा चाहता हूँ। अवशिष्ट लेख-सामग्री नए संपादक श्री प्रो० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, एम० ए०, हिंदी-विभाग, काशी-हिंदू विश्वविद्यालय के पास भेज दी गई है जो क्रमशः प्रकाशित होगी।

वासुदेवशरण
संपादक

विदेशों में भारतीय संस्कृति के प्रचारक
कुछ बौद्ध विद्वान्

[लेखक—श्री कृष्णदत्त वाजपेयी, एम० ए०]

भारतीयों ने ज्ञान-विज्ञान के सर्वतोमुख प्रसार में जो महान् विक्रम किया उसमें बौद्धों का भी हाथ रहा है। इसका श्रेय बौद्ध मतानुयायियों को ही है कि उन्होंने 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' की भावना को बहुत प्राचीन काल से चरितार्थ करना प्रारंभ किया। इतिहास में हम प्रामाणिक रूप में सबसे पहले बौद्ध-भिक्षुओं को ही देशांतरों में भारतीय संस्कृति के प्रचार के लिये प्रयाण करते हुए पाते हैं। शाक्यमुनि के उपदेशों का सुदूर देशों में प्रचार करने, बौद्ध ग्रंथों का उन देशों की भाषाओं में अनुवाद करने, बर्बर तथा असभ्य जातियों को भी सभ्य और संस्कृत बनाने का जो अथक परिश्रम इन बौद्ध विद्वानों और विदुषियों ने किया वह वास्तव में सराहनीय है। सुवर्णभूमि (बर्मा), सिंहल (लंका), सुवर्णद्वीप (सुमात्रा), यवद्वीप (जावा), चीन, तिब्बत, कोरिया और जापान आदि में तथा पश्चिमी जगत् में भिक्खुओं और भिक्खुनियों ने अपने अदम्य उत्साह और प्रभूत उद्योग से भारतीय संस्कृति के प्रसार का सफल प्रयत्न किया। यहाँ कुछ ऐसे प्रमुख बौद्ध विद्वानों का उल्लेख किया जाता है जो इस कार्य के लिये भारत से बाहर भिन्न भिन्न देशों को गए।

१—महारक्षित—सम्राट् अशोक सबसे पहला भारतीय शासक था जिसने अनेक धर्मप्रचारक-मंडलियाँ बनाकर विभिन्न देशों में भेजीं। महारक्षित यूनानी जगत् में जानेवाली मंडली के नेता बनकर गए। इनका समय लगभग १९३ वि० पू० (२५० ई० पू०) है।

२—मध्यम—ये अशोक के द्वारा लगभग इसी समय बौद्धधर्म के प्रचार के लिये भेजी हुई मंडली का नेतृत्व ग्रहण कर हिमालय के प्रदेशों में गए।

३—**शोण**, ४—**उत्तर**—ये दोनों भिक्षु सुवर्णभूमि (आधुनिक पेगू, मौलमोन) में उपर्युक्त उद्देश्य से गए।

५—**महेंद्र**—बौद्धग्रंथों के अनुसार ये अशोक के पुत्र थे। इन्होंने सिंहल (लंका) में जाकर बौद्धधर्म का प्रचार किया।

६—**संघमित्रा**--यह सम्राट् अशोक की पुत्री थी। इसने सिंहल की स्त्रियों को उपदेश देकर उन्हें भिक्षुणी बनाया।

७—**अर्हत् वैरोचन**—लगभग वि० सं० ४ (ई० पू० ५३) में ये सबसे पहले खोतन गए और वहाँ बौद्धधर्म का प्रचार किया।

८—**काश्यप मातंग**—ये गांधार के रहनेवाले थे। १२२ सं० (६५ ई०) में चीन के सम्राट् मिंग-ती के निमंत्रण पर ये सबसे पहले चीन गए; वहाँ इन्होंने अनेक बौद्धग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया।

९—**धर्मरक्ष**—ये भी गांधार-निवासी थे। लगभग १२६ सं० (६९ ई०) में ये चीन गए। काश्यप मातंग के साथ इन्होंने कई महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया।

१०—**स्थविर चिलुकाक्ष**—समय सं० २०४—२४३ (ई० १४७—१८६)। १४७ ई० में ये चीन गए। वहाँ २५ वर्ष रहकर इन्होंने २३ बौद्ध ग्रंथों का चीनी में अनुवाद किया।

११—**आर्यकाल**—सं० २०५—२३७ (१४८ से १८० ई०)। १४८ ई० में चीन जाकर वहाँ २२ वर्ष तक रहकर इन्होंने १७६ ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया।

१२—**मंत्रसिद्ध**—लगभग २८२ सं० (२२५ ई०) में खोतन में जाकर इन्होंने बौद्धधर्म का प्रचार किया।

१३—**विघ्न**—लगभग २५७—३०७ वि० (२००—२५० ई०)। ये २२४ ई० में चीन गए और वहाँ इन्होंने सर्वप्रथम 'धम्मपद' का अनुवाद किया।

१४—**धर्मकाल**—३०७ वि० (२५० ई०)। ये मध्यभारत के रहनेवाले थे। चीन जाकर इन्होंने धर्म-प्रचार का कार्य किया। वि० ३०७

(२५० ई०) में इन्होंने प्रसिद्ध बौद्ध ग्रंथ 'पातिमोक्ख' का चीनी में अनुवाद किया।

१५—**धर्मरत्न**—सं० २९७—३७५ (२४०—३१८ ई०)। ये २६६ ई० में चीन गए। इनकी प्रकांड विद्वत्ता का परिचय इसी से लगता है कि ये ३६ भाषाओं के ज्ञाता थे। इन्होंने चीन में धर्म तथा विद्या के प्रचार में श्लाघनीय कार्य किया। २१० बौद्धग्रंथों का इनके द्वारा चीनी भाषा में अनुवाद किया गया।

१६—**धर्मप्रिय**—सं० ४३९ (३८२ ई०)। चीन जाकर इन्होंने अनेक बौद्ध ग्रंथों का अनुवाद किया, और शिक्षण-कार्य किया। 'दशसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता' का चीनी में अनुवाद मुख्य है।

१७—**कुमारजीव**—सं० ४३२—४७७ (३७५—४२० ई०)। ये चीन में जानेवाले प्रख्यात भारतीय पंडित हैं। ४०१ ई० में चीन जाकर इन्होंने अनुवाद की नई प्रणाली निकाली, जो पहले की प्रणाली से विशिष्ट थी। १२ वर्षों में इसी शैली में इन्होंने 'वज्रच्छेदिका' आदि ग्रंथों, अश्वघोष तथा नागार्जुन आदि विद्वानों के महान् ग्रंथों का अनुवाद किया। इन अनुवादित ग्रंथों की संख्या लगभग १०० है। इन सबका अनुवाद मौलिक रचना जैसा जान पड़ता है। कुमारजीव ने चीन आदि देशों में महायान का प्रचार बड़ी तत्परता से किया।

१८—**पुण्यतर**—सं० ४६१ (४०४ ई०)। कुमारजीव के साथ इन्होंने बौद्ध ग्रंथों का अनुवाद किया। ये मध्य एशिया भी गए और वहाँ धर्म-प्रचार का कार्य किया। ये उस समय की मध्य एशिया की प्रायः सभी भाषाएँ जानते थे।

१९—**गुणवर्मन्**—सं० ४२४—४८८ (३६७—४३१ ई०)। ये काश्मीर के रहनेवाले थे। इन्होंने पहले सिंहल जाकर वहाँ संस्कृत का प्रचार किया। ४२३ ई० में ये यवद्वीप (जावा) गए और वहाँ से कुछ समय पश्चात् चीन पहुँचे। कुमारजीव की तरह इनकी भी प्रसिद्धि बहुत है। इन्होंने अनेक बौद्ध ग्रंथों का अनुवाद किया और चीन में शिक्षण का कार्य विशेष रूप से

किया। वहाँ पर इनके उपदेशों से प्रभावित होकर जनता ने बड़ी संख्या में बौद्ध धर्म को अपनाया।

२०—बुद्धघोष—लगभग सं० ४२२-४७७ (३६५-४२० ई०)। सिंहल तथा चीन में जाकर इन्होंने बौद्ध धर्म का बड़ी लगन से प्रचार किया। इनके अनुवादित विशुद्धिमग्ग, पट्टचूड़ामणि आदि प्रसिद्ध ग्रंथ हैं।

२१—गुणभद्र—सं० ४२४ से ४८८ (३६७-४३१ ई०)। ये मध्य-भारत के रहनेवाले थे। चीन जाकर इन्होंने ७८ संस्कृत ग्रंथों का चीनी में अनुवाद किया।

२२—धर्मजातयशस्—सं० ५३८ (४८१ ई०)। ये भी मध्यभारत के थे। ४८१ ई० में चीन जाकर इन्होंने 'अमृतार्थसूत्र' का चीनी में अनुवाद किया।

२३—बुद्धशांत—सं० ५८२ (५२५ ई०)। इन्होंने चीन में जाकर शिक्षणकार्य के साथ दस ग्रंथों का चीनी में अनुवाद किया।

२४—परमार्थ—सं० ५९६ (५३९ ई०)। ये बौद्ध-साहित्य के बहुत बड़े आचार्य थे। चीन के प्राचीन साहित्य में इनके पांडित्य की बड़ी प्रशंसा की गई है। इन्होंने योगाचार संप्रदाय का चीन में प्रचार किया। प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् असंग तथा वसुबंधु के ग्रंथों पर इन्होंने विद्वत्तापूर्ण टीकाएँ लिखी हैं।

२५—पंडित होदो—लगभग सं० ६०७ (५५० ई०)। यह एक भारतीय पंडित का जापानी नाम है जो जापान के प्राचीन साहित्य में मिलता है। होदो के जापान में जाकर बौद्ध धर्म के प्रचार करने का वर्णन मिलता है। ये सबसे पहले भारतीय मिलते हैं जो जापान में धर्म-प्रचारार्थ गए। इसी काल से वहाँ के स्त्री-पुरुष बौद्ध-धर्म की ओर विशेष आकृष्ट हुए और धीरे धीरे वहाँ शाक्यमुनि का धर्म अच्छी तरह से जम गया।

२६—पुण्योपाय—सं० ७१२ (६५५ ई०)। ये मध्यभारत के थे। ६५५ ई० में बौद्ध धर्म के १५०० से अधिक ग्रंथ लेकर ये चीन गए। इनमें महायान और हीनयान दोनों संप्रदायों के ग्रंथ थे।

२७—शांतरक्षित—सं० ७४७-८३७ (६९०-७८० ई०)। ये तिब्बत में जानेवाले सर्वप्रथम भारतीय विद्वान् थे। अपने प्रकांड पांडित्य तथा प्रभूत उत्साह के द्वारा इन्होंने तिब्बत की असभ्य जातियों में भी सभ्यता का बीज आरोपित किया। भोटों में बौद्ध-धर्म-प्रसार के श्रीगणेश का श्रेय इन्हीं को है। इन्होंने अनुवाद के अतिरिक्त 'तत्त्वसंग्रह' आदि मौलिक दार्शनिक ग्रंथ लिखे।

२८—अमोघवज्र—सं० ७७६ (७१९ ई०)। चीन जाकर इन्होंने ७७ बौद्ध ग्रंथों का चीनी में अनुवाद किया। इनमें ४१ तंत्र-ग्रंथ थे।

२९—पद्मसंभव—सं० ८०४ (७४७ ई०)। इन्होंने तिब्बत जाकर वहाँ बौद्ध तांत्रिक धर्म का प्रसार किया।

३०—बुद्धसेन—सं० ७९३ (७३६ ई०)। इन्होंने २४ वर्ष तक जापान में घोर परिश्रम से धर्म-प्रचार का कार्य किया। इसके लिये कुछ दिन तक ये खोतन में भी रहे।

३१—प्रज्ञ—सं० ८३९ (७८२ ई०)। ७८२ ई० में चीन जाकर इन्होंने अनेक बौद्ध ग्रंथों का चीनी में अनुवाद किया।

३२—जिनमित्र—लगभग सं० ८५७ (८०० ई०)। इन्होंने तिब्बत में जाकर बौद्धधर्म का प्रचार किया। ये काश्मीर के रहनेवाले थे।

३३—धर्मदेव—सं० ९९७-१०५८ (९४०-१००१ ई०)। २८ वर्षों तक चीन में रहकर इन्होंने ४६ ग्रंथों का चीनी में अनुवाद किया।

३४—दीपंकर श्रीज्ञान—सं० १०३९-१११९ (९८२-१०५४ ई०)। तिब्बत में १०४२ से ११०२ ई० तक का साहित्य-काल 'दीपंकर-युग' के नाम से प्रख्यात है। ये पहले विक्रमशिला महाविद्यालय के महापंडित थे। तिब्बत के राजभिक्षु ज्ञानप्रभ के कई निमंत्रणों से बाध्य होकर ये तिब्बत गए। इन्होंने जीवन का अंतिम समय कठोर परिश्रम से धार्मिक सुधार और ग्रंथानुवाद के कार्यों में बिताया। इनके अनुवादित तथा संशोधित ग्रंथों की संख्या कई सौ है।

३५—**सोमनाथ**—सं० १०८४ (१०२७ ई०)। इन्होंने तिब्बत जाकर ज्योतिष ग्रंथों का भोट भाषा में अनुवाद किया।

३६—**शांतिभद्र**—मृत्यु सं० १०९८ (१०४१ ई०)। इन्होंने तिब्बत जाकर बौद्ध साहित्य के प्रचार में बड़ा उद्योग किया।

३७—**पंडित गयाधर**—लगभग सं० ११३२ (१०७५ ई०)। ५ वर्षों तक तिब्बत में रहकर इन्होंने तंत्र-ग्रंथों का भोट में अनुवाद किया।

३८—**विभूतिचंद्र**—सं० १२६१ (१२०४ ई०)। इन्होंने तिब्बत में कई वर्ष अध्यापन-कार्य किया और वहाँ एक बौद्ध विद्यालय की स्थापना की। अपने बनाए हुए ग्रंथों का इन्होने भोट में अनुवाद किया।

३९—**सुनयश्री**—लगभग सं० १२६७ (१२१० ई०)। तत्कालीन चीन-सम्राट् के निमंत्रण पर ये चीन गए और वहाँ अनेक क्लिष्ट ग्रंथों के अनुवाद किए।

४०—**शाक्य श्रीभद्र**—सं० ११८४-१२८२ (११२७-१२२५ ई०)। ये काश्मीर के रहनेवाले थे। इन्होंने तिब्बत जाकर बौद्धन्याय का विशेष रूप से अध्यापन किया।

४१—**संघराज**—सं० १२७३-१३०८ (१२१६-५१ ई०)। इन्होंने बौद्ध-धर्म-प्रचार का भगीरथ प्रयत्न किया; विशेष कर भोट और मंगोल देश में। इनकी लिखी नीति-शिक्षा-पूर्ण गाथाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं।

४२—**सकर-म-गक्-सि-छोऽजिन्**—सं० १२६१ से १३४० (१२०४-८३ ई०)। इन भारतीय पंडित का यही चीनी नाम मिलता है। ये प्रमुख बौद्ध सिद्ध थे। मंगोल-सम्राट् मुन्खे ने १२५६ ई० में इन्हें अपना गुरु बनाया।

४३—**रिन्-छेन्-ग्रुब**—सं० १३४७-१४२१ (१२९०-१३६४ ई०)। ये उद्भट भारतीय विद्वान् थे। अनुवाद-कार्य के अतिरिक्त इनका अधिक महत्त्व-पूर्ण कार्य यह था कि इन्होंने अपने समय तक के सभी अनुवादित भोट भाषा के ग्रंथों को एकत्र कर उन्हें दो बड़ी जिल्दों में संगृहीत किया। स्वयं भी इन्होंने बीसियों मौलिक ग्रंथ लिखे।

४४—**सुमतिकीर्ति** (चोङ्-ख-प) सं० १४१४ से १४७६ (१३५७-१४१९ ई०)। तिब्बत में १३७६ से १६६४ तक का दीर्घ साहित्यिक काल 'चोङ्-ख-प' युग के नाम से प्रसिद्ध है। सुमतिकीर्ति ने तिब्बत में कठोर परिश्रम से बौद्धधर्म की बहुत सी बुराइयों को दूर किया। इनके द्वारा वहाँ किया हुआ विद्या-प्रचार का कार्य बहुत सराहनीय है। तिब्बत में इन्होंने महाविद्यालय तथा अनेक महाविहारों की स्थापना की। इनके शिष्यों ने महाविहार-स्थापना का कार्य वर्षों तक जारी रखा।

४५—**पंडित वनरत्न** -सं० १४४१ से १५२५ (१३८४-१४६८ ई०)। ये भोट जानेवाले अंतिम प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु थे। १४५३ ई० में इन्होंने वहाँ जाकर अनुवाद और धर्म-प्रचार का कार्य किया। वहाँ के राजा रब्-ब्रतन के निमंत्रण पर ये दूसरी बार तिब्बत गए। इन्होंने विशेषतया तांत्रिक ग्रंथों और सिद्धों के गीतों के अनुवाद किए हैं।
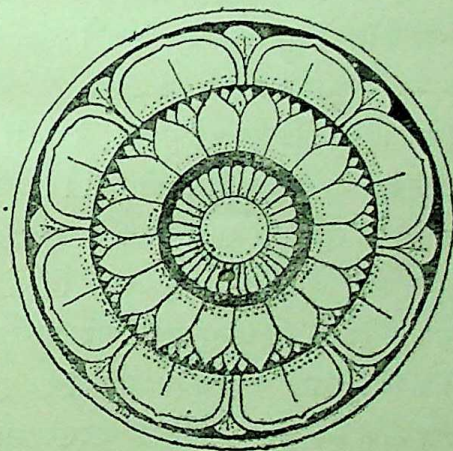
प्रसिद्ध चीनी यात्री युअन च्वांग का पत्र-व्यवहार

निम्नलिखित मूल पत्र और उत्तर संस्कृत में थे। उनका चीनी अनुवाद चीन देश के संस्कृत बौद्ध त्रिपिटक में सुरक्षित बच गया है।

पत्र

'भगवान् बुद्ध के वज्रासन के समीप (बोध गया में) निर्मित महाबोधि मंदिर के स्थविर प्रज्ञादेव अपनी विद्वन्मंडली के साथ महाचीन देश के मोक्षाचार्य (युअन च्वांग) की सेवा में जिन्होंने सूत्र, विनय और अनेक शास्त्रों का गहरा अध्ययन किया है, यह पत्र भेजते हैं और सादर प्रार्थना करते हैं कि वे रोग और कषायों से सदा मुक्त हों।

मैं—भिक्षु प्रज्ञादेव ने बुद्ध के दिव्य अवतारों पर एक काव्य बनाया है और सूत्र और शास्त्रों का तुलनात्मक अध्ययन भी ग्रन्थ रूप में रचा है। उसे भिक्षु फ-छङ् के हाथों आपके पास भेजता हूँ। आचार्य (युअन च्वांग) के अनेक मित्र यहाँ हैं। उनमें भदन्त ज्ञानप्रभ विशेष रूप से आपकी कुशल क्षेम पूछने में मेरे साथ हैं। उपासक लोग सदा आपको नमस्कार भेजते हैं। आपकी सेवा में एक धौतवस्त्र युगल भी भेज रहे हैं—अपने स्नेह की साक्षी के लिये कि हम आपको भूले नहीं हैं। उपहार के अल्पीयस् भाव पर ध्यान न देकर कृपया उसे स्वीकार करें। जिन सूत्रों और शास्त्र ग्रन्थों की आपको आवश्यकता हो उनकी सूची भेजने की कृपा करें। हम उनकी प्रतिलिपि करके सेवा में भेज देंगे।'

युअन च्वांग का उत्तर

'भारतवर्ष से हाल में लौटे हुए एक वाहक के द्वारा मुझे ज्ञात हुआ है कि महापंडित शीलभद्र का शरीर पूरा हो गया। इस समाचार से मुझे असीम शोक हुआ। जो सूत्र और शास्त्र मैं अपने साथ लाया था उनमें से योगाचार भूमि शास्त्र एवं अन्य ग्रन्थों का तीस जिल्दों में मैं अनुवाद कर चुका हूँ। सविनय विदित हो कि सिन्धु नदी पार करते समय साथ में लाए हुए धार्मिक ग्रन्थों की एक गठरी नदी में बह गई थी। इस पत्र के साथ उन ग्रन्थों की एक सूची नत्थी है। यदि आपको अवसर मिले तो कृपया उन ग्रन्थों को भेजिएगा। मैं अपनी ओर से कुछ छोटी वस्तुएँ उपहार में भेज रहा हूँ। कृपया उन्हें स्वीकार करें।'

(डा० प्रबोधचंद्र बागची रचित 'इंडया ऐंड चाइना' पुस्तक से, पृ० ८०-८१)

सुवर्णद्वीप के शैलेंद्र सम्राट् और नालंदा

[लेखक—श्री वासुदेवशरण अग्रवाल]

सुवर्णद्वीप (आधुनिक सुमात्रा) और यवद्वीप (जावा) प्राचीन काल में भारतवर्ष की धर्म-विजय के अंतर्गत थे। आठवीं शताब्दि से वहाँ शैलेंद्र-वंश का राज्य हुआ। इस वंश के राजा भारतवर्ष से बराबर संबंध रखते रहे। संस्कृत उनकी राजभाषा थी। शैलेंद्रराज मारविजयोत्तुंगवर्मा ने भारतवर्ष में एक विहार बनवाया था, जिसके लिये राजराज चोल ने भूमि दान में दी थी। तंजोर शिलालेख से ज्ञात होता है कि उसके पुत्र राजेंद्र चोल ने भी उस दानपट्ट का समर्थन किया था। एक दूसरे शैलेंद्र सम्राट् बालपुत्रदेव ने नवीं शताब्दि में नालंदा-विश्वविद्यालय में एक विहार बनवाया था और उसके चातुर्दिश आर्यभिक्षुसंघ के उपभोग के लिये पाँच गाँव दान में दिए थे। सुवर्णद्वीप के राजा ने इस कार्य के लिये मगध के सम्राट् देवपालदेव के पास अपना दूतक और उसके द्वारा उचित धन भेजकर नालंदा-विश्वविद्यालय के लिये पाँच गाँवों के शासन-पट्ट दिए जाने का प्रबंध किया था। बालपुत्रदेव की माता का नाम तारा था, जो यवभूमि के सोमवंशी शासक वर्मसेतु की कन्या थीं। यह ताम्रपट्ट भारतीय सम्राट् देवपालदेव ने मुद्गगिरि (मुँगेर) के जयस्कंधावार (छावनी) से जारी किया था। सौभाग्य से वह नालंदा-विश्वविद्यालय में अभी तक सुरक्षित बच गया है। यह ताम्रपट्ट भारत और बृहत्तर भारत के दीर्घकालीन घनिष्ठ संबंध का सूचक है। लेख में ६६ पंक्तियाँ हैं; यवभूमि के राजाओं से संबंधित अंश ही यहाँ उद्धृत किया जाता है—

सुवर्णद्वीपाधिपमहाराजश्रीबालपुत्रदेवेन दूतकमुखेन वयं विज्ञापिताः यथा—मया श्रीनालन्दायां विहारः कारितः। तत्र भगवतो बुद्धभट्टारकस्य प्रज्ञापारमितादि सकलधर्मनेत्री स्थानस्यार्थे तत्रकबोधिसत्त्वगणस्याष्टमहापुरुषपुद्गलस्य चातुर्दिशार्य-

भित्तुसंघस्य बलि-चरु-सत्र-चीवर-पिण्डपात-शयनासन-ग्लान-प्रत्यय-भेषजाद्यर्थं धर्मरत्नस्य लेखनाद्यर्थं विहारस्य च खण्डिस्फुटित-समाधानार्थं शासनीकृत्य प्रतिपादिताः ।

आसीदशेषनरपालविलोलमौलिमालामणिद्युतिविबोधितपादपद्मः ।
शैलेन्द्रवंशतिलको यवभूमिपालः श्रीवीरवैरिमथनानुगताभिधानः ॥ [२४]

हर्म्यस्थलेषु कुमुदेषु मृणालिनीषु
शंखेन्दुकुन्दतुहिनेषु पदन्दधाना ।
निःशेषदिङ्मुखनिरन्तरलब्धगीति-
मूर्तेव यस्य भुवनानि जगाम कीर्त्तिः ॥ [२५]

भ्रूभङ्गे भवति नृपस्य यस्य कोपात्
निर्भिन्नाः सह हृदयैर्द्विषां श्रियोपि ।
वक्राणामिह हि परोपघात-दक्षा
जायन्ते जगति भृशङ्क्षतिप्रकाराः ॥ [२६]

तस्याभवन्नय-पराक्रम-शीलशाली
राजेन्द्रमौलिशत-दुर्ललितांघ्रियुग्मः ।
सूनुर्युधिष्ठिर-पराशर-भीमसेन-
कर्णार्ज्जुनार्ज्जितयशाः समराग्रवीरः ॥ [२७]

उद्धूतमम्बरतलाद्युधि सञ्चरन्त्या
यत्सेनयावनिरजःपटलं पटीयः ।
कर्णानिलेन करिणां शनकं वितीर्णै-
र्गण्डस्थलीमदजलैः शमयाम्बभूव ॥ [२८]

अकृष्णपक्षमेवेदमभूद्भुवनमण्डलम् ।
कुलन्दैत्याधिपस्येव यद्यशोभिरनारतम् ॥ [२९]

पौलोमीव सुराधिपस्य विदिता सङ्कल्पयोनेरिव,
प्रीतिः शैलसुतेव मन्मथरिपोर्ल्लक्ष्मीर्मुरारेरिव ।
राज्ञः सोमकुलान्वयस्य महतः श्रीवर्मसेतोः सुता
तस्याभूदवनीभुजोऽग्रमहिषी तारेव ताराह्वया ॥ [३०]

मायायामिव कामदेवविजयी शुद्धोदनस्यात्मजः,
स्कन्दो नन्दितदेववृन्दहृदयः शम्भोरुमायामिव ।

तस्यान्तस्य नरेन्द्रवृन्दविनमत्पादारविन्दासनः,
सर्व्वोर्व्वीपतिगर्व्वखर्वणचणः श्रीबालपुत्रोऽभवत् ॥ [३१]
नालन्दागुणवृन्दलुब्धमनसा भक्त्या च शौद्धोदने-
र्बुद्ध्वा शैलसरित्तरङ्गतरलां लक्ष्मीमिमां शोभनाम् ।
यस्तेनान्नतसौधधामधवलः सङ्घार्थमित्रश्रिया
नानासद्गुणभिक्षुसङ्घवसतिस्तस्यां विहारः कृतः ॥ [३२]
भक्त्या तत्र समस्तशत्रुवनितावैधव्यदीक्षागुरुं
कृत्वा शासनमाहितादरतया सम्प्रार्थ्य दूतैरसौ ।
ग्रामान्पञ्च विपश्चितोपरि यथोद्देशानिमानात्मनः
पित्रोर्ल्लोकहितोदयाय च ददौ श्रीदेवपालं नृपम् ॥ [३३]
यावत्सिन्धोः प्रबन्धः पृथुलहरजटाशोभिताङ्गा च गङ्गा
गुर्वीं धत्ते फणीन्द्रः प्रतिदिनमचलो हेलया यावदुर्वीम् ।
यावच्चास्तोदयाद्री रवितुरगखुरोद्घृष्टचूडामणीस्त-
स्तावत्सत्कीर्त्तिरेषा प्रभवतु जगतां सत्क्रिया रोपयन्ती ॥ [३४]

अनुवाद—सुवर्णद्वीप (सुमात्रा) के शासक महाराज श्री बालपुत्रदेव ने दूत के द्वारा हम लोगों को यह संदेश भेजा है कि "मैंने नालंदा में एक विहार का निर्माण कराया है।" इस शासनपत्र के द्वारा इसकी आय भगवान् बुद्ध की पूजा के लिये, प्रज्ञापारमिता के सदृश संपूर्ण सद्गुणों से युक्त विद्वानों के पूजन के लिये, और वहाँ के बोधिसत्त्वगण के आठ महापुरुषों की पूजा के लिये, तथा चातुर्दिश भिक्षुसंघ के बलि, हवन, पूजन, वस्त्र, भिक्षा, शयन-आसन तथा रोगियों की चिकित्सा के लिये, धर्म-रत्न आदि के लिखने के लिये, एवं विहार की टूट-फूट की मरम्मत करने के लिये हम लोगों को आदेश दिया गया है।

श्लोकों का सारांश—(२४) यवभूमि (जावा) का शासक, शैलेंद्र-वंश का रत्न, अपने नाम के अनुरूप प्रबल शत्रुओं का विध्वंसक, सारे नृपति-समाज का सिरमौर था।

(२५) उसका यश सारे संसार में व्याप्त हो गया था।

(२६) उसके पराक्रम के भय से शत्रु कंपित थे।

(२७) उसका पुत्र नीतिवान्, पराक्रमी, शीलवान्, सैकड़ों राजाओं के द्वारा वंदितचरण और कीर्ति में युधिष्ठिर, पराशर, भीमसेन, कर्ण और अर्जुन के तुल्य हुआ।

(२८) उस (पुत्र) की सेना विशाल और अतुल पराक्रमवाली थी।

(२९) उसके दिगंतव्यापी यश से पृथिवी शुक्ल हो गई।

(३०) रति, पार्वती, लक्ष्मी आदि के सदृश उसकी स्त्री तारा थी, जो धर्मसेतु की पुत्री थी।

(३१) तारा ने बुद्ध और कार्त्तिकेय के समान प्रतापी और नृपति-सिरमौर बालपुत्र नामक कुमार को जन्म दिया।

(३२) नालंदा की विभूतियों से आकृष्ट होकर भगवान् बुद्ध के प्रति भक्ति प्रदर्शित करते हुए संपत्ति को नाशवान् समझकर, संघार्थमित्र की तरह यशवाले उस [बालपुत्र] ने नालंदा में एक विशाल, धवल विहार का निर्माण कराया, जिसमें अनेक सद्गुणों से युक्त भिक्षुओं का संघ निवास करने लगा।

(३३) [मगध के] प्रतापी सम्राट् देवपालदेव के पास सविनय दूतक भेजकर उसने एक शासनपत्र निकलवाया जिससे उस [बालपुत्र] ने अपने हित के लिये, माता-पिता तथा जगत् के कल्याण के लिये, उपर्युक्त पाँच गाँवों का दान किया।

(३४) जब तक सिंधु, गंगा, शेष और सूर्य आदि हैं तब तक यह सत्कीर्ति संसार में अमर रहे।

——

श्री नालंदामहाविहारीय आर्यभिक्षुसंघस्य

—यह वाक्य नालंदा-विश्वविद्यालय की मुद्रा पर अंकित था। इन मुद्राओं के कई नमूने नालंदा में मिले हैं। नालंदा-विश्वविद्यालय के महाविहार में ज्ञान-साधना करनेवाले आर्यभिक्षुसंघ की यह मुद्रा समस्त एशिया महाद्वीप में लगभग एक सहस्र वर्षों तक (४०० वि० से १२०० वि० तक) सब से बड़े गौरव का चिह्न समझी जाती थी।

जानपद जन

[लेखक--श्री वासुदेवशरण अग्रवाल]

§ १

प्रियदर्शी महाराज अशोक ने गाँवों की भारतीय जनता के लिये जिस शब्द का प्रयोग किया है, वह सम्मानित शब्द है 'जानपद जन'। अशोक के लेखों का पारायण करते हुए हमें इस बहुमूल्य शब्द का परिचय मिलता है। सात लाख गाँवों में बसनेवाली जनता को हम इस पवित्र नाम से संबोधित कर सकते हैं। इस समय इस प्रकार के उच्चाशय से भरे हुए एक सरल नाम की सर्वत्र आवश्यकता है। एक ओर साहित्यिक जीवन में साहित्यसेवी विद्वान् जनपदकल्याणीय योजनाओं पर विचार करने में लगे हैं एवं सामाजिक जीवन में नगर की परिधि से घिरे हुए नागरिक जन विशाल लोक के स्वस्थ और स्वच्छंद वातावरण में खुलकर श्वास लेने के लिये आकुल हैं, दूसरी ओर राजनैतिक जीवन में भी ग्रामवासी जन समुदाय की ओर सबका ध्यान आकृष्ट हुआ है। चिरकाल से भूले हुए जानपद जन की स्मृति सबको पुनः प्राप्त हो रही है और जानपद जन को पुनः अपने उच्च आसन पर प्रतिष्ठित करने की अभिलाषा सब जगह एक सी दिखाई पड़ती है। प्रत्येक क्षेत्र में उठनेवाले नवीन आंदोलनों की यह एक सर्वत्रव्यापी विशेषता है।

ऐसे समय भारत के प्रिय सम्राट् महाराज अशोक के हृदय से निकले हुए जनता के इस प्रिय नाम 'जानपद जन' का हमें हार्दिक स्वागत करना चाहिए। अशोक के हृदय में देश की प्राण शत-सहस्र जनता के लिये अगाध प्रीति थी। उनके साथ साक्षात् संपर्क प्राप्त करने के लिये उन्होंने कई नए उपायों का अवलंबन किया। अभी उनको सिंहासन पर बैठे दस ही वर्ष हुए थे कि पहले राजाओं की विहार-यात्राओं को रद्द करके लोक-जीवन से स्वयं परिचित होने के लिये उन्होंने एक नए प्रकार के दौरे का विधान किया

जिसका नाम धर्मयात्रा रखा गया। इसका उद्देश्य स्पष्ट और निश्चित था।

'जानपदसा च जनसा दसने धमंनुसथि च धम पलिपुछा च'

(अष्टम शिलालेख)

आज भी चकराता तहसील में यमुना और तमसा के संगम पर स्थित कालसी गाँव में हिमालय के एक शिलाखंड पर ये शब्द खुदे हुए हैं। धर्म के लिये होनेवाले इन दौरों का उद्देश्य था—

१—जानपद जन का दर्शन,

२—उनको धर्म की शिक्षा, और

३—उनके साथ धर्म विषयक पूछताछ करना।

पृथ्वी को अलंकृत करनेवाले वैभवशाली सम्राट् के ये सरलता से भरे हुए उद्गार हैं। जहाँ पहले राजाओं को देखने के लिये प्रजा को आना पड़ता था, वहाँ अब स्वयं सम्राट् उनके बीच में जाकर उनसे मेलजोल बढ़ाना चाहते हैं। जानपद जन का दर्शन सम्राट् प्राप्त करे, यह भावना कितनी उदार, शुद्ध और उच्च है। इसी लिये एच० जी० वेल्स सरीखे ऐतिहासिकों का कहना है कि अशोक के हृदय से तुलना करने के लिये संसार का और कोई सम्राट् सामने नहीं आता। जानपद जन के संपर्क में आकर सम्राट् उनके नैतिक और आध्यात्मिक जीवन को ऊँचा उठाना चाहते हैं। यही उस समय की वास्तविक लोकशिक्षा थी। धार्मिक पक्ष की ओर ध्यान देते हुए भी जनता के लौकिक कल्याण की बात को अशोक ने नहीं भुलाया। प्रथम तो उन्होंने जनता का सान्निध्य प्राप्त करने के लिये जनता की सीधी-सादी ठेठ भाषा का सहारा लिया। राजकाज में भाषा संबंधी यह परिवर्तन अशोक की अपनी विलक्षण सूझ और साहस का फल था। उस समय कौन सोच सकता था कि सम्राट् के धर्मस्तंभों पर जनता की ठेठ भाषा स्थान पाने के योग्य समझी जायगी। तुष्ट की जगह 'तुठ', ब्राह्मण की जगह 'बंभन', और पौत्र के लिये 'पोता' ये इस ठेठ बोली के उदाहरण हैं। जानपद जन का परिचय पाने के लिये जानपदी भाषा का उचित आदर अत्यंत आवश्यक है। जानपद जन के प्रति श्रद्धा होने के लिये जानपदी बोली के प्रति श्रद्धा पहले होनी चाहिए।

अशोक ने लोक-स्थिति सुधारने का दूसरा उपाय यह किया कि एक विशेष पद के राजकीय पुरुष नियुक्त किए जिनका कार्य केवल जानपद जन के हित सुख की चिंता करना था। उनको लेख में राजुक कहा गया है। ये लोग इतने विश्वसनीय, नीति-धर्म के पक्के, आचार में सुपरीक्षित और धर्मनिष्ठ थे कि अशोक ने स्वयं लिखा है—"जैसे कोई व्यक्ति सुपरिचित धात्री के हाथ में अपनी संतान को सौंपकर निश्चित हो जाता है, वैसे ही मैं जनपदीय हित-सुख के लिये राजुकों को नियुक्त करके हुआ हूँ"—

'हेवं मम लाजूक कट जानपदस हितसुखाये।"

"जानपद जन के हित-सुख के लिये"—सम्राट् के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं।

'ये लोग विना किसी भय के, उत्साह के साथ, मन लगाकर अपना कर्तव्य करें, इसलिये मैंने इनके हाथ में न्याय के साथ व्यवहार करने और दंड देने के अधिकार सौंप दिए हैं।' जानपद जन के लिये न्याय की प्राप्ति उनके अपने क्षेत्र में ही सुलभ कर देना सम्राट् का एक बड़ा वरदान था।

इस प्रकार प्रियदर्शी अशोक ने जानपद जन को शासन के केंद्र में प्रतिष्ठित करके एक नवीन आदर्श की स्थापना की। जानपद जन के प्रति उनकी जो कल्याणमयी भावना थी उसी से जनता को पुकारनेवाले इस सरल, सुंदर और प्रिय नाम का जन्म हुआ।

§ २

प्राचीन भारत में जानपद जन का जो सरल और सुखमय जीवन था उसका प्रदर्शन करनेवाले तीन चित्र यहाँ प्रकाशित किए जा रहे हैं।

चित्र १—बवनी का यह दृश्य आंध्र देश के कृष्णा जिले के शिंगवरं स्थान से प्राप्त विक्रम की चौथी शताब्दि पूर्व की आहत मुद्रा से लिया गया है। चाँदी के कार्षापण पर आहत इस रूप (सिंबल) में खेत की बोवाइ का दृश्य है। पोढ़े और बड़े हल की सहायता से दो बैल खेत जोतते हुए दिखाए गए हैं।

चित्र २—यह चित्र भी शिंगवरं के एक चाँदी के कार्षापण से लिया गया है। इसमें खलिहान में अनाज की मँड़नी का दृश्य है। बीच में एक

चित्र १

छायादार वृत्त है। दोनों ओर चार-चार बैल पयर (संस्कृत, प्रकर) या चकही के ऊपर घूमते हुए दाँय चला रहे हैं। इसी के बाद भूसा और अन्न
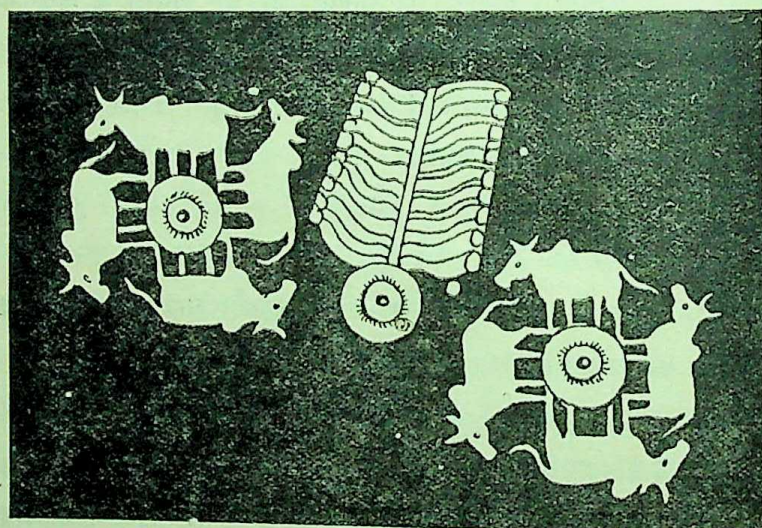
चित्र २

अलग हो जाते हैं। अन्न का ढेर रास (सं० राशि) कहलाने लगता है।

राशि किसान के परिश्रम का मूर्तिमान् रूप है। मानों क्षेत्र-लक्ष्मी का जगमग दर्शन रास के रूप में किसान को मिलता है।

चित्र ३—यह चित्र गोरखपुर से १४ मील दक्षिण में स्थित सोहगौरा स्थान से प्राप्त ताम्रपट से लिया गया है। इसमें दो कोष्ठागार या अन्न के
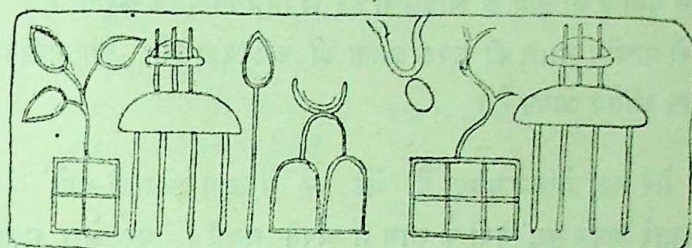
चित्र ३

बृहत् भांडार दिखाए गए हैं। अन्न की राशि खेत से उठकर कोठारों में भरी जाती थी। ये दो राजकीय कोठार हैं। ताम्रपट्ट में लिखा है कि दुर्भिक्ष-निवारण के लिये राज्य की ओर से ये कोठार सदा अन्न से भरपूर रखे जाते थे। लेख मौर्यकालीन (विक्रम से लगभग चौथी शताब्दि पूर्व) का माना गया है। इसमें श्रावस्ती के महामात्रों को आज्ञा दी गई है कि अकाल के समय इन अन्न-भांडारों को प्रजा में वितरण के लिये खोल दिया जाय। राज्य की ओर से प्रजाओं के भरण-पोषण के लिये जो दूरदर्शिता बरती जाती थी, श्रावस्ती के ये कोष्ठागार उसके चिरंजीवी दृष्टांत हैं।

महास्थान (बोगरा जिला, पूर्वी बंगाल) से मिले हुए एक दूसरे अभिलेख में, जो विक्रम पूर्व लगभग चौथी शताब्दि का है, दुर्भिक्ष के समय ऐसे ही कोष्ठागारों के खोले जाने का उल्लेख है। लिखा है—'पुंड्र नगर के महामात्र इस आज्ञा का पालन कराएँगे। संवंगीयों के उपभोग के लिये धान दिया गया है। इस दैवी विपत्ति (दैवात्ययिक) के समय नगर पर जो घोर अन्न-संकट आया है उससे पार उतरना चाहिए। जब सुभिक्ष होगा तब कोष्ठागार फिर धान से और कोष गंडक मुद्राओं से भर दिए जायँगे।' (ए० इं० २१।८५)।

———

धनिय गोप के उद्गार

(पाली सुत्तनिपात से)

धनिय नाम का गोप गार्हस्थ्य जीवन के सरल सुखों की प्राप्ति के कारण निश्चिंत बना हुआ वृष्टि के अधिष्ठाता इंद्र से निर्भयतापूर्वक कहता है। उसके कथन से प्राचीन भारत की कृषक जनता की कर्मण्यता और आत्मविश्वास का एक चित्र सामने आता है।

१

मेरे यहाँ भोजन यथेष्ट है, मेरे घर में दूध देनेवाली गायें बँधी हैं। नदी-किनारे अपने कुटुंबियों के साथ मैं अपने घर हूँ। घर मेरा भली भाँति छाया हुआ है। उसमें प्रज्वलित अग्नि विद्यमान है।

हे देव, तुम जितना चाहो, बरस लो।

२

न यहाँ मक्खियाँ हैं, न मच्छर। मेरे कछार में गायों के लिये हरी घास लहरा रही है। वहाँ चरती हुई मेरी गायें वर्षा का वेग सहने में समर्थ हैं।

देव, तुम जितना चाहो, बरस लो।

३

मेरी गोपी का मन शुद्ध और मुझमें अनुरक्त है। बहुत दिनों से हम दोनों सुखपूर्वक साथ रह रहे हैं। उसके विषय में मैंने कभी कोई अनुचित बात नहीं सुनी।

देव, तुम जितना चाहो, बरस लो।

४

मैं अपनी ही कमाई से अपना भरण-पोषण करता हूँ। मेरे पुत्र और मेरी पुत्रियाँ नीरोग और स्वस्थ हैं। उनके संबंध में भी मैंने कोई अनुचित बात नहीं सुनी।

देव तुम, जितना चाहो, बरस लो।

५

मेरा गोठ बछड़े-बछियों से भरा है। गाभिन गायें भी उसमें हैं। गोपति वृषभ भी विद्यमान है।

देव, तुम जितना चाहो, बरस लो।

६

गायों के खूँटे दृढ़ता से गड़े हुए हैं। मूँज की बटी हुई रस्सियाँ नई और पोढ़ी हैं। गायें उन्हें तोड़ नहीं सकतीं।

देव, तुम जितना चाहे, बरस लो।*

---

* मूल पाली के श्लोक, सुत्तनिपात, उरगवग्ग, धनियसुत्त से—

१—पक्कोदनो दुद्धखीरोऽहमस्मि,
(इति धनियो गोपो) अनुतीरे महिया समानवासो,
छन्ना कुटि, आहितो गिनि,
अथ चे पत्थयसी पवस्स देव।

२—अंधकमकसा न विज्जरे
(इति धनियो गोपो) कच्छे रूळह तिणे चरन्ति गावो,
वुट्ठिं पि स हेय्यु मा गतं
अथ चे पत्थयसी पवस्स देव।

३—गोपी मम अस्सवा अलोला
(इति धनियो गोपो) दीघरत्तं संवासिया मनापा,
तस्सा न सुणामि किञ्चि पापं
अथ चे पत्थयसी पवस्स देव।

४—वेतनभतोऽहमस्मि
(इति धनियो गोपो) पुत्ता च मे समानिया अरोगा,
तेसं न सुणामि किञ्चि पापं
अथ चे पत्थयसी पवस्स देव।

५—अत्थिवसा, अत्थि धेनुपा
(इति धनियो गोपो) गोधरणियो पवेनियो पि अत्थि।
उसभो पि गवम्पती च अत्थि
अथ चे पत्थयसी पवस्स देव।

६—खिला निखाता असम्पवेधी
(इति धनियो गोपो) दामा मुञ्जमया नवा सुसण्ठाना।
न हि सक्खिन्ति धेनुपापि छेत्तुम्
अथ चे पत्थयसी पवस्स देव।

——

समुद्रगुप्त और चंद्रगुप्त की मुद्राओं के जयोदाहरण

[लेखक—श्री वासुदेवशरण अग्रवाल]

गुप्त सम्राटों ने जो असंख्य सुवर्ण-मुद्राएं प्रचलित कीं उनमें से अनेक आज भी उपलब्ध हैं। उनसे उस युग की हिरण्य-संपत्ति सूचित होती है। तत्कालीन ललित भवनों में संचरणशील लक्ष्मी के पादन्यास की तरह ये मुद्राएँ सुवर्णयुग के चित्र को साक्षात् हमारे सम्मुख खींच देती हैं।

गरुत्मदंक (गुप्तों की राजमुद्रा)

(यह आकृति भीतरी गाँव से प्राप्त मुद्रा से ली गई है)

जय-स्तंभों पर सम्राटों ने अपनी विजय के जो उदार प्रबंध उत्कीर्ण कराए, मुद्राओं पर उन्हीं के संक्षिप्त रूप उपलब्ध हैं। मुद्राओं पर जो

जयोदाहरण या जय का बखान करनेवाले विरुद हैं, वे सम्राटों की विक्रमशालिनी महिमा के छोटे सूत्रों की तरह हैं।
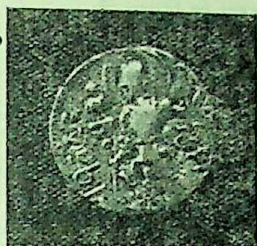
समुद्रगुप्त

१. उत्पताक भाँति*—

चित—समरशतविततविजयो जितरिपुरजितो दिवं जयति। पट—पराक्रमः।

यह सम्राट् की सबसे पहली मुद्रा है। इसके द्वारा उसने अपने पराक्रम की पताका फहराई है, इसी कारण इस मुद्रा की 'उत्पताक' संज्ञा चरितार्थ है।

मुद्रा के पृष्ठ पर अब तक 'पराक्रम' अंकित था। अभी हाल ही में नर्मदा की शाखा वेदा नदी के तट पर स्थित बमनाला गाँव (परगना भीखम गाँव, रियासत इंदौर) से प्राप्त गुप्त स्वर्ण-मुद्राओं में समुद्रगुप्त की एक उत्पताक भाँति की मुद्रा पर 'श्रीविक्रमः' विरुद भी प्राप्त हुआ है। वस्तुतः सर्वप्रथम समुद्रगुप्त ने ही समर शतों में विजय का वितान करके विक्रम के सत्र का प्रारंभ किया था।

इस मुद्रा के चित-दाँव सम्राट् उदीच्यवेष में चोलक (कोट) और सलवार पहने हुए हुताग्नि मुद्रा में (वेदि पर अग्न्याहुति डालते हुए) दिखाए गए हैं। उनके वाम हस्त में विजय-पताका और दक्षिण ओर गरुडध्वज अंकित है। पट दाँव, लक्ष्मी की मूर्ति है।

---

* उत्पताक भाँति = स्टैंडर्ड टाइप, उत्पताक संज्ञा रघुवंश २।७४ से ली गई है। अँगरेजी 'टाइप' शब्द के लिये 'भाँति', 'क्लास' के लिये बाना (सं० वर्णक) और 'वैराइटी' के लिये 'उपभेद' शब्द हैं। Obverse= चित। Reverse पट।

२. धनुर्धर भाँति (आर्चर टाइप)—

चित—समुद्र अप्रतिरथो विजित्य क्षितिं सुचरितैर्दिवं जयति। पट—अप्रतिरथः।

यह गुप्तों की प्रिय मुद्रा है। कालिदास ने लिखा है—

क्षितावभूदेकधनुर्धरोऽपि सः। रघु० ३।३१

धनुर्भृत् शब्द का कवि ने प्रयोग किया है (रघु० २। ११; ३।३८, ३९)। स्कंद गुप्त ने अपने आपको धनुर्धर मुद्रा पर अपने लिये 'सुधन्वी' विशेषण दिया है। गुप्तों ने अपने पराक्रम का विस्तार करते हुए जिस 'जैत्र धनु' को अधिज्य किया था उसी का प्रतिरूप इस मुद्रा पर है। 'अप्रतिरथः' विशेषण भी सार्थक है। दिग्विजयी रघु के लिये कवि ने लिखा है—

'गतिर्विजय्ने न हि तद्रथस्य' एवं 'दिगन्तविश्रान्तरथो हि तत्सुतः' (३।४०)

३. राजदंपती या चंद्रगुप्त कुमारदेवी भाँति—

चित—चंद्रगुप्त कुमारदेवी या श्री कुमारदेवी। पट—लिच्छवयः।

राजा-राज्ञी भाँति की यह मुद्रा समुद्रगुप्त ने अपने माता-पिता के यश को मूर्तिमान् करने के लिये प्रचलित की थी। इस पर धर्मपत्नी सहित सम्राट् की प्रतिकृति अत्यंत सुंदर है। रघुवंश के पहले और दूसरे सर्गों में राजा-राज्ञी का जो चरित्र है वह चंद्रगुप्त-कुमारदेवी का स्मारक है। इन सर्गों में सर्वत्र 'उभौ राज-दंपती' (रघु० २।१८; २।७०) का आदर्श है। पहले सर्ग में (१।३५-४६) रथ पर विराजमान राजदंपती के वर्णन में बारह श्लोकों में विशेषणों की लड़ी पाई जाती है। महिषीसखः (रघु० १।४८), धर्मपत्नी-सहितः, (२।७२) सपत्नीकः (१।८१), सपरिग्रहः (१।९२), परिग्रहद्वितीयः (१।९५), सभार्याय (१।५५) आदि विशेषण लिच्छवि-राजकुमारी कुमारदेवी की महिमा को सूचित करते हैं। इधर सुदक्षिणा भी मागधी और मगधवंशजा है। चंद्रगुप्त नाम में चंद्र पद निहित है। दिलीप को कवि ने 'राजेंदु' दिलीप इति राजेन्दुरिन्दुः क्षीरनिधाविव (१।१२) कहा है और चित्राचन्द्रमसोरिव (रघु० १।४६) कहकर राजदंपती का वर्णन किया है। जिस प्रकार ओषधिनाथ चंद्रमा के नवोदय का प्रजा अपने नेत्रों से पान करती हैं उसी प्रकार राजेंद्र दिलीप का उन्होंने अभिनंदन किया (२।७३)। मुद्रा पर भी राजा

और रानी के बीच में चंद्रमा की कला अंकित की गई है। दिलीप का गो-चारण भी एक प्रतीक की तरह जान पड़ता है। कवि ने स्वयं गो को भूमि से उपमा दी है—

जुगोप गोरूपधरामिवोर्वीम् (२।३)

साम्राज्य-विस्तार से पूर्व महाराजाधिराज चंद्रगुप्त पाटलिपुत्र के शासक थे। यही एक बड़ी पुरी उनके राज्य में थी (अनन्यशासनामुर्वी शशासैकपुरीमिव, १।३०)। आत्मानुरूपा और मगधवंशजा पत्नी को प्राप्त करके चंद्रगुप्त की महिमा विशिष्ट हुई, परंतु राज्य का विस्तार उनके पुत्र समुद्रगुप्त ने ही किया।

४. कृतांतपरशु भाँति—

चित—समुद्र कृतान्तपरशुर्जयत्यजितराजजेताजितः।

पट—कृतान्तपरशुः।

यह मुद्रा समुद्रगुप्त के भीम रूप की सूचक है। शिलालेखों की प्रशस्ति में भी कृतांतपरशु विशेषण प्रायः आया है।

५. काच भाँति—

चित—काचो गामवजित्य दिवं कर्मभिरुत्तमैर्जयति।

पट—सर्वराजोच्छेत्ता।

एक ओर हुताग्नि मुद्रा में उदीच्यवेषधारी सम्राट् चक्रध्वजा लिए हुए; दूसरी ओर पद्महस्ता पद्मासना लक्ष्मी खड़ी हैं। लक्ष्मी के बाएँ हाथ में ऋद्धि शृंग या विषाण (कार्न्यूकोपिआ) है। महाभारत में भी अभिषेक के लिये तोयपूर्ण विषाणों का उल्लेख है।

यह मुद्रा अब तक स्वयं समुद्रगुप्त की ही मानी जाती है। परंतु संभव है काच समुद्रगुप्त के एक भाई का नाम था जिसकी स्मारक ये मुद्राएँ हैं।

६. व्याघ्रपराक्रम भाँति—

चित—व्याघ्रपराक्रमः।

पट—राजा समुद्रगुप्तः।

यह भाँति बहुत कम उपलब्ध है। इसके एक ओर सम्राट् व्याघ्र के वध के लिये कर्णांत आकृष्ट धनुष से बाण चला रहे हैं। दूसरी ओर मकर-वाहिनी गंगा की सुंदर मूर्ति है। यह मुद्रा समुद्रगुप्त की वंग-विजय की

सूचक है। व्याघ्र और गंगा दोनों ही इसके प्रमाण हैं। वंगों की विजय में रघु ने उनको बलपूर्वक उखाड़कर प्रसभोद्धरण नीति का अनुसरण किया था (वंगानुत्खाय तरसा, ४।३६)।

७. उपवीणी भाँति—

चित—महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्तः।

पट—समुद्रगुप्तः।

इस मुद्रा पर एक ओर सम्राट् परिवादक रूप में वीणा बजाते हुए अंकित हैं। दूसरी ओर वेत्र के मुंडासन पर लक्ष्मी जी स्थित हैं। प्रयाग-प्रशस्ति में कहा गया है कि गांधर्व कला में समुद्रगुप्त के वैदग्ध्य को देखकर नारद और तुंबुरु भी लज्जित होते थे (निशितविदग्धमतिगान्धर्वललितैर्व्रीडितत्रिदशपति-गुरुतुम्बुरुनारदादेः)। इस मुद्रा को गांधर्व भाँति की मुद्रा भी कह सकते हैं।

८. अश्वमेध भाँति—

चित—राजाधिराजः पृथिवीमवित्वा दिवं जयत्यप्रतिवार्यवीर्यः।

पट—अश्वमेधपराक्रमः।

यह मुद्रा समुद्रगुप्त की दिगंत-विजय की पूर्णाहुति को सूचित करती है। इस पर एक ओर यूप के समक्ष भव्याकृति अनर्गल होम-तुरंग खड़ा हुआ है। दूसरी ओर महिषी की प्रतिकृति है। कालिदास ने दिलीप के अश्वमेध का वर्णन करते हुए महाक्रतु अश्वमेध के अनर्गल तुरंग उत्सर्ग का उल्लेख किया है (३।२९) और अश्व को अश्वमेध का श्रेष्ठ साधन (अग्र्यांग, ३।४६) कहा है।

अश्वमेध राष्ट्रीय विस्तार का सूचक है। बाह्य जगत् को दिगंत तक अपने वश में लाने का पराक्रम जिस युग में किया गया वही अश्वमेध का युग था।

शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—

प्रजापतेरक्ष्यश्वयत्। तत् परापतत्। ततोऽश्वः समभवत्। यदश्वयत् तदश्वस्याश्वत्वम्। (श० १५।३।१।१)

'प्रजापति की आँख फूली। वह बाहर निकली। उससे अश्व हुआ। वह जो फूलना था, यही अश्व का अश्वपन है (अश्व में भी वही फूलनेवाली श्वि धातु है।)'

इस अवतरण का क्या अर्थ है? अश्व विराट् का नाम है। विराट् बनने को ही फूलना कहा जाता है। प्रजापति केंद्र बिंदु की संज्ञा है। उस

गुप्त-साम्राज्य के संस्थापक परमभट्टारक महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्त
(उपवीणी भाँति की मुद्रा से ली हुई प्रतिकृति)

केंद्र में जब बाहर की ओर देखने की आँख उत्पन्न होती है तब वह केंद्र बढ़कर बाहर की ओर फूलता है। यह फूलना ही प्रजापति का विराट् भाव, या केंद्र का वृत्त रूप में बढ़ना है। जो फूल गया, अपने केंद्र से फूलकर बाहर की ओर फैला, वही अश्व था। प्रजापति की तरह केंद्र में बैठे हुए राष्ट्र की आँख फूली, उसके चातुर्दिश दर्शन का विस्तार होने लगा। चारों ओर को बढ़नेवाली उस आँख या चक्षुष्मत्ता से राष्ट्र का स्वरूप विराट् हुआ। चूँकि वह फूला और फैला, इसी लिये उसे सांकेतिक निरुक्त की भाषा में 'अश्व' कहा जाता है।

तांड्य ब्राह्मण (२१।४।२) में इतना और कहा है कि उस फूलकर गिरी हुई आँख को अश्वमेध के द्वारा देवों ने फिर अपनी जगह रख दिया (तद्देवा अश्वमेधेन प्रत्यदधुः*)। बिना अश्वमेध के संपादन के फैला हुआ राष्ट्र अपने काम का नहीं होता। जो अपनी शक्ति और अधिकार से बाहर है वह अमेध्य है। उसे अपने शासन की परिधि में लाना ही मेध्य करना है। जो वस्तु हमारे जीवन की परिधि के अंतर्गत आ जाती है वही हमारे लिये मेध्य होती है। शेष अमेध्य है। राजा के लिये राष्ट्र का विस्तार भाव अमेध्य है। जब उसे वह अपने शासन की परिधि में लाता है तब वह मेध्य भाव से युक्त होता है। शतपथ में कहा है कि जो अश्व है वह अमेध्य और अपूत है (अपूतो वा एषोऽमेध्यो यदश्वः, १३।१।१।१)। अपूत को पूत करना, अमेध्य को मेध्य बनाना ही राष्ट्र की फूली हुई आँख का अश्वमेध यज्ञ है। पृथिवी का जो अंश, ऐश्वर्य का भाग, संस्कृति का क्षेत्र, अपने अधिकार में लाकर आत्मवश्य कर लिया जाता है वही मेध्य या पवित्र या स्पृश्य बन जाता है।

गुप्त-युग में इस अश्वमेध-भावना का ओजस्वी उदय हुआ। सम्राटों ने विक्रम की महिमा से समुद्र तक पृथिवी को अपने शासन में लाने (आसमुद्रक्षितीश) और स्वर्ग तक अपना रथ ले जाने (आनाकरथवर्त्म) के आदर्शों को अपनाया। चार समुद्रों की मेखलावाली पृथिवी का एकछत्र शासन—एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं—उनका ध्येय बना। भारत और उसके

* और भी देखिए जैमिनीय ब्रा० २।२६८; तैत्तिरीय संहिता (५।३।१२।१)।

बाहर के द्वीपांतरों में राष्ट्र की शक्ति फैली; अष्टादश द्वीपों में यश के यूप स्थापित हुए (अष्टादशद्वीपनिखातयूपः)। राष्ट्र का यश पहाड़ों पर चढ़कर और समुद्रों को लाँघकर सब दिशाओं में फैलने लगा, जैसा कवि ने अपने युग के आदर्शों को मूर्तिमान् करते हुए लिखा है—

आरूढमद्रीनुदधीन् वितीर्णं भुजङ्गमानां वसतिं प्रविष्टम् ।
ऊर्ध्वं गतं यस्य न चानुबन्धि यशः परिच्छेत्तुमियत्तयालम् ॥ (रघु० ६।७७)

'पर्वतों और सागरों की सीमाओं के पार वह यश फैला। पाताल और आकाश में भी वह छा गया। उस यश की कोई इयत्ता न थी।' सम्राटों के बाहुबल का जयोदाहरण और राष्ट्र का अनुबंधी यश उस समय प्रत्येक क्षेत्र में जिस प्रकार विस्तृत हुआ वह रोमांचकारी कथा है। समुद्रगुप्त ने राष्ट्र के संवर्धन और विस्तार के लिये अश्वमेध किया। 'श्रीवैं राष्ट्रमश्वमेधः' (श० १३।२।९।२)—राष्ट्र की श्री ही अश्वमेध यज्ञ है। 'सब यज्ञों में तेजस्वी, ऊर्जस्वान्, प्रतिष्ठित, अतिव्याधी, विधृत, सुक्लृप्त और दीर्घ फल से युक्त जो यज्ञ है वही अश्वमेध है।' अश्वमेध का भाव क्षीण होने से राष्ट्र के स्वरूप का भी संकोचन होने लगता है। सम्राट् ने दंडनीति और सुशासन का जो यूप राष्ट्र में प्रतिष्ठित किया, उसके नियमन में समस्त राष्ट्र आकर बँध गया। यही यूप के सम्मुख खड़ा हुआ होमकाश्व है।

अपने ही केंद्र में विकास और परत्र विस्तार इन दोनों के साथ राष्ट्ररूपी अनर्गल अश्व को यूप में नियमित कर दिया गया। यही सम्राट समुद्रगुप्त का अश्वमेध महायज्ञ था।

चंद्रगुप्त

चंद्रगुप्त की मुद्राओं पर विरुदों की विशेषता 'विक्रम' उपाधि है। श्रीविक्रम, विक्रमार्क, विक्रमादित्य सिंहविक्रम, अजितविक्रम—इन विरुदों में विक्रम की ध्वनि गूँजती है। यहाँ केवल संक्षेप से उन जयोदाहरण-सूत्रों का उल्लेख किया जाता है।

१. धनुर्धर भाँति की मुद्रा—

चित—चन्ददेव श्रीमहाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तः।

पट—श्रीविक्रमः।

इसी भाँति में एक बानक ऐसा है जिसमें सम्राट् निषंग से बाण निकालते हुए दिखाए गए हैं।

नृपतिर्निषङ्गादुद्धर्तुमैच्छत् प्रसभोद्धृतारिः (२।३०)।
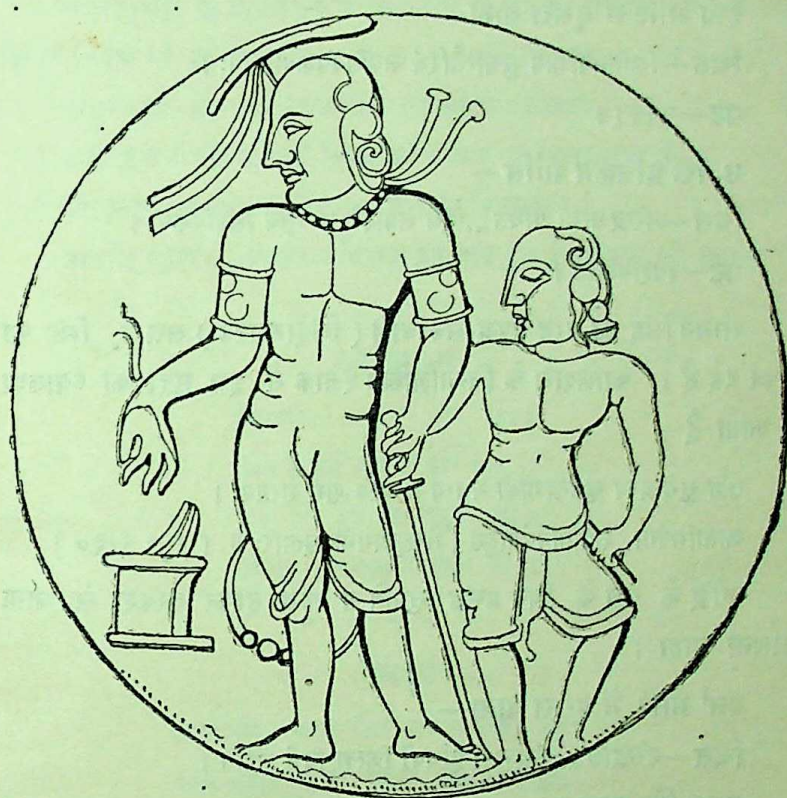
महाराजाधिराज चंद्रगुप्त विक्रमादित्य की हुताग्नि मुद्रा

२. भद्रासन भाँति (Couch Type)—केवल दो नमूने अब तक प्राप्त हुए हैं।

चित—(भद्रासन पर उपविष्ट सम्राट्।) देव श्रीमहाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तस्य।

भद्रासन के नीचे 'रूपाकृती' विशेषण है।

पट—श्रीविक्रमः।

३. छत्र भाँति—एक ओर सम्राट् और उनके ऊपर शशिप्रभ पद्मातपत्र-रूपी छत्र उठाए हुए वामन, और दूसरी ओर पद्मासना लक्ष्मी।

चित—महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तः।

पट—विक्रमादित्यः।

इसी भाँति में दूसरा बाना—

चित—क्षितिमवजित्य सुचरितैर्दिवं जयति विक्रमादित्यः।

पट—पूर्ववत्।

४. सिंहविक्रम भाँति—

चित—नरेन्द्रचन्द्रः प्रथित...दिवं जयत्यजेयो भुवि सिंहविक्रमः।

पट—सिंहविक्रमः।

सामने सिंह की तरह प्रवृद्ध सत्त्ववाले (सिंहोरुसत्त्व) सम्राट् सिंह का वध कर रहे हैं। कालिदास के निम्नलिखित श्लोक में इस मुद्रा की व्याख्या पाई जाती है—

ततो मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रगामी वधाय वध्यस्य शरं शरण्यः।
जाताभिषंगो नृपतिर्निषंगादुद्धर्तुमैच्छत्प्रसभोद्धृतारिः॥ (रघु० २।३०)

मृगेंद्र के वध के लिये प्रचंड नृपति ने क्रुद्ध होकर तरकश से बाण निकालना चाहा।

इसी भाँति में दूसरा बाना—

चित—नरेन्द्रसिंह चन्द्रगुप्तः पृथिवीं जित्वा दिवं जयति।

पट—सिंह चन्द्रः।

तीसरा बाना—

चित—देव श्रीमहाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तः।

पट—श्रीसिंहविक्रमः।

इसी भाँति में एक चौथा बानक भी है, जिसका केवल एक ही उदाहरण अभी तक उपलब्ध हुआ है (लखनऊ संग्रहालय में सुरक्षित)। इसमें सामने की ओर सीधे हाथ से तलवार उठाए हुए (उद्यतकृपाणपाणि) सम्राट् सिंह का वध कर रहे हैं।

५. अश्वारोही भाँति—एक ओर अश्वारोही सम्राट् और दूसरी ओर मुंडासन पर देवी।

चित—परमभागवत महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तः।

पट—अजितविक्रमः।

मालव और सुराष्ट्र-विजय के उपलक्ष्य में चंद्रगुप्त ने उन प्रांतों के लिये चाँदी के सिक्के भी ढलवाए थे। उन पर पटदाँव इस प्रकार लेख है—

परमभागवत-महाराजाधिराज-श्रीचन्द्रगुप्त-विक्रमादित्यस्य।

इसी लेख में 'विक्रमांक' विरुद का प्रयोग भी किया गया है—

श्रीगुप्तकुलस्य महाराजाधिराज-श्रीचन्द्रगुप्त-विक्रमांकस्य।

अर्थात् गुप्तवंशी महाराजाधिराज श्री चंद्रगुप्त विक्रमांक की मुद्रा।

कालिदास

चिरकाल रसाल ही रहा।
जिस भावश कवींद्र का कहा॥
जय हो उस कालिदास की।
कविता-केलि-कला-विलास की॥

मेघदूत

आदिकवि, व्यास और भासादिक हेतु बहु
करके प्रयास थकी प्यारी कल्पना प्रभूत;
आकर तुम्हारे मनोमन्दिर में कालिदास,
पाकर विराम वह सोई प्रेम पुण्याहूत।
तब उसको भी एक स्वप्न दिखलाई पड़ा
छोटा-सा परंतु बड़ा सुंदर सरस पूत;
चित्र था विचित्र तड़ित्तूलिका से चित्रित सा,
वह था अकृत्रिम तुम्हारा यही 'मेघदूत'।

—मैथिलीशरण गुप्त

भारत का विदेशों के साथ प्रणिधि-संबंध

प्राचीन भारतवर्ष के चातुर्दिश या अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण के अंतर्गत पश्चिम में रोमन साम्राज्य से लेकर पूर्व में चीन साम्राज्य तक के देश सम्मिलित थे। इन देशों के साथ समय समय पर भारतवर्ष का प्रणिधि-संबंध लगभग दो सहस्र वर्षों तक जारी रहा। इन दूत-मंडलों की एक अतिसंक्षिप्त तालिका यहाँ प्रस्तुत की जाती है। इस सामग्री के आधार पर भारतवर्ष की चातुर्दिश सजगता का सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

१—सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य के दरबार में वि० पू० २४६ (ई० पू० ३०३) में सेलेउक जयंत (सिल्यूकस नाइकेटर) के द्वारा भेजा हुआ राजदूत मेगास्थने आया।

२—सम्राट् बिंदुसार के दरबार में ग्रीक शासक अंतियोक त्रातार (ऐंटिओकस सोटेर) के द्वारा भेजा हुआ दूत डाइमेकस लगभग २२३ वि० पू० (२८० ई० पू०) में आया।

३—मौर्य-सम्राट् अशोक के दरबार में मिस्र के तुरमय (टालेमी फिला-डलफस) द्वितीय के द्वारा भेजा हुआ राजदूत आया।

४—अशोक के द्वारा भेजा हुआ प्रणिधि-मंडल सीरिया तथा पश्चिमी एशिया के शासक अंतियोक (ऐंटिओकस) द्वितीय (२६१-२४६ ई० पू०) के यहाँ गया।

५—अशोक के द्वारा भेजा हुआ प्रणिधि-मंडल मिस्र के शासक तुरमय (टालेमी) द्वितीय (२८५-२४७ ई० पू०) के यहाँ गया।

६—मेसीडोनिया के शासक अंतिकिन (ऐंटिगोनस गोंटस, ई० पू० २७७-२३९) के दरबार में अशोक के द्वारा भेजी हुई मंडली का नेता महा-रक्षित गया।

७—उत्तर अफ्रीका के शासक मग (मोगस, ई० पू० २८५-२५८) के यहाँ अशोक के द्वारा भेजा हुआ प्रणिधिमंडल गया।

८—यपरस के शासक अलिकसुंदर (अलेक्जेंडर, ई० पू० २७२-२५८) के दरबार में अशोक का दूत-वर्ग गया।

९—अशोक के द्वारा भेजी हुई धर्म-मंडली महेंद्र गुप्त और संघमित्रा के नेतृत्व में सिंहल (लंका) गई।

१०—अशोक के द्वारा भेजे हुए शोण और उत्तर सुवर्णभूमि (बर्मा) को गए तथा मध्यम कश्यप हैमवत प्रदेश (नेपाल) में भेजे गए।

११—शुंगवंशी आर्द्रक (काशीपुत्र भागभद्र) के दरबार में वि० पू० १०३ (१६० ई० पू०) के लगभग तक्षशिला-प्रदेश के यवन शासक अंतिअलिकद का भेजा हुआ परम भागवत हेलिओदोर नामक राजदूत आया, जिसने बेसनगर में गरुडध्वज स्थापित किया।

१२—भारतीय प्रणिधि-मंडल रोम सम्राट् अगस्तस के दरबार में उपहार लेकर लगभग सं० ३६ (२१ ई० पू०) में गया।

१३—चीन की अनुश्रुतियों के अनुसार, चीन-सम्राट् होती के समय (८९-१०५ ई०) में भारतीय राजदूत चीन गए।

१४—सिंहल के शासक का भेजा हुआ दूत ई० ४१-५४ के बीच रोम-सम्राट् क्लौडिअस (Clodius) के दरबार में गया।

१५—मिलिंदपन्ह के अनुसार, चीन-सम्राट् हिवंती के दरबार में महा-क्षत्रप रुद्रदामा के दूत उपहार लेकर सिंधु प्रांत से गए।

१६—लग० सं० १६४ (लग० १०७ ई०) में भारतीय राजदूत रोम-सम्राट् ट्रॉजन के दरबार में गए।

१७—लग० सं० १९५ (लग० १३८ ई०) में रोम-सम्राट् एंटोनिनस के दरबार में भारतीय राजदूत गए।

१८—लग० सं० २४७ (लग० १९० ई०) में अलेक्जैंड्रिया के शासक द्वारा भेजा हुआ पैंटेनस नामक राजदूत भारत आया।

१९—लग० सं० ३९३ (३३६ ई०) में कुस्तुंतुनिया के सम्राट् कांस्टैंटाइन के यहाँ भारतीय प्रणिधि-वर्ग गया।

२०—भारत, मालद्वीप और सिंहल से ३६१ ई० के लगभग जूलियन के यहाँ दूत गए।

२१—सं० ४८५ (४२८ ई०) में भारतीय राजदूत चीन पहुँचा। (चीन के सुंगवंश के अनुश्रुति-ग्रंथों के आधार पर)

२२—सं० ५३४ (४७७ ई०) में पश्चिमी भारत से एक राजदूत चीन-सम्राट् हिओ-वेन-ति के दरबार में पहुँचा।

२३—वि० ५५९ (५०२ ई०) में किउ-तो (संभवतः गुप्त-शासक ?) के द्वारा भेजा हुआ चु-लोत नामक राजदूत चीन गया।

२४—वि० ५६० (५०३ ई०) में दक्षिण भारत से एक राजदूत चीन-सम्राट् हू-स्यून-वु-ति के दरबार में गया।

२५—वि० ५६० (५०३ ई०) में मध्यभारत से एक राजदूत उपहार लेकर चीन गया।

२६—सं० ५६१ (५०४ ई०) में उत्तर और दक्षिण भारत से राजदूत चीन गए। दक्षिण भारत के दूत बोधिवृक्ष की शाखा और भगवान् बुद्ध का दाँत ले गए।

२७—सं० ५६४ (५०७ ई०) में दक्षिण भारत से चीन को राजदूत गए।

२८—सं० ५७२ (५१५ ई०) में दक्षिण भारत से चीन को दूत गए।

२९—सं० ५७५ (५१८ ई०) में उत्तरी वी वंश की चीन-सम्राज्ञी के द्वारा भेजा हुआ सुंग युन नामक दूत पश्चिमी भारत आया।

३०—सं० ५८७ (५३० ई०) में भारतीय राजदूत उपहार लेकर कुस्तुंतुनिया के सम्राट् जस्टिनियन के दरबार में पहुँचे।

३१—सं० ५९८ (५४१ ई०) में भारतीय राजदूत चीन-सम्राट् ताइ-त्सुंग के दरबार में गए।

३२—सं० ६२८ (५७१ ई०) में भारतीय राजदूत भेंट लेकर चीन गए (चीनी अनुश्रुति ग्रंथों में वर्णित)।

३३—वि० ६६४ (६०७ ई०) में सिंहल के हिंदू शासक के दरबार में चीन सम्राट् का भेजा हुआ दूत आया।

बदले में वि० ६६४ (६०७ ई०) सिंहल के हिंदू शासक ने चीन को दूत भेजा।
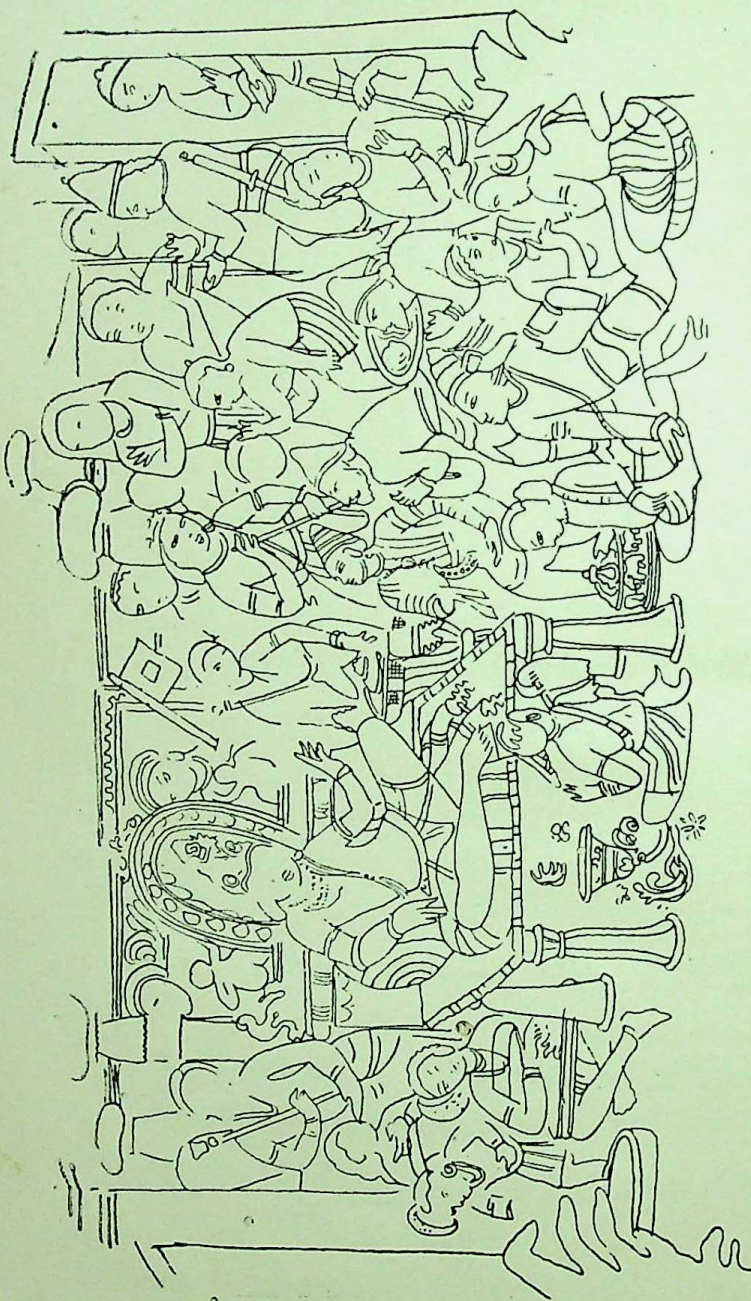
चालुक्य सम्राट् महाराजाधिराज परमेश्वर श्री पुलकेशी सत्याश्रय की राजसभा में ईरान के सासानी सम्राट् खुसरो परवेज द्वितीय (५९०-६२८, पहलवी नाम का संस्कृत रूप सुश्रव पर्वविजयी) का दूत-मंडल उपहार-सामग्री अर्पित कर रहा है। सम्राट् शरीर-भार को बाहु पर टेके हुए पर्यंकिका पर विराजमान है। तीन ईरानी कुछ झुके हुए (किञ्चिद-वनत पूर्वकाय मुद्रा में) सामने प्राभृत संभार भेंट कर रहे हैं। (यह दृश्य अजंता की चित्रशाला में चित्रित है)

३४—चालुक्य सम्राट् पुलकेशिन् द्वि० के दरबार में ईरान के सम्राट् खुसरो पर्वेज (५९५-६२५ ई०) का भेजा हुआ दूत आया। [अजंता का पहली गुफा में चित्रित।]

बदले में ईरान के उक्त सम्राट् के यहाँ पुलकेशी के द्वारा भेजा हुआ दूत गया।

३५—वि० ६९८ (६४१ ई०) में हर्ष का ब्राह्मण राजदूत चीन गया।

३६—वि० ७०२ (६४५ ई०) में चीन सम्राट् का प्रणिधि-वर्ग सम्राट् हर्ष के दरबार में आया।

३७—चीन के तंगवंशी सम्राट् चेंग-कुवन (६२७-५० ई०) के दरबार में भारतीय राजदूत गए।

३८—सं० ६८९ (६३२ ई०) में तिब्बत के शासक स्रोङ्-सन्-गंपो द्वारा थोन्-मि संभोट नामक व्यक्ति संस्कृत और बौद्ध साहित्य का ज्ञान प्राप्त करने के लिये भारत भेजा गया।

३९—चीन के शासक शेन शाउ के समय (६९०-९२ ई० में) भारतीय प्रणिधि-वर्ग उसके दरबार में गया।

४०—सं० ७०५ (६४८ ई०) में चीन-सम्राट् के द्वारा भेजा हुआ राजदूत वांग-ह्युएंत्से हर्षवर्धन के दरबार में आया।

४१—सं० ७६९ (७१२ ई०) में सिंहल के भारतीय शासक ने अपने दूत अरब के हज्जाज और खलीफा के पास भेजे।

४२—सं० ७७० (७१३ ई०) के लगभग भारतीय राजदूत सम्राट् तंग-सुअन-त्संग (७१२-७६२ ई०) के दरबार में गया।

४३—सं० ८५२ (७९५ ई०) में उत्कल के राजा शुभकरदेव ने चीनी सम्राट् को गंडव्यूह नामक बौद्ध ग्रंथ की निजी पुस्तकालय की प्रति अपने राजदूत के द्वारा भेजी।

४४—सं० ८२८ (७७१ ई०) में सिंध से एक राजदूत बगदाद के खलीफा अल्मंसूर के दरबार में गया और उसने भारतीय नक्षत्र-विद्या का अरबवालों को ज्ञान कराया।

४५—वि० ८६६ (८०९ ई०) में वैद्यराज माणिक्य बहला नामक वैद्य के साथ खलीफा हारूँरशीद के यहाँ गया और उसकी चिकित्सा कर उसे अच्छा किया।

४६—सुमात्रा और यवद्वीप के शासक शैलेंद्रवंशी बालपुत्रदेव ने मुंगेर के राजा देवपालदेव के पास दूत भेजकर नालंदा के लिये पाँच गाँव दान देने का ताम्रपट्ट प्राप्त किया।

४७—सं० १०११ (९५४ ई०) में दक्षिण भारत के पोलो-होआ नामक राजा के द्वारा भेजा हुआ प्रणिधि-मंडल चीन के शासक चि-त्संग (९५४-६० ई०) के यहाँ गया।

४८—लग० सं० १०९० (१०३३ ई०) में राजेंद्र चोल ने भेंट लेकर अपने राजदूत चीन भेजे।

४९—लग० ११३४ वि० (१०७७ ई०) में कुलोत्तुंग चोल ने अपना प्रणिधि-वर्ग चीन को भेजा।

५०—सं० १२८९ (१२३२ ई०) में मध्य एशिया से चंगेज खाँ के पोते बलका खाँ के द्वारा भेजे हुए राजदूत ईल्तुतमिश के दरबार में आए।

५१—लगभग सं० १३८७ (१३३० ई०) में मुहम्मद तुगलक ने इब्न-बतूता को अपना दूत बनाकर चीन भेजा।

५२—सं० १४६५ (१४०८ ई०) में आजमशाह ने चीन को भेंट लेकर दूत भेजे।

५३—सं० १४६६ (१४०९ ई०) में गयासुद्दीन ने चीन को दूत भेजे।

५४—सं० १४७२ (१४१५ ई०) में बंगाल के शासक शैफुद्दीन हमजा के दरबार में चीन से दूत-मंडल आया। बदले में हमजा ने सोने के पत्तर पर लिखी चिट्ठी एक जुर्राफे के साथ चीन-सम्राट् के यहाँ भेजी।

५५—लगभग सं० १५५७ (१५०० ई०) में गुजरात के शासक ने मिस्र को राजदूत भेजा।

———

ब्राह्मी लिपि का विकास और देवनागरी की उत्पत्ति

[लेखक—श्री बहादुर चंद छाबड़ा, एम० ए०, पी-एच० डी०]

प्रकृत विषय पर ब्यूलर की इंडिशे पेलिओग्राफी और ओझा की 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' आज भी प्रमाण-ग्रंथ माने जाते हैं, यद्यपि उनमें अब बहुत कुछ हेर-फेर की गुंजाइश है। उनके बाद कई विद्वान् फुटकर लेख लिखकर इस विषय पर प्रकाश डालते रहे हैं। साधारण हिंदी-प्रेमियों का ध्यान इस ओर आकर्षित करने एवं इस विषय में उनकी रुचि और जिज्ञासा पैदा करने के उद्देश्य से यह निबंध लिखा गया है। लिपि-विज्ञान-विशेषज्ञों के लिये उपयोगी वाद-विवाद एवं बारीकियों में न पड़कर सरसरी तौर पर भारतीय लिपि-विकास का एक सिंहावलोकन यहाँ किया गया है। अंत में भिन्न भिन्न लिपियों के बहुत से साक्षात् नमूने दिए गए हैं और उनका पाठ उद्धृत किया गया है। विशेष सुझाने लायक बातों को टिप्पणियों में दिया गया है। आशा है, इसके द्वारा इस विषय से अनभिज्ञ पाठकों को ब्राह्मी लिपि के क्रमिक विकास के समझने में आसानी होगी*।

---

* इस विषय में अधिक जानकारी के लिये निम्नलिखित ग्रंथों और निबंधों से सहायता ली जा सकती है—

१—जार्ज ब्यूलर, इंडिशे पेलिओग्राफी। मूल ग्रंथ जर्मन भाषा में है, जिसका अँगरेजी अनुवाद फ्लीट ने किया है। वह इंडियन एंटीक्वेरी की ३३वीं जिल्द १९०४ में छपा है।

२—रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा-रचित 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला'।

३—श्री शामा शास्त्री, ए थ्योरी ऑव् दी ओरिजिन ऑव् दी देवनागरी अल्फबेट। यह निबंध इंडियन एंटीक्वेरी की ३५वीं जिल्द में है (पृष्ठ २५३-२६७, २७०-२९० और ३११-३२१)। इस लेख का आधार तांत्रिक ग्रंथ हैं।

§ १

ब्राह्मी लिपि का विकास सृष्टि के अन्यान्य परिवर्तनशील पदार्थों की प्रगति के अनुरूप ही है। जैसे एक छोटा सा पौदा जलवायु की अनुकूलता पा बढ़ते बढ़ते कालांतर में एक बड़ा भारी पेड़ बन जाता है, वैसे ही भारत की प्राचीन ब्राह्मी लिपि साक्षर समाज में मान पा फैलते फैलते आज एक विराट् रूप धारण किए हुए है। यह पौदा इतना बढ़ा कि इसकी शाखाएँ भारत के बाहर भी कई मुल्कों में जा पहुँचीं, और वे आज भी हरी भरी हैं।

सौ सवा सौ साल पहले हम इस ब्राह्मी लिपि के विषय में प्रायः सर्वथा अनभिज्ञ थे। आधुनिक लिपियों के साथ इसका कोई संबंध है, इसकी हमें कल्पना भी नहीं थी। परंतु अब यह प्रमाणित हो चुका है कि आज भारत भर में जितनी भी लिपियाँ* देखने में आती हैं वे सब उस पुरानी ब्राह्मी से ही निकली हैं। किंच, लंका में; जावा, बालि, बोर्नियो आदि सुदूरपूर्व के द्वीपों में; इधर बर्मा, स्याम, कंबोडिया आदि देशों में; एवं उत्तर में तिब्बत, चीनी तुर्किस्तान आदि पहाड़ी देशों में जो लिपियाँ प्रचलित हैं, उनका भी मूल ब्राह्मी लिपि ही है।

४—श्री विष्णु सीताराम सुकथनकर, पेलिओग्राफिक नोट्स। यह लेख रामकृष्ण गोपाल भंडारकर स्मृतिग्रंथ में है (पृष्ठ ३०९-३२२) और इसमें नागरी की उत्पत्ति के काल पर प्रायः विमर्श किया गया है।

५—एच० आर० कापडिया—आउटलाइंस ऑव् पेलिओग्राफी, जर्नल ऑव् दी यूनिवर्सिटी ऑव् बांबे, आर्ट्स ऐंड लेटर्स सं० १२, जिल्द ६, मई १९३८, पृष्ठ ८७-११०।

६—एच० आर० कापडिया, ए डिटेल्ड एक्सपोजिशन ऑव् दी नागरी, गुजराती ऐंड मोडी स्क्रिप्ट्स, भंडारकार प्राच्य विद्यामंदिर की मुखपत्रिका, जिल्द १९, भाग ३ (अप्रैल १९३८) पृष्ठ ३८६-४१८।

७—श्री मुनि पुण्यविजयजी, भारतीय जैन श्रमण संस्कृति और लेखनकला—श्री साराभाई नवाबकृत जैन चित्रकल्पद्रुम के अंतर्गत भूमिका रूप में पृ० १-११८।

* यहाँ उर्दू आदि विदेशी लिपियों की गणना नहीं की गई।

यह सत्य है कि पहले पहले जब हम मूल ब्राह्मी लिपि का आज की किसी भी लिपि के साथ मिलान करते हैं तो हम उनमें तिल-ताड़ का सा अंतर पाते हैं और हमें आश्चर्य होता है कि ब्राह्मी की उन सीधी-सादी रेखाओं से आजकल की पेचीदा लिखावटें क्योंकर निकली होंगी। यह वैषम्य हमें मनुष्य की अपनी विकासलीला की याद दिलाता है। आखिर ब्राह्मी लिपि भी मनुष्य की ही कृति तो है*। मूल ब्राह्मी लिपि से ही देवनागरी, शारदा, बँगला, गुजराती, तेलुगु, तामिल आदि आधुनिक लिपियों के रूप एक क्रमिक विकास के परिणाम-स्वरूप विकसित हुए हैं। सरलता से जटिलता अथवा एकता से विविधता की ओर प्रवृत्ति ही इस लिपि-विकास की विशेषता जान पड़ती है।

§ २

भारतीय लिपियों के अनुसंधान के संबंध में प्रथमत: दो प्रश्नों पर बड़ा तर्क-वितर्क और खंडन-मंडन होता रहा और वह कई अंशों में अब भी जारी है—एक तो यह कि भारत में लेखन-कला का प्रचार कब से है, और दूसरा यह कि ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति कैसे हुई। इस विषय में दो मुख्य सिद्धांत हैं। एक पक्ष यह है कि भारत में विक्रमपूर्व सातवीं शताब्दि से पहले लोग लिखना जानते ही न थे और ब्राह्मी लिपि भारत में पश्चिमोत्तर के देशों की लिपियों के आधार पर बनाई गई। इसके विपरीत दूसरे पक्ष के विद्वान् यह मानते हैं कि भारतीय लोग लेखनकला से अति प्राचीन काल से परिचित थे और ब्राह्मी लिपि उनकी अपनी ही कृति है। पहले दल के मुखिया हैं ब्यूलर महाशय और दूसरे दल के अगुआ हैं ओझा जी। इनके मतों का विवरण इन्हीं के ग्रंथों में देखना चाहिए।

ब्यूलर और ओझा ने जब अपने ग्रंथ लिखे थे तब तक मोहंजोदड़ो और हड़प्पा की मुद्राएँ उपलब्ध नहीं हुई थीं। उन पर जो लिखावट के चिह्न हैं, वे यद्यपि अभी पढ़े नहीं जा सके हैं, फिर भी उनसे कम से कम यह तो सिद्ध होता है कि भारत में उस जमाने में लोग लिखना जानते थे। उक्त विद्वानों को

* प्राचीन ग्रंथों में ब्रह्मा को जो ब्राह्मी लिपि का निर्माता माना है वह केवल अर्थवाद है, अर्थात् वह स्तुति-परक है इतिहास-परक नहीं।

यदि इन अभिलिखित मुद्राओं का ज्ञान होता तो वे अवश्य इनसे भी कुछ परिणाम निकालते एवं कुछ और निर्णय देते। किंच, अभी यह कहना भी कठिन है कि मोहंजोदड़ो और हड़प्पा की लिखावटों का ब्राह्मी के साथ क्या संबंध है। उनका पहले यथावत् पढ़ा जाना आवश्यक है।

ओझा जी ने यद्यपि अपनी अकाट्य युक्तियों से यह सिद्ध कर दिया है कि भारत में लेखन-कला का प्रचार वैदिक युग से रहा है, परंतु उसमें एक दो बातें ऐसी हैं जो नहीं जँचतीं। एक तो यह कि अभी तक जो प्राचीन अभिलेख उपलब्ध हुए हैं उनमें सब से पहले प्राकृत भाषा के ही हैं। अभी तक एक अभिलेख भी संस्कृत भाषा का नहीं मिला जो विक्रमपूर्व तीसरी शताब्दि का हो। वैदिक काल के बाद ब्राह्मण-युग आया, फिर आरण्यक, उपनिषत् इत्यादि ग्रंथ लिखे गए, जो सब शुद्ध संस्कृत भाषा में हैं। उस समय का कोई शिलालेख या मिट्टी की मुद्रा मिलनी चाहिए जिससे उस युग का लिपि-ज्ञान प्रमाणित हो सके। दूसरे यह कि यावदुपलब्ध अभिलेखों में कुछ एक को छोड़कर अशोक के लेख ही प्राचीनतम ठहरते हैं, और उनकी लिपि के अक्षरों का आकार इतना सादा है कि वे उस लिपि के आरंभिक रूप ही हो सकते हैं। उनमें वह कृत्रिमता या बाँकापन नहीं मिलता जो एक दो शताब्दि बाद के लेखों में मिलना शुरू हो जाता है। हो सकता है कि अशोक-काल से पहले किसी और प्रकार की लिपि या लिपियों का प्रचार रहा हो और बाद में इस नई लिपि का निर्माण किया गया हो, जो अशोक काल में अभी आरंभिक दशा में ही थी। जो भी हो, अभी यह समस्या अपूर्ण ही है।

§ ३

उक्त लिपि की ब्राह्मी संज्ञा सब से पहले जैन ग्रंथों* में पाई जाती है। अशोक के लेख जिस लिपि में लिखे गए हैं वह ब्राह्मी ही है। आगे जो हमने

---

* एच० आर० कापड़िया, ए हिस्ट्री ऑव दी कनोनिकल लिटरेचर ऑव दी जैन्स, पृ० २२८-२९। इसमें 'समवायांग सूत्र' और 'पएणवणा' के अतिरिक्त और भी कई एक जैन ग्रंथों का हवाला दिया है जिनमें लिपियों के संबंध में उल्लेख मिलते हैं।

लिपियों के नमूने दिए हैं इनमें पहले फलक पर ब्राह्मी अक्षरों के रूप स्पष्ट हैं। इनसे पूरी वर्णमाला तो नहीं बन सकती, परंतु बहुत से वर्ण इनमें आ गए हैं। भाषा प्राकृत होने से ऋ, ऐ, औ आदि का अभाव है। किंतु बाद के लेखों से जिनकी भाषा संस्कृत-मिश्रित प्राकृत या शुद्ध संस्कृत है उक्त अभाव की बहुत कुछ पूर्ति हो जाती है, और साथ ही कई एक नए संयुक्त अक्षरों के रूप भी स्पष्ट हो जाते हैं, एवं अंकों के चिह्न भी मिलने लगते हैं।

वर्णमाला के क्रम से देवनागरी वर्णों के ब्राह्मी रूप निम्नलिखित हैं। ञ, ढ, श, ष के सिवा अन्य सब अक्षर पहले फलक में आ गए हैं—

अ आ इ उ ए ओ

क ख ग घ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण

त थ द ध न प फ ब भ म य र ल व श ष स ह

मात्राओं के संयोग से इनके जो रूप बनते हैं वे चित्र देखने से और साथ में पाठ पढ़ने से स्पष्ट हो जायँगे।

ऊपर दिए हुए वर्णों के रूप से लिपि की सरलता प्रत्यक्ष है। इनके साथ मात्राएँ जोड़ने का तरीका भी सादा है।

का पि पी पु सू के नो जहाँ मात्रा का चिह्न वर्ण के चिह्न के साथ ठीक नहीं जचता, वहाँ उसका स्थान थोड़ा इधर-उधर कर दिया गया है, कहीं कहीं वर्ण का चिह्न मात्रा के चिह्न का सहायक बन गया है वहाँ मात्रा का एकांश लुप्तप्राय हो जाता है। जैसे जि (अन्यथा इसे होना पड़ता)। जा णे आदि में मात्राओं के स्थान बदल दिए गए हैं।

ब्राह्मी के ये रूप विक्रमपूर्व तीन-चार शताब्दि से लेकर विक्रम-संवत् के आरंभ तक प्रायः ऊपर दिए गए नमूनों के अनुसार मिलते हैं, कुछ थोड़ा बहुत हेर-फेर होता रहा है।

आगे के तीन सौ वर्षों में प्रत्येक वर्ण के आकार-प्रकार में बहुत कुछ अंतर पड़ गया। घ, प, य आदि की लंबी रेखाएँ छोटी हो गईं। अक्षरों के सिर बन गए। मात्राएँ कुछ लंबी तिरछी और गोलाईदार हो गईं इत्यादि। इस युग के बहुत से लेख मिलते हैं जिनमें बहुलांशेन प्राकृत भाषा के हैं। उत्तर में क्षत्रपों और कुषाण राजाओं के लेख, एवं दक्षिण में इक्ष्वाकु और पल्लव राजाओं के लेख इस समय के हैं।

इससे आगे का युग वि० सं० ३००-६०० भारत का स्वर्ण-युग है, जिसमें सभी ललित कलाओं ने खूब उन्नति की। इस युग के लेखों की भाषा प्रायः संस्कृत और वह भी बहुधा पद्य में है। अक्षरों की लिखावट सुंदर है। इस युग की संस्कृति में गुप्त राजाओं का अधिक प्रभाव होने से हम इसे गुप्तकाल कहते हैं और इस समय की लिपियाँ भी प्रायः गुप्त लिपियाँ कहलाती हैं, जिनमें नागरी के आदि रूप मिलने लग जाते हैं। उत्तर में इन्हें गुप्तकालिक ब्राह्मी भी कहते हैं। बाद में इसी प्रकार दक्षिण में भी लिपियों की बनावट पर विशेष ध्यान दिया गया और उनमें सुंदरता लाने का यत्न किया गया। फलतः इसमें थोड़े-बहुत भेदवाली अनेक लिपियाँ मिलती हैं जिनकी संज्ञाएँ उनके आकार-विशेष के अनुसार रखी गईं। विदेशी विद्वानों ने उन्हें अँगरेजी नाम दिए थे जो आज भी व्यवहृत किए जाते हैं। एक लिपि के अक्षरों के सिरे त्रिकोण से हैं इन्हें नेल-हेडड अर्थात् शंकुशिरा कहा जाता है। कहीं यह त्रिकोण भरे हुए होते हैं और कहीं खाली। इस लिपि में लिखे गए लेख बहुत कम मिले हैं पर जो हैं वे अति सुंदर और स्पष्ट हैं। हाल ही में बनारस से एक ताम्रशासन मिला है जो इसी शंकुशिरा लिपि में है। इसमें एक शूरवंशीय राजा हरिराज और उसकी प्रधान महिषी अनंत-देवी का उल्लेख है*।

* श्री अहिभूषण चट्टोपाध्याय द्वारा प्रकाशित, बँगला की मासिक पत्रिका 'भारतवर्ष', कार्त्तिक १३५० (बंगाली संवत्), पृष्ठ ४०४-०५

दूसरे एक प्रकार की लिपि में अक्षरों के सिरे चौकोन हैं उन्हें बॉक्स-हेडड अर्थात् संपुटशिरा कहा जाता है। ये संपुट भी कहीं भरे हुए और कहीं खाली हैं। यह लिपि प्रायः वाकाटकों के लेखों में मिलती है। दक्षिण में पल्लववंशीय राजाओं के लेखों की लिपि को पल्लवग्रंथ नाम दिया गया है, कलिंग, और कदंब राजाओं के लेख भी प्रायः उसी प्रकार की लिपि में हैं।

यह वह युग था जब भारत के बाहर भी भारतीय संस्कृति और सभ्यता का प्रचार ज़ोरों पर था। सुदूरपूर्व में और चीनी तुर्किस्तान आदि प्रदेशों में भारतीय लिपियों का प्रचार इसी युग में हुआ।

इसके बाद उत्तर भारत में जो लिपियाँ हुईं उनमें बहुतों को कुटिला नाम दिया गया है। इसी से नागरी और शारदा आदि की उत्पत्ति मानी जाती है। इसके अक्षरों के रूप कुछ लचकदार होने के कारण इन्हें कुटिलाक्षर कहते थे*।

इधर दक्षिण में इसी काल में ब्राह्मी विकसित होते होते तेलुगु-कन्नड आदि लिपियों में परिणत हो रही थी।

§ ४

ब्राह्मी से नागरी लिपि का विकास कैसे हुआ, यह जानने से पहले हम वर्तमान नागरी के स्वरूप की थोड़ी समीक्षा करते हैं। इस लिपि को देवनागरी भी कहते हैं। पंजाब में शास्त्री और महाराष्ट्र में बालबोध एवं दक्षिण में नंदीनागरी भी इसके नाम हैं। कदाचित् शास्त्री, नंदीनागरी और देवनागरी संज्ञाओं से यह अभिप्राय हो कि इस लिपि में संस्कृत अर्थात् देववाणी लिखी जाती है। जो भी हो, हम यह समझकर कि इसमें हिंदी

---

* ब्यूलर ने इस संज्ञा के औचित्य पर आपत्ति की है, परंतु वह भ्रममूलक है। ओझा ने इसका औचित्य माना है, इससे पहले कनिंघम ने भी 'कुटिल' का अर्थ 'सुंदर' लेकर इस संज्ञा को समंजस ठहराया था। ए० इं०, १।७६; कनिंघम, पुरातत्त्व रिपोर्ट, १।३५२-५३; ओझा, प्राचीनलिपिमाला। ब्यूलर कुटिला न कहकर इसे अक्यूट-ऐंगिल्ड अर्थात् कुशाग्रकोणी कहते हैं।

लिखी जाती है इसकी समीक्षा करेंगे। इसकी भिन्न भिन्न संज्ञाओं पर विचार तत्तत् ग्रंथों में किया गया है।

हिंदी भाषा के उपयोग के अनुसार नागरी के कई अक्षर ऐसे हैं जो हिंदी में प्रयुक्त ही नहीं होते, जैसे ऋ, ॡ, ऌ आदि। और आवश्यकतानुसार कई नए अक्षर गढ़े गए हैं, जैसे ख़, ग़, ज़, फ़ जो उर्दू भाषा के शब्दों में आते हैं। इसके विपरीत कुछ उच्चारण ऐसे हैं जिनका द्योतक पृथक् चिह्न नहीं, जैसे फैजाबाद, लाहौर, यहाँ ऐ और औ का प्रयोग किया गया है, परंतु उच्चारण अर्ध ऐकार और अर्ध औकार का है; ऐश्वर्य और औदार्य में जैसा इनका उच्चारण है वैसा नहीं।

एक बात और है। आज हम यह समझे बैठे हैं कि आजकल जो नागरी लिपि का रूप है वह स्थायी है; पहले इसमें जितने परिवर्तन हुए सो हुए, अब इसका स्वरूप स्थिर हो चुका है; अब तो छापेखाने बन गए हैं, इससे परिवर्तन की कोई संभावना नहीं। किंतु यह मानना भूल है। इस संसार में सभी पदार्थ परिवर्तनशील हैं। परिवर्तन होता रहता है, हमें पता नहीं लगता। जब गुप्तकाल में ब्राह्मी का रूप विकसित होकर इतना सुंदर बन गया था तब भी लोग कहते होंगे—अब इसमें अदल-बदल नहीं हो सकता। उन लोगों ने पत्थरों पर खुदवाकर हमारे सामने वे नमूने रखे। तो भी हमें संतोष नहीं हुआ और कुछ न कुछ हम उनमें अपनी ओर से जोड़ते आए। पहले अक्षरों पर सिरे न थे, सो सिरे बाँधे। उन छोटे छोटे सिरों से संतोष न हुआ, तो उनके त्रिकोण बनाए, संपुट बनाए और फिर उन्हें लंबा और चपटा किया, फलतः आज वह नागरी में शिरोरेखा बन गई है। एक प को लेकर इसके विकार देखने पर वह कहाँ से कहाँ पहुँच गया मालूम होता है। आज चाहे यह छापेखाने में आकर स्थिर जान पड़े परंतु इसमें भी परिवर्तन होना शुरू हो गया है। यह देखा जाता है कि आजकल प्रायः लोग अक्षरों की शिरोरेखा नहीं लिखते। शायद हमने चक्र पूरा कर लिया है और अब वापिस ब्राह्मी की ओर मुड़ रहे हैं, सदियों के यत्न से जो शिरो-रेखा बनाई थी आज हम उसे छोड़ते जा रहे हैं।

शिरोरेखा-रहित लिखने से कितनी बचत हो जाती है। अब वैसी लिखावट चालू होती जा रही है। कालांतर में इसकी इतनी प्रसिद्धि होगी कि छापेखानेवालों को झख मारकर इसके नए टाइप बनाने पड़ेंगे। इसमें कोई दोष या हानि नहीं जान पड़ती। अभिप्राय यही है कि लिपि-परिवर्तन को कोई रोक नहीं सकता।

नागरी में कुल मिलाकर कितने वर्ण हैं इसमें भी बहुत कुछ मतभेद है। परंतु प्रयोग में जो वर्ण आते हैं वे सभी हिंदी-पाठकों को मालूम हैं। बारह-खड़ी और वर्णमाला में कई एक ऐसे अक्षर भी हम पढ़ते हैं जिनका प्रयोग नहीं होता। कइयों का प्रयोग संस्कृत शब्दों में ही होता है। नीचे हम साधारण वर्णमाला उद्धृत करते हैं—

अ आ इ ई उ ऊ ऋ ए ऐ ओ औ ं ः

क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त थ द ध न

प फ ब भ म य र ल व श ष स ह—

इनके अलावा ॐ क्ष त्र ज्ञ पृथक् चिह्न हैं। ॐ में तो आदि **ओ** का रूप है, आगे के तीन वास्तव में संयुक्ताक्षर हैं।

किंच, हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि कई एक अक्षरों के दुहरे रूप प्रसिद्ध हैं। दूसरे प्रकार के रूपों को जैन नागरी के रूप माना गया है*। परंतु आजकल छापेखानों में और लिखावट में दोनों का मिश्रित रूप से प्रयोग होता है। साधारण साक्षर समाज के लिये दोनों एक ही हैं, इच्छानुसार अ लिखें या ॲ।

§ ५

प्राय: यह माना जाता है कि नागरी की उत्पत्ति विक्रम संवत् की नवीं या दसवीं शताब्दि में हुई। इसका यही अभिप्राय है कि इस समय के लगभग प्राचीन ब्राह्मी क्रमश: विकसित होते होते ऐसी अवस्था पर आ पहुँची कि उसके

---

* भंडारकर प्राच्यविद्या-मंदिर की पत्रिका, जिल्द १६, पृष्ठ ४१३-४१८ पर दी हुई तालिकाएँ देखिए। इनमें जैन और अजैन नागरी का पूरा ब्योरा दिया है, साथ ही मिलान के लिये गुजराती की वर्णमाला भी दी है।

बहुत से अक्षर आज की नागरी के अक्षरों के समान हो गए। लिपियों के नमूनों पर टिप्पणी करते समय हमने जहाँ-तहाँ यह सुझा दिया है कि तत्तत् अक्षरों ने तीसरी-चौथी शताब्दि में ही नागरी का रूप धारण कर लिया था।

अ या अ—इसका आदिम रूप है । चित्रों में दिए गए नमूनों से इसके विकास पर प्रकाश पड़ता है। एक अवस्था ऐसी आई कि इसे ऐसा लिखा गया। तब से आगे इसी से अ और यदि ऊपर की रेखा केवल आधी रही तो अ, ये सभी रूप नमूने में मिलते हैं। इसी प्रकार अन्यान्य वर्णों के रूप भी मिलेंगे। सभी को यहाँ आलिखित करके दिखाना अभीष्ट नहीं। बुद्धिमान् पाठक स्वयं ढूँढ़ लेंगे। यहाँ केवल विशेष विशेष बातों पर ध्यान देंगे।

आ या आ—ऐसा प्रतीत होता है कि हम अब अ के आगे केवल आकार की मात्रा जोड़कर ही दीर्घ आ बनाते हैं। वास्तव में देखा जाय तो यही प्रवृत्ति आरंभ में भी थी। आकार की मात्रा शुरू में एक छोटी सी आड़ी रेखा थी जो वर्ण की दाहिनी बाजू के साथ जोड़ी जाती थी, जैसे (क, का)। ऊपर हमने यह भी बताया है कि कई एक वर्णों के साथ इसका स्थान कुछ नीचे-ऊपर भी किया जाता था, सो अकार में इसे मध्य में जोड़ा था किंच और और ब्राह्मी लेखों में इसको ऊपर भी जुड़ा पाते हैं जैसे इसके आगे जो इस मात्रा के रूप बने वे नमूनों से स्पष्ट ही हैं। आजकल का कन्ना ा उन्हीं का रूपांतर है।

इ या इ—ब्राह्मी की सारी वर्णमाला में यही एक वर्ण ऐसा है जिसका रूप रेखामय न होकर बिंदुमय था। इसका यह लक्षण बहुत ही विलक्षण है—केवल तीन बिंदु ∴ । किंच, इस वर्ण की लिपि का हठीलापन इससे जाना जा सकता है कि लगभग दो हजार साल तक इसने अपना

बिंदुमतीपन नहीं छोड़ा। ऊपर का बिंदु धनुहियाकार रेखा बन गया, फिर भी नीचे के दो बिंदु बने रहे । आगे चलकर बिंदु ऊपर और रेखा नीचे, और फिर, जैसा कि पाँचवें पट के चित्र-ग और चित्र-च से स्पष्ट है, इसका रूप करीब-करीब नागरी का सा बनने लगा।

ई या ई—इसका रूप भी आरंभ में बिंदुमय था। इसके लिये चार बिंदु थे । परंतु बाद में ऊपर नीचे के बिंदुओं की रेखा बन गई और रूप हो गया । आजकल तमिळ ई का रूप प्रायः ऐसा ही है, केवल मध्य की रेखा दुहरी की गई है और ऊपर शिरोरेखा है।

हम यहाँ प्रत्येक अक्षर के विकास की समीक्षा नहीं करते, किंतु कुछ एक विशेषताओं पर ध्यान दिलाकर पाठकों को उन लिपियों के नमूने दिखाते हैं जिससे वे विकास का क्रम स्वयं समझ सकेंगे।

ऋ, ॠ आदि के आरंभिक रूप बहुत कम मिले हैं*। इनकी मात्राओं के मिलते हैं, विशेषकर ऋकार मात्रा के।

ऌ, ॡ के रूप भी नहीं मिलते। केवल ऌकार की मात्रा का क्लृप्त आदि शब्दों में जहाँ-तहाँ प्रयोग मिलता है।

ए के उदाहरण बहुत मिलते हैं, और कई एक यहाँ दिए गए नमूनों में भी मिलेंगे। परंतु ऐ के उदाहरण कम हैं। इनकी मात्राओं में यह विशेषता पाते हैं कि जहाँ पहले ये पृष्ठमात्रा के रूप में प्रयुक्त होती थीं वहाँ बाद में ये शिरोमात्रा बन गईं। बँगला, तमिळ आदि लिपियों में अब भी पृष्ठमात्राओं का रिवाज है।

ओ औ में हमने मूल रूपों को भुला दिया है। अब केवल अकार के चिह्न पर उनकी मात्राओं के चिह्न लगाकर काम चलाते हैं। गुजराती में ए

---

* चीनी तुर्किस्तान और जापान में जो मध्ययुगकालिक भारतीय लिपि की वर्णमालाएँ मिली हैं वे पूर्णप्राय हैं और उनमें ऐसे ऐसे विरल प्रयोग वर्णों के रूप भी मिलते हैं।

और ऐ के विषय में भी यही बात है। शुरू शुरू में ओ के रूप मिलते हैं, परंतु औ के नहीं। ओझा जी का कहना है कि औ पहले पहल मंदसोर से मिले हुए यशोधर्मन् के वि० सं० ५८९ के शिलालेख में मिलता है*। तीसरे फलक के चित्र—क में जिस लेख का नमूना दिया है वह यशोधर्मन् के लेख से पहले का है और इसमें औ का प्रयोग मिलता है। नागरी में अब मूल ओ का रूप यदि मिलता है तो वह ॐ में है।

ङ में बिंदु बाद में आया।

द और ध में पहले के और बाद के रूपों में दिशा बदली गई है।

पहले के रूप हैं ɂ D। बाद में ये ૮ ◁ बने, और आगे रूपांतर।

बाकी के रूप इसी प्रकार चित्रों द्वारा स्पष्ट हो जायँगे।

चित्रों में दिए गए लेखांशों के पाठ और उनपर लिपि-संबंधी टिप्पणियाँ

फलक १ला—

चित्र—क :—

१ -न पियदसिन लाजिन वीसतिवसाभि-
२ -गाच महीयिते हिद बुधे जाते सक्य-
३ -डमी चा कालापित सिलाथभे च उस-
४ -वं जाते ति लुंमिनिगामे उबलि-

हुल्श, अशोक लेख पृ० १६४

चित्र—ख :—

१ -हेवं आह सडुवीसतिवसाभिसितस मे इ-
२ -लिक अलुने चकवाके हंसे नंदीमुखे
३ -ठिकमछे वेदवेयके गंगापुपुटके सं-
४ -ओकपिंडे पलसते सेतकपोते गाम-

---

* भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० ६४।

५ -दियति अजका नानि एडका च सूकली च ग-
६ -सिके वधि कुकुटे नो कटविये तुसे सजीवे नो
७ -झापयितविये जीवेन जीवे नो पुसितविये
८ -वुदसं पंनळसं पटिपदं धुवाये च अनुपोसथं
—हुल्श, अशोक लेख, पृ० १२५-१२६

चित्र—ग :—

१ इयं सासने भिखुसंघसि च भिखुनि-
२ आहा हेदिसा च इका लिपी तुफाकंतिकं
३ समेव उपासकानंतिकं निखिपाथ ते पि
४ विस्वंसयितवे अनुपोसथं च धुवाये
५ सासनं विस्वंसयितवे आजानितवे च
६ तुफे एतेन वियंजनेन हेमेव सवे-
—अशोक लेख, पृ० १६१-१६२

चित्र—घ :—

१ -यति]
२ -रं सातिरेके] तु खो संवछरे
३ -माना मुनिसा जंबुदीप [सि
४ -पोतवे कामं तु खो खुदकेन
५ -य] इयं सावणे सावापिते
६ -रठिती [के च इयं
—अशोक लेख पृ० १७५-१७६

फलक १ला—ब्राह्मी के प्राय: आरंभिक रूपों का दिग्दर्शन

चित्र-क :—य का रूप देखने योग्य है। मध्य की रेखा खूब लंबी है। परंतु क्य में देखिए इसे छोटा होना पड़ा। जि में इकार की मात्रा के रूप में आड़ी रेखा का अभाव है, केवल खड़ी रेखा से काम लिया गया है। भ के साथ इकार की मात्रा के योग से एक विचित्र रूप बन गया है—जैसे एक सीढ़ी हो। जा में आकार की मात्रा जोड़ने से पहले एक घुंडी सी बना दी है ताकि वह पृथक् दीख पड़े। परंतु चित्र-ग में जो ज़ा है उसमें यह बात नहीं, तो भी पढ़ने में वहाँ भी भ्रम नहीं होता। तीसरी

सतर में पहला अक्षर ङ है। इसके रूप में और भ के रूप में अंतर देखिए। ङ में नीचे जो खड़ी रेखा है उसकी दाहिनी ओर एक और खड़ी रेखा जोड़ने से भ बन जाता है। वं में जो अनुस्वार है वह व के कंधे पर है, परंतु लुं में इसे नीचे रखा गया है। नियम रूप से इसे अक्षर के ऊपर या कंधे पर आना चाहिए।

चित्र—ख :—यहाँ ङु और धु में उकार की मात्रा का रूप आड़ी रेखा से बना है जो प्रायः खड़ी रेखा से बनाया जाता है। चित्र—ग में जो धु है उसमें उकार की मात्रा को खड़ी रेखा से ही दिखाया है। क और र आदि अक्षरों के साथ इसे अगत्या आड़ी रेखा से ही दिखाना पड़ता है। छठीं सतर में कु को देखिए। खे में ख का रूप देखिए। इसमें दाईं ओर की रेखा के निचले सिरे पर घुंडी है जो कि चित्र—ग को खि और चित्र घ के खु और खो में स्पष्ट है, परंतु चित्र—ग की पहली सतर में जो दो बार खु आया है उसमें घुंडी एक वर्तुल में परिवर्तित हो गई है या यों कहो कि बिंदी का कंगन बन गया है— से । इसे विकास की पहली सीढ़ी समझो और आगे इत्यादि, जिससे नागरी के ख की उत्पत्ति ठीक समझ में आ सकती है। ठ और थ के रूपों में अंतर क्या है, केवल एक बिंदु, और दोनों इस चित्र में मिलते हैं। और यदि उस बिंदु के बजाय धनुष पर बाण की भांति एक खड़ी रेखा रख दें तो छ का रूप बन जाता है, ।

यह भी प्रस्तुत चित्र में मिलता है। चौथी सतर का पहला अक्षर ओ है। डे का रूप देखने लायक है। और फिर सू का। व्यंजन के ऊपर जैसे एक खड़ी रेखा इकार मात्रा और दो खड़ी रेखाएँ ईकार मात्रा की द्योतक हैं वैसे ही व्यंजन के नीचे एक खड़ी रेखा उकार मात्रा और दो खड़ी रेखाएँ

ऊकार मात्रा की व्यंजक हैं। यहाँ जो सू है वह बाद के किसी संस्कृत लेख में हो तो स्त भी पढ़ा जाए, परंतु लेख प्राकृत भाषा में है जिसमें संयुक्त अक्षरों का प्रायः अभाव है, सो यहाँ वैसा भ्रम नहीं उठता। आगे दूसरे पट के चित्र—ग में इन मात्राओं के क्रमिक विकास के आरंभिक रूप देखिए—श्रीमान्यूपः समुच्छ्रि(च्छ्रि)तः। प्रकृत चित्र में नो और पो में जो ओकार मात्रा है उसका मिलान चित्र-ग के पो और चित्र-य के खो और पो में की ओकारमात्रा से कीजिए। सातवीं सतर का पहला अक्षर **झा** है।

चित्र-ग : - यहाँ घ, फ और ह एवं स्त्रं के रूप दर्शनीय हैं। इस लेख की इकार मात्राओं में कहीं कहीं थोड़ी सी गोलाई आ गई है।

चित्र-घ :—इसमें र का रूप एक तरंगमयी रेखा से बना है, जो प्रायः इस समय के अन्य लेखों में एवं कुछ समय बाद के लेखों में भी एक खड़ी सीधी रेखा मात्र है। दूसरे पट के चित्र-घ की तीसरी पंक्तिमें रु को देखिए। किंच ज के रूप में भी यहाँ कुछ विलक्षणता आ गई है। तु में उकार मात्रा कुछ ऊपर को जोड़ी है। इसका मिलान चित्र-ग में आए तु से कीजिए।

फलक २२

चित्र-क : —

१ श्रीमान्यूपः समुच्छ्रि(च्छ्रि)तः ४
२ -नग्निष्टोमात्तु पंचमम् ५
३ प(ष)ष्ठस्तु प्रथमात्क्रतोः ६
४ -मग्निष्टोमात्तु सप्तमम् ७

एपि० इं० २४, २५०

चित्र-ख :—

१ असमेधयाजिस अनेकहि-
२ -स] सवथेसु अपतिहतसंक-

एपि० इं० २०, १७

चित्र-ग :—

१ सहा उपभायेन धर्म-
२ -तेवासिनिहि शिरिवि-
३ -ग्रहे सर्वबुधपुजा-

एपि० इं० १९, ६७

चित्र-घ :—

१ -जस्य श्री भद्र मघस्य
२ ८० ७ वर्ष पत्त तृतीय
३ एतय पुरुवाय पल्ला-
४ -त्रेहि सौदार्य्येहि भ्रातृहि
५ -य षएढकेन च पु-

एपि० इं० २३, २४८

फलक २रा—वि० सं० १-३०० में ब्राह्मी का विकास

चित्र-क :—यह लेख शुद्ध संस्कृत भाषा में है और विक्रम-संवत् की प्रथम-द्वितीय शताब्दि का है। इस काल के उपलब्ध लेख बहुधा प्राकृत भाषा में हैं। जैसा कि ऊपर बताया गया है, यहाँ इकारादि मात्राओं के रूप कुछ विकसित हो गए हैं। सीधी खड़ी रेखाएँ यहाँ बाँकी टेढ़ी हो गई हैं। परंतु आकार की मात्रा के रूप में कुछ अंतर नहीं पड़ा। न्यू का रूप देखिए। यहाँ य का रूप नहीं बदला। पहले पट के चित्र-क के क्य में भी यही बात पाई जाती है। परंतु काल-क्रम से अधःस्थ य की बनावट बदल गई है, जैसे चित्र-ग में स्पष्ट है। प, च आदि की ऊर्ध्व रेखाएँ छोटी हो गई हैं। म और म् में यही अंतर है कि दूसरा पंक्ति के कुछ नीचे लिखा गया है। आगे चलकर इसका आकार भी कुछ छोटा कर दिया गया है। हलन्त (स्वरशून्यता) के चिह्न का प्रयोग बहुत बाद में होने लगा। त्क्र का रूप अति विचित्र हो गया है। इसमें सभी व्यंजन ज्यों के त्यों एक दूसरे के ऊपर रखे गए हैं। फलतः इस अक्षर की लँबाई इतनी बढ़ गई है कि इसका निचला सिरा आगे को पंक्ति में जा घुसा है और वहाँ उसने एक अक्षर की जगह ले ली है।

इस काल में सभी अक्षरों के सिरे बँध गए हैं। इससे पहले भी सिरे बँधे मिलते हैं।

प्रकृत लेख में १ से ६ तक अंकों के चिह्न भी मिले हैं, चित्र में ४, ५, ६ और ७ के अंक आए हैं।

चित्र ख :—दक्षिण भारत में ब्राह्मी के रूपांतर कैसे बनने लगे इसका भान यहाँ मिलता है। अक्षरों में लंबी लंबी पूंछड़ी शोभा के लिये लगाई गई है,

परंतु आगे चलकर कुछ अंश में यह उन उन अक्षरों के स्थायी अंग बन गई है। नीचे के मोड़ बढ़ते बढ़ते पृथक् रेखाएँ बन गई हैं, तीसरे फलक के निचले चार चित्रों में देखिए। दूसरी पंक्ति में जो सु है उसे श्र भी पढ़ सकते हैं। त की बाईं ओर छिद्र सा बन गया है जो तत्कालीन लिपि में बिना कलम उठाए लिखने का परिणाम था।

चित्र ग:—यहाँ आ, इ, ए आदि की मात्राएँ कुछ तिरछी हो गई हैं। पु और बु में जो उकार मात्रा है उसे दाईं ओर की खड़ी रेखा के नीचे जोड़ा है, पहले फलक में जो इनके रूप आए हैं उनसे इनका मिलान कीजिए। र्म और र्व में रेफ को पंक्ति के ऊपर रखा है, जैसे नागरी में होता है। परंतु शारदा आदि लिपियों में ऐसा नहीं, चौथे फलक के चित्र-च में देखिए।

चित्र घ :—श्री में ईकार मात्रा की बनावट देखिए। यहाँ भी वही दो रेखाएँ हैं जो चित्र-क के आरंभ के श्री में हैं, परंतु यहाँ उन्हें ऊर्ध्व धनुष के रूप में रखा है। म का रूप यहाँ बहुत कुछ बदल गया है। इसे उत्तरी म कहते हैं। कुषाणकालिक लेखों में भी यही मिलता है। आ और इ की मात्राएँ आगे से मुड़ भी गई हैं—नागरी का ओर झुकाव शुरू हो गया। त्रे में एकारमात्रा इकार मात्रा से भिन्न नहीं। एढ में ढ की शकल देखिए बिल्कुल आजकल की नागरी के ढ जैसी है।

फलक ३रा

चित्र क :—

१ -ठ्यामिन्द्रभट्टारिकायामुत्पन्नः
२ -णान्विताया औदार्य्यचातु-
३ चारुकान्तिः शैलेन्द्रपुत्र्या इव
४ -त भुक्ततेजोज्वलस्नेहैर्वांत्सद्वृ
५ णोन्नति।.दृष्टः साधुसुखोद-
६ -यामध्वरसंस्थितेव सुहुत-
७ -पुद्गुमैरविरलैर्भ्भ(भैं)रनैः सम
८ -ठ्याक्रि(कृ)ष्य विस्फूर्ज्जिता। यस्यैव-

एपि० इं० २७,...(प्रकाश्यमान)

चित्र-ख :—

१ पुण्याभिवृद्धये भारद्वा-
२ स्वा]मिने प्रतिपादितास्तदे-
३ -ज्ञा] स्वयं । उक्तञ्च धर्म्मशा-
४ -गरादिभि यस्य यस्य यदा
५ लि]खित्तं महासान्धिविग्रहि-
६ -हत्तर

एपि० इं० २३,२००

चित्र-ग :—

१ पयति सर्व्वानेवास्मत्सन्त
२ नीयोस्मि शाण्डिल्यसगोत्र-
३ ल्मिकतल्लवाटके आर्य्य-
४ र्कतारककालीयं पुत्र [पौ-
५ भिक्कुत: नज्ञस्यो चितया
६ पयतश्च: सर्वैरेवा
७ महाराज श्रीस्वामिदासस्य

एपि० इं० १५, २८९

चित्र-घ :—

१ अ[ु]प्फक्खिरग्गहण । अपरम्पर गोबलिव-
२ अचम्मङ्गालिक । अभडप्पावेस अखट्टाचोल्ल-
३ अ] करद । अवह । सणिधि । सोपणिधि । सकुतु-
४ -रण । साऽत्त्रजातिपरिहार परिहितञ्च जतो उ [प-
५ वा] दम्पमाणं करेत्ता रक्खध रक्खापेध य परि [ह-

एपि० इं० २६, १५३

चित्र-ङ :—

१ -धिष्ठाने परम ब्रह्मण्यस्य स्व [बा-
२ -विहित सर्व्वमर्य्यादास्थितिस्थित-

३ -कत्तीरस्य श्रीवीरवर्म्मणः प्र-
४ -पोपनतराजमण्डलस्य भ-
एपि० इं० २४, ३०१

चित्र-च :—
१ -दत्ताम्परदत्तां वा यत्नाद्र-
२ -क्ष दानाच्छ्रे योनुपालनं
३ -दिवि भूमिदः आक्षेप्ता चा-
४ -वर्द्धमान विजयराज्य संव
५ -त्सर्यां । इदं विनयचन्द्रेण
६ -ङ् हस्य लिखितं स्वमुखाज्ञया
एपि० इं० २३, ६६

फलक ३२—वि० सं० ३०१-६०० में ब्राह्मी-शंकुशिरा और संपुटशिरा रूप

चित्र-क :—यह शंकुशिरा लिपि का नमूना है। इसमें दक्षिणी विशेषताएँ अधिक हैं। दूसरी पंक्ति में औ का रूप देखने योग्य है।

चित्र-ख :—इसकी लिखावट सुडौल नहीं, परंतु पूर्वीय गुप्तकालिक लिपि का यह अच्छा नमूना है। तीसरी पंक्ति में उ का रूप देखिए, नागरी के उ के रूप से मिलता-जुलता है।

चित्र-ग :—यह संपुटशिरा लिपि का नमूना है, इसमें संपुट भरे हुए हैं। तीसरी पंक्ति में ट नागरी के ट जैसा ही है, केवल संपुट के बजाय आड़ी रेखा होनी चाहिए। इसी पंक्ति में आ का चिह्न देखिए। चौथी सतर के आरंभ में र्क है उसमें रेफ पर भी संपुट बनाया है। यही बात र्व में भी पाई जाती है।

चित्र-घ :—यह भी संपुटशिरा लिपि का निदर्शन है। परंतु इसके संपुट खाली हैं। भाषा प्राकृत है। संयुक्त अक्षरों में जो नीचे का व्यंजन है उसका संपुट भी प्रायः सर्वत्र पृथक् दिखाया है जैसे ग्ग, म्म, ञ्ज, ट्ट आदि में किंतु प्फ, म्प आदि में नहीं।

चित्र-ङ :—यहाँ संपुटशिरा और शंकुशिरा का मिश्रण है, शंकु और संपुट दोनों छोटे छोटे हैं। अक्षरों की बनावट में सुंदरता लाने का यत्न किया गया है। ष्टा में ष् और स्थि में थ् का रूप देखने लायक है।

चित्र-च :—संपुटशिरा का रूपांतर। संपुट भरे हुए। आकार मात्राओं पर ध्यान दीजिए, जैसे हम नागरी में आजकल कन्ना लगाते हैं प्रायः वैसे ही है। हा और ष्ठा आदि अक्षरों में यह अक्षर के बाएँ सिरे से जोड़ा गया है, परंतु मा में देखिए। क्ष का चिह्न अभी तक पुराना ही है, जिसमें क् और ष के अंश ठीक पहचाने जा सकते हैं, जैसे दूसरे फलक के चित्र-च में भी हमने देखा है। इसका विलक्षण चिह्न बाद में बना। न और ण की बनावट में भेद देखिए।

पट ४था

चित्र-क :—

१ कपर्द्दात्पृथुनि परिलुठन्ती यस्य मू [र्द्ध-
२ न क्रमः परिमिति स्वान्पुत्त्रकान्पाठ-
३ चीणाङ्हसो जज्ञिरे यैरासन्तति स-
४ वृत्तिः । वलविभव विलासत्यग-

एपि० इं० २३, २६०

चित्र-ख :—

१ -भुवनाधि पते शकलशशाङ्क [शे-
२ -त्युत्पत्ति प्रलयकारणहेतोर्म्म हे [न्द्रा-
३ -सिनस्य श्रिगोकर्णे श्वरस्वामि-
४ -मलारा धनादवाप्त पुण्यनिच-
५ -लांवरेन्दु स्वभुजवलपराक्र[मा-
६ -गाधिराज्य शक्तित्रयप्रकर्षानु-
७ -मन्तपरममाहेश्वरो माता-

एपि० इं० २४, १८१

चित्र-ग :—

१ तस्य तदा फलं ॥ यानीह दत्तानि पु [रा
२ -प्रतिमानि तानि । को नाम साधु ≍ पु-
३ -पा महिं महिमतां श्रेष्ठ दानाच्छे [यो-
४ -चिन्त्य मनुष्य जीवितं च । अतिविम[ल-
५ -ष्या इति ॥ दूतकोत्र श्रीदुर्गा रा-
६ -म्मम श्री जगतुङ्ग देवसुत [स्य
७ -खितं ॥ मतम्मम श्रीमदि-
८ -रि लिखितमिति ॥

एपि० इं० २२, ८५

चित्र-घ :—

१ -घा] त् ॥ बहुभिर्व्वसुधा भुक्ता राजभिः स [ग
२ -रत] स्य तस्य तदा फलं ॥ यानीह दत्तानि पुरा
३ निर्मुक्तमाल्यप्रतिमानि तानि को नाम साधुः [पु-
४ -द्र] च नराधिप । महीं महीमतां श्रेष्ठ दानाच्छ्रे-
५ -लो] लां श्रियमनुचिंत्य मनुष्यजीवितञ्च । स-
६ -कीर्त्तयो विलोप्या इति ॥ परमभट्टारक म-
७ -मह्वारावर्ष श्रीध्रुवराजदेवप्रहितभट्ट [हे-
८ लिखितञ्चैतत्परमेश्वराज्ञया वला [धि-
९ -हा] शब्द महासंधिविग्रहाधिकृतसामन्ता श्री-

एपि० इं० १०, ८८

चित्र ङ :—

१ -या] दोष्णा चं यो भुव-
२ अतिरणचण्डः

एपि० इं० १०, १४

चित्र-च :—

१ -म]हाराज्ञी श्रीका[मे-
२ कर्म पति उ-
३ -र्यद्विजोः ॥ [पं-
४ ......[ह्मणः] ॥

एपि० इं० २२, ९८

फलक ४था :—वि० सं० ६०१-९००, कुटिला, शारदा आदि

चित्र-क :—इसमें कुटिला और नागरी का मिश्रण समझिए। अर्थात् कुटिला से नागरी के अक्षर बनने लग गए हैं और बहुत से तो आजकल के नागरी अक्षरों से मिलते हैं। यह लेख विक्रम-संवत् की आठवीं शताब्दि के उत्तरार्ध का है। क बिल्कुल नागरी का सा है। प में कुछ बाँकापन है, जिससे यह य की आकृति लिए है। परंतु त्पृ में यह भ्रम नहीं उठता। र्हा, र, नि, मि, मू आदि कई एक अक्षर नागरी के से हैं। नहीं हैं तो थु, ण, ज, भ, त्या आदि।

चित्र-ख :—यह दक्षिणी लिपि के विकास का रूपांतर है। इसमें श, ल, स, य आदि अक्षरों में दक्षिणीपन पाया जाता है।

चित्र-ग :—यह भी दक्षिणी लिपि के विकास का एक रूपांतर है। नीचे की पंक्तियों में आए अक्षरों के सिरों पर जो ऊर्ध्वधनुष समान रेखा है यह तेलुगु-कन्नड़ा की विशेषता है। पाँचवीं सतर में दू का रूप देखिए। इसका मिलान तीसरे फलक के चित्र-च की तीसरी सतह में आए भू से कीजिए।

चित्र-घ :—इसमें के बहुत से अक्षर नागरी से मिलते हैं। स्वरशून्य त् का रूप विलक्षण है, यह पहले के कई लेखों में भी मिलता है और बाद में भी, पाँचवें फलक के चित्र-ख में देखिए। यहाँ इकार का रूप बदल गया, दो बिंदु नीचे के बजाय ऊपर आ गए हैं।

चित्र-ङ :—यह दक्षिण में नागरी का सबसे पहला लेख समझना चाहिए। द, ष, व आदि बिल्कुल नागरी से हैं।

चित्र-च :—यह शारदा का निदर्शन है। मै और यै के रूप ध्यान देने योग्य हैं। उकार के सिर भी आड़ी रेखा है।

फलक ५वाँ

चित्र-क :—

१ -न्द्रानुपहसितो रावणियेन ॥ सौजन्यस्य निधिर्द या-
२ जा] तस्तस्याः सुतः पृथुप्रख्यः । चामुण्डराजनामा प-
३ रूपं वपुर्ज्जीवितं विष्णोः कारयते स्म मन्दिरमिदं हे-
४ -ण] मपि मधुरिपुर्न्निजां प्रतिमां । मुंचति न च रम्भा[द्याः
५ -स्ता]भिः सिद्धं तया दत्तां॥गोप्रपुरनागपल्ल्यौ द्वौ ग्रामौ च-
६ -क्र] ता व्यवस्था राज्ञ्या श्रीचित्रलेखया भक्त्या ॥ महारा[जा-
७ -रा] रे: ॥ एके वर्षसहस्रे द्वादशभिर्व्वत्सरैर्युते मा[घे
८ -अलुवद्रकनामानं ग्राममस्मै रविग्रहे । इन्द्र-

एपि० इं० २२,१२४

चित्र-ख :—

१ :॥ तद्भक्तिवलितशक्तिभुजद्वयौ-
२ -धर्मकरतः ख्यातः श्रीभद्रद-
३ पुराणरामायो(य)णार्थवित्तनयः
४ -न्वयो यो भूत् ॥ तस्य गौरी म-
५ -न्द्ररतिर्नाम या वं(ब)भूव शिवप्रि-
६ लै] रार्द्रीकृतोजंद्मुजस्कूर्जद्वज्र व-
७ महान् । सौम्यः सूनृतवागरा-
८ -त्ना] हारतुषारकुन्दधवलं या या-

एपि० इं० २७,...(प्रकाश्यमान)

चित्र-ग :—

१ रो] हिणीभसमये रात्रेश्च यामत्रये । श्रीमद्रत्ननूरेश्वर[स्य
२ -ज्ञा] नदी ॥ १९ ॥ इंदोम्मुक्तिं कुर्व्वतायं तदानीं सर्व्वदायैर्म्म-
३ -२० ॥ तपति न तपनः प्रखरो मरुदपि नो वाति शासने तीव्रः

४ -प] तो लोकसाक्षिणौ । तावदव्याहतं स्थेयाद्दानमेतन्महोप-
५ -श्च] दानमानार्च्चनादिभिः ॥ २३ ॥ यैः कृतः सर्व्वभक्षोग्निर-
६ -४ ॥ सं(शं) खं भद्रासनं च्छ(छ)त्रं गजाश्व(श्व)वरवाहनम् ।
भूमिदानस्य ।
७ -। यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलम् ॥ २६ ॥ य[था-
८ ॥ २७ ॥ भूमिं यः प्रतिगृह्णा(ह्णा)ति यस्तु भूमिं प्रयच्छति । ब[भौ
९ -स्नाद्रत्न पुरंदर । मही(हीं) महीभृतां स्र(श्रे)ष्ठ दानाच्छ्रेयो हि पा-
१० -भूं] त्वा पितृभिः सह पच्यते ॥३०। अस्व(श्व)मेधसहस्रे(स्रे)ण
११ -ष्टिं] वर्षसहस्रा(स्रा)णि स्वर्गे वसति भूमिदः । आच्छेत्ता चानुम-

एपि० इं० २८,१६६

चित्र-घ :—

१ -१५ अद्येह काल इला-
२ -स्तराजावलीविराजि-
३ -: स्वभुज्यमानधाराणदा-
४ -न् जनपदांश्च बोधय-
५ -रोयणपर्वणि महेश्व

एपि० इं० २१,१७२

चित्र-ङ :—

१ -क] न्दः । अमृतमयकलाभिः क्षा [लि-
२ -जि] नानां । येन भ्रमत्यविरतं प्र [ति-
३ -ने च पुरे जिनस्य दीपङ्करस्य प्र [ति-
४ -स्सो] मपुरे चतुर्षु लयनेष्वन्तर्वे [हि-
५ -तुं] । इत्यादि पुण्यक्रियया सका-
६ -द] स्रोयमुन्मीलति । यस्यां विस्मृत-

एपि० इं० २१,९६

चित्र-च :—

१ -राणां विजये शंभोः कतिचि-
२ -दोद विंदवः । कदंवतलमा-

३ -जस्समभव स्थौर्यधैर्यधरो
४ -र स्कंद इवापरः त्रिलोचन-
५ -स नागवल्लीकलिते कद-
६ -सं विलास वसतिस्चिरं । त-
७ -र्म्मलः । अम्लान कमलोल्ला-

एपि० इं० २७,...(प्रकाश्यमान)

फलक ५वाँ—वि० सं० ९०१-१२००, नागरी

चित्र क :—अभी यहाँ नागरी का रूप कई अंशों में परिपक्क नहीं हुआ। ख, ध, ज, भ आदि अक्षरों की बनावट पुरानी है। अंतिम पंक्ति में इकार को देखिए। इसका रूप चौथे पट के और इस पट के चित्र-घ में के इकार के तुल्य है। परंतु आगे चलकर फिर पुराना रूप भी मिलता है जैसे चित्र-ङ में। चित्र-ग और चित्र-च में जो इकार हैं वे और भी विलक्षण हैं। बात यह है कि इसकी चूलें हिल रही हैं, इसके बिंदुओं को नीचे ऊपर और आगे-पीछे सरकाया जा रहा है, फलतः आगे चलकर नागरी का बिंदु-रहित इकार बन जाता है।

चित्र-ख :—यह लेख आसाम से आया है सो इसमें पूर्वीय विल-क्षणताएँ हैं जो बंगाली से भी मिलती हैं।

चित्र-ग :—यहाँ से नागरी का रूप प्रायः परिपक्व हो गया है। सिर पर की लकीरें पूरी हो गई हैं। अ और आ के रूप देखिए, इस प्रकार ख, च आदि के भी। इकार के विषय में ऊपर चित्र-क की टिप्पणी में कह आए हैं। उकार पूरा नागरी उकार बन गया है। पृष्ठमात्राओं का प्रयोग अभी जारी है।

चित्र-घ :—यहाँ अ का रूप असाधारण है। ज का रूप नागरी ज से मिलने लगा है। तीसरी पंक्ति में जो ण है उसके सिर पर आड़ी रेखा नहीं, परंतु पाँचवीं पंक्ति में जो हैं उनके सिर पर है। रो में पृष्ठमात्रा का प्रयोग नहीं किया गया, दे और ये में किया गया है।

चित्र-ङ :—इसमें अक्षर बड़े यत्न से उत्कीर्ण किए गए और खूब सुडौल और सुंदर बनाए हैं। यहाँ अ का रूप देखिए। उकार और एकार की मात्राएँ बड़ी छोटी रखी हैं, चौथी पंक्ति में तु में उकार की मात्रा स्पष्ट है।

चित्र-च :—यहाँ भी रो में पृष्ठमात्रा का प्रयोग नहीं, बाकी भो, धै, लो आदि में है। यहाँ का अकार पूरा नागरी का अकार है।

——

ब्राह्मी के प्रायः आरंभिक रूपों का दिग्दर्शन
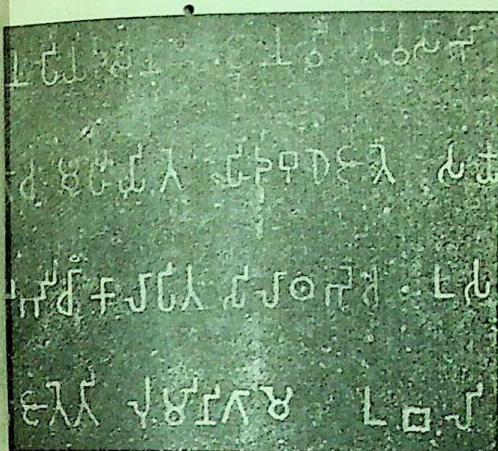
क
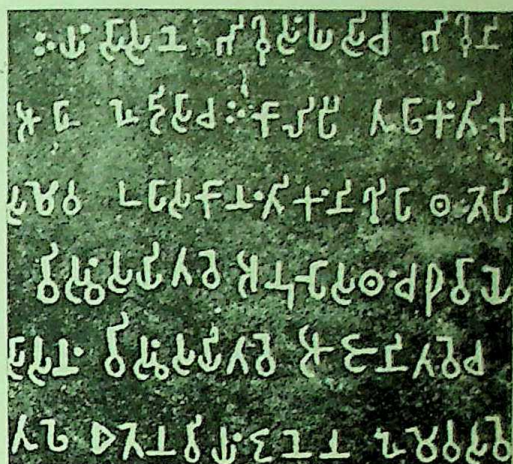
ग
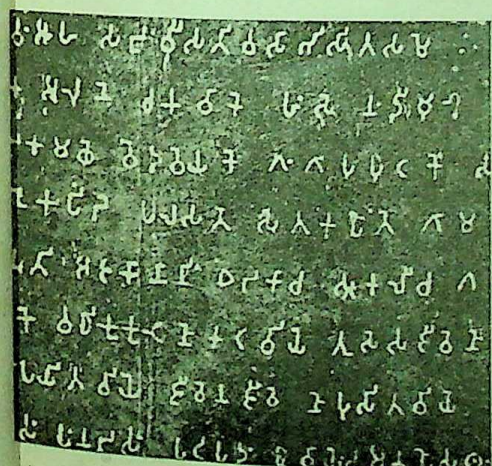
ख
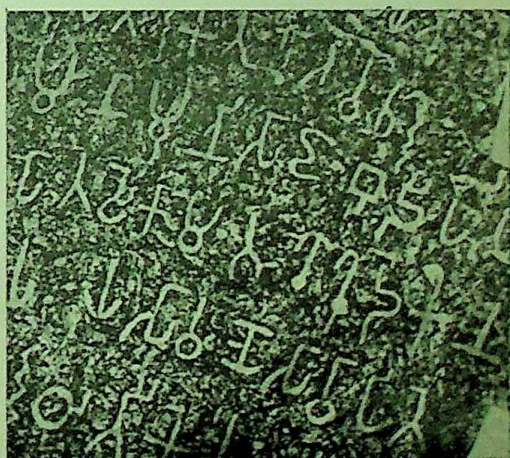
घ

वि० सं० १—३०० में ब्राह्मी का विकास
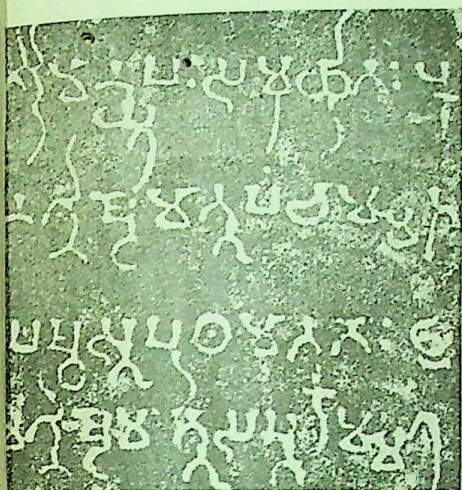
क
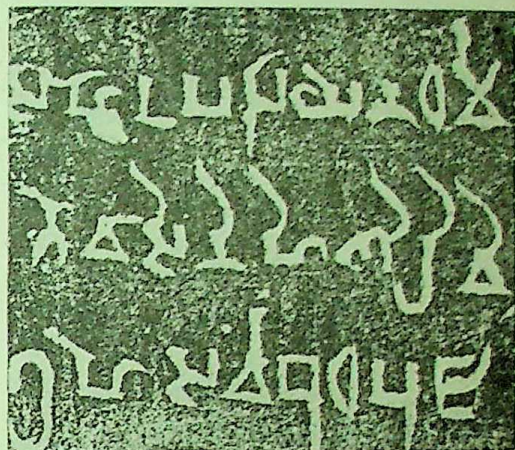
ग
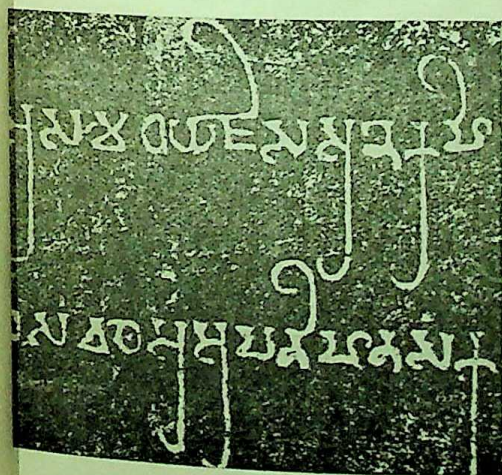
ख
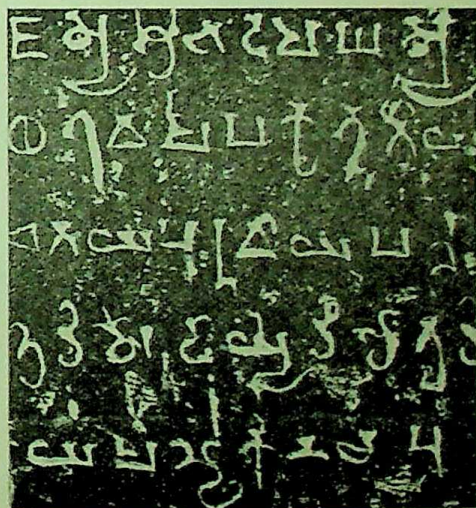
घ

फलक ३

वि० सं० ३०१—६०० में ब्राह्मी, शंकुशिरा, संपुटशिरा

क

ख

ग

घ

ङ

च

फलक ४

वि० सं० ६०१—९००; कुटिला, शारदा आदि

क

घ

ख

ङ

ग

च

फलक ५

वि० सं० ९०१—१२००; नागरी

क

घ

ख

ङ

ग

च

गत द्विसहस्राब्दी में संस्कृत व्याकरण का विकास

[लेखक—श्रीसरस्वतीप्रसाद चतुर्वेदी, एम० ए०, व्याकरणाचार्य]

भारतीय वाङ्मय में व्याकरण-शास्त्र की महत्ता प्राचीन काल से मानी गई है। प्राचीन काल से लेकर आज तक व्याकरणशास्त्र की जितनी छानबीन भारतवर्ष में हुई, उतनी विश्व के किसी देश में नहीं। यूरोप में भाषाविज्ञान एक आधुनिक शास्त्र है और वह भी संस्कृतभाषा से परिचय प्राप्त करने के फलस्वरूप विकसित हुआ है। किंतु भारत में भाषाशास्त्र के महत्त्व का परिचय वैदिक काल से ही मिलता है। वेदों के छः अंगों में से ३ अंग (शिक्षा, निरुक्त, व्याकरण) भाषाशास्त्र से साक्षात् संबंध रखते हैं और वेदांगों में व्याकरण को प्रधान अंग माना गया है। व्याकरण के प्रवर्त्तकों में सर्व प्रथम नाम देवराज इंद्र का है। तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है कि इंद्र ने सर्व प्रथम भाषा को व्याकृत किया अर्थात् उच्चरित वाणी के समष्टि रूप को व्यष्टि में परिणत कर व्याकरण-शास्त्र की नींव डाली। पदों के भेद, तीन काल, सात विभक्तियाँ आदि व्याकरण के विभिन्न अंगों का, वैदिक मंत्रों में रहस्यपूर्ण ढँग से, निर्देश मिलता है। ब्राह्मणग्रंथों में पदे पदे भाषाशास्त्र के मुख्य अंग निर्वचन (एटीमालॉजी) की दिशा में प्रयत्न किए गए हैं। विभिन्न वैदिक शाखाओं के प्रातिशाख्य और यास्क-कृत निरुक्त तो भाषाशास्त्र के बहुमूल्य ग्रंथ हैं ही, अग्निपुराण और गरुडपुराण तक में व्याकरणशास्त्र का निरूपण किया गया है। पाणिनि की अष्टाध्यायी, जिसमें पूर्वकालीन वैयाकरणों के चिंतनों का अनुशीलन कर संस्कृत वाङ्मय के शब्दों का व्याकरण सूत्ररूप में ग्रथित किया गया है, विश्ववाङ्मय की एक अपूर्व पुस्तक है। कात्यायन, पतंजलि आदि उत्तरकालीन वैयाकरणों ने, अप्रचलित और नवप्रचलित पदों को ध्यान में रखते हुए, पाणिनि-सूत्रों में संशोधन, परिवर्धन और निराकरण की पद्धति का अनुसरण कर व्याकरण को ऐसी सामर्थ्य प्रदान की कि उसका प्रामाण्य आजतक अक्षुण्ण है। पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि इस मुनित्रयी से प्रतिपादित मत

के आधार पर ही उत्तरकालीन पाणिनीय तथा इतर व्याकरण संप्रदायों का विकास और विस्तार हुआ, जिसका काल स्थूल रूप से विक्रम संवत् के गत २००० वर्ष हैं। इन २००० वर्षों में भारतीय मस्तिष्क ने व्याकरण-शास्त्र के क्षेत्र में जो गंभीर ऊहापोह और सशक्त चिंतन किया है वह संस्कृत विद्या का मेरुदंड कहा जा सकता है। व्याकरण के इस तेजस्वी अध्ययन में संस्कृत और प्राकृत—दोनों भाषाओं के तत्त्वविदों ने भाग लिया है। इस महायाग में भर्तृहरि और भोज सदृश विद्वान् नृप, सम्राट् पुष्यमित्र के याजक पतंजलि और तंतुवायवंशोद्भव जुमरनंदिन्, राजाश्रित समृद्ध हेमचंद्र और तपःकृश निर्धन नागेश भट्ट, काश्मीर से केरल तक संपूर्ण भारत के विद्वान् (कैयट और नारायणभट्ट सदृश) वैयाकरणों का आर्त्विज्य एवं सहयोग है।

विक्रम-पूर्व काल में संस्कृत वाङ्मय के विभिन्न शास्त्रों का प्रादुर्भाव और विकास हुआ, किंतु उनका सम्यक् परिशीलन, परीक्षण, परिपुष्ट चिंतन और प्रमार्जन विक्रमयुग की गत द्विसहस्राब्दी की विशेषता है। षड् दर्शन, ज्योतिष और आयुर्वेद की तरह व्याकरणशास्त्र भी इसी काल में संवारा गया। वैयाकरणों ने गंभीर चिंतन और सूक्ष्म परीक्षण के आधार पर व्याकरणशास्त्र को वह परिष्कृत शास्त्रीय रूप दिया कि व्याकरणशास्त्र केवल शब्दानुशासनशास्त्र न रह कर 'शास्त्रों का शास्त्र' बन गया। यही कारण है कि अन्य विचारशास्त्रों के समान व्याकरण शास्त्र के भी मत (यथा स्फोटवाद, शब्दविवर्तवाद आदि) विचारशास्त्रीय चर्चा में सम्मिलित किए जाते हैं। सर्वदर्शनसंग्रह में व्याकरणशास्त्र को दर्शन मान कर उसके सैद्धांतिक मतों के प्रतिपादन को स्वतंत्र स्थान दिया गया है। शब्दसाधुत्वप्रतिपादन की परिधि से बाहर निकलकर व्याकरणशास्त्र के क्षेत्र का बहुविध प्रसार इतना समुन्नत और परिपक्व हुआ कि भारत में केवल व्याकरण का आजीवन अध्ययन करनेवाले विद्वानों की कभी भी कमी नहीं रही। 'द्वादशभिर्वर्षैर्व्याकरणं स्माधीयते' की परंपरा भारतीय मस्तिष्क की ही विशेषता है।

गत द्विसहस्राब्दी में व्याकरण-चिंतन की परंपरा में दो धाराएँ स्पष्ट दीखती हैं। प्रथम धारा के अनुयायियों ने व्याकरण के ध्येय 'शब्दसाधुत्व प्रतिपादन' को मुख्यतया ध्यान में रखकर परिवर्तनशील भाषा से संबंध-

विच्छेद नहीं किया। संस्कृत भाषा में—यहाँ भाषा का अर्थ जन भाषा नहीं, शिष्टभाषा है—जो नवीन शब्द प्रचलित और प्राचीन शब्द अप्रचलित हो जाते थे, उनकी साधुता और असाधुता दिखलाने के लिये व्याकरण के नियमों में परिवर्तन अपेक्षित था। यह कार्य दो प्रकार से संभव था; और दोनों ही प्रकारों का अवलंबन कर भारतीय वैयाकरणों ने व्याकरणशास्त्र को भाषा-प्रवाह से दूर नहीं जाने दिया। प्रथम प्रकार में पाणिनीय सूत्रों को ही आवश्यकतानुसार घटा बढ़ाकर या व्याख्यांतर की शरण लेकर नवप्रचलित रूपों की उपपत्ति कर दी जाती थी। दूसरे प्रकार के अनुयायियों ने तोड़ मरोड़कर काम निकालने की प्रवृत्ति को नहीं अपनाया, बल्कि नए नियम रचकर नवीन व्याकरण-संप्रदायों को जन्म दिया। इन संप्रदायों की रचना यद्यपि पाणिनीय आदर्श पर की गई थी और इनमें, पाणिनीय व्याकरण की सर्वांगपूर्णता और उत्तर कालीन वैयाकरणों के द्वारा किये हुए गंभीर परिशीलन न होने के कारण, शास्त्रपद प्राप्त करने की क्षमता न थी, तथापि इसमें संदेह नहीं कि सरल और सुगम होने के कारण इन विभिन्न व्याकरण-संप्रदायों ने अपना मुख्य काम—शब्दानुशासन—उत्तम प्रकार से निभाया। पाणिनीय सूत्रों में ही घटा बढ़ाकर या नए नियम बनाकर, प्रथम धारा के अनुयायी वैयाकरणों ने भाषा और व्याकरण के निकट संबंध को कायम रखा। शिष्ट व्यवहार में प्रचलित पदों (लक्ष्यों) पर ध्यान देने के कारण ये वैयाकरण 'लक्ष्यैकचक्षुष्क' कहे जा सकते हैं। व्याकरण शास्त्र चिंतन-परंपरा की यह पहली धारा है। दूसरी धारा के अनुयायियों ने भाषा को गौण मानकर व्याकरण को प्रधानता दी। उनके मत से शब्दों के साधुत्व-असाधुत्व की कसौटी व्याकरण-सूत्र हैं, शिष्टव्यवहार नहीं। व्याकरण-नियमों (लक्षणों) की ओर ध्यान देने के कारण दूसरी धारा के वैयाकरण 'लक्षणैकचक्षुष्क' कहे जा सकते हैं। लक्ष्यैकचक्षुष्क और लक्षणैकचक्षुष्क—ये दो शब्द भारतीय व्याकरणशास्त्र चिंतन की इन दो भिन्न परंपराओं के दृष्टिकोण में मौलिक भेद को भली भाँति स्पष्ट करते हैं। 'अपाणिनीयं तु भवति' (यह तो पाणिनि से विरुद्ध जाना होगा) और 'नह्येकमुदाहरणं योगारम्भं प्रयोजयति' (केवल एक उदाहरण (लक्ष्य) की सिद्धि के लिये सूत्र रखना ठीक नहीं है) सदृश वाक्य स्पष्ट सूचित करते हैं कि इन वैयाकरणों का ध्येय भाषा

का व्याकरण लिखना नहीं बल्कि व्याकरण के सूत्रों की मीमांसा करना था। भाषा का शुद्धीकरण नहीं, सूत्रों के अर्थ की छानबीन इनका मुख्य कार्य था। यही कारण है कि उत्तरकालीन वैयाकरणों ने भाषा का स्वतंत्र व्याकरण ग्रंथ न रचकर टीकाएँ, उपटीकाएँ लिखने में कौशल दिखाया। सूत्रों के अर्थ की मीमांसा, उनके आधार पर संभूत पदों के असंख्य रूपों की कल्पना, सूत्रों में अर्धमात्रा लाघव की असंभाव्यता का प्रदर्शन, खंडन-मंडनात्मक शास्त्र विचार, नव्य नैयायिकों की शैली में सूत्रों के अभिप्रेत अर्थ का सूक्ष्म चिंतन, प्रकृति, प्रत्यय, पद और वाक्य के अर्थनिरूपण में न्याय और मीमांसा के मतों की साधक-बाधक चर्चा कर व्याकरण को शब्दशास्त्र ही नहीं, अर्थशास्त्र के उन्नत पद पर आसीन कराना—आदि अनेक बुद्धि नैपुण्य सूचक विमर्शों में भारतीय मस्तिष्क ने अपनी प्रखर प्रतिभा प्रगट की। विश्व की किसी भाषा या वाङ्मय के इतिहास में एवंविध प्रकाण्ड और गंभीर व्याकरण संबंधी अर्थ-चिंतन नहीं हुआ। लक्षणैकचक्षुष्क वैयाकरणों की यह उज्ज्वल परंपरा आज भी भारत में जीवित है। संस्कृत-विद्या-केंद्र काशी के विद्वत्समाज ने इस परंपरा को अक्षुण्ण रखने का स्तुत्य प्रयत्न किया है।

लक्ष्यैकचक्षुष्क वैयाकरणों की परंपरा का प्रारंभ कात्यायन के समय से ही दृष्टिगोचर होता है। इन वैयाकरणों ने आवश्यकतानुसार पाणिनीय सूत्रों में परिवर्तन करने या अन्य संप्रदाय चलाने में संकोच नहीं किया। फलतः समानांतर रूप से दोनों मार्गों का अनुसरण किया गया। एक ओर तो पाणिनीय सूत्रों पर वार्तिक, इष्टि, ज्ञापक, योग विभाग आदि के द्वारा अष्टाध्यायी को ही सर्वार्थसाधक बनाने का प्रयत्न किया गया; दूसरी ओर कातंत्र, चांद्र आदि पाणिनीयेतर संप्रदायों ने स्वतंत्र ग्रंथ रचे। सरल से सरल रीति से संस्कृत व्याकरण सिखाना इन संप्रदायों का उद्देश्य था और उसमें वे बहुत अंश तक सफल भी हुए। आज भी बंगाल में और विशिष्टधर्मावलंबियों के समाज में संस्कृत व्याकरण का अध्ययन अध्यापन पाणिनीयेतर संप्रदायों के ग्रंथों की सहायता से होता है। पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली के संपर्क के फलस्वरूप रची गई आधुनिक व्याकरण-पुस्तिकाओं को यदि हम भूलना न चाहें तो यह कहा जा सकता है कि लक्ष्यैकचक्षुष्क-वैयाकरण

परंपरा भी आज भारत में जीवित है। वाल्मीकि और कालिदास की भाषा को समझने के लिये किसी न किसी रूप में इस परंपरा का प्रचार स्वाभाविक है।

इस प्रस्तावना को समाप्त करने के पूर्व हम यह आवश्यक समझते हैं कि भाषा और व्याकरण के परस्पर-संबंध को ठीक तौर से समझ लिया जाय। पाणिनि की भाषा वास्तव में 'भाषा' थी, अर्थात् बोलचाल की जन भाषा थी। पाणिनि ने इसे स्वभावागत विकृतियों से बचाने के लिये स्थिर रूप दिया। 'संस्कृत' हो जाने के कारण वह संस्कृत भाषा कहाई। कात्यायन और पतंजलि के समय तक वह संस्कृत भाषा शनैः-शनैः शिष्टभाषा बन रही थी और जन भाषा का प्राकृतिक विकास प्राकृत भाषाओं के रूप में हो रहा था। आगे चलकर संस्कृत भाषा शिष्टभाषा भी न रही और धीरे धीरे पंडितभाषा बन गई। भिन्न-भिन्न प्रांतों में विभिन्न प्राकृत भाषाओं के प्रचलन के कारण, अखिल भारतवर्ष की सांस्कृतिक और साहित्यिक संपत्ति इसी पंडितभाषा में निहित की गई और भिन्न प्रांतीय विद्वानों के विचार विनिमय की एकमात्र साधन बनी। यही कारण है कि काव्य, अलंकार के अतिरिक्त आयुर्वेद, ज्योतिष, स्थापत्य शिल्प, संगीत आदि शास्त्रीय विषयों में अखिल भारतीय कीर्ति के ग्रंथ, समस्त देश में प्रचार पाने के लिये, इसी पंडितभाषा में रचे गए। साथ ही साथ, जन भाषा और शिष्ट भाषा के रूप में संस्कृत भाषा की उत्तराधिकारिणी प्राकृत भाषाओं में भी प्रांतीय महत्त्व की कृतियाँ रची गईं। अतः उन भाषाओं के व्याकरण का भी अनुशीलन और चिंतन वैयाकरणों ने किया। पाली व्याकरण और प्राकृत व्याकरण पर रचे गए ग्रंथ इसी दिशा में किए गए प्रयत्नों के फल हैं। वर्तमान भारतीय भाषाओं के वैज्ञानिक अध्ययन में और भाषाविज्ञान की अनेक गुत्थियाँ सुलझाने के लिये इन ग्रंथों का महत्त्व संदेहातीत है।

त्रिमुनि व्याकरणम्—

अष्टाध्यायी रचने में पाणिनि का मुख्य उद्देश्य वैदिक भाषा से भेद दिखाते हुए तत्कालीन भाषा को 'संस्कृत' करना था। अपने पूर्वकालीन वैयाकरणों के उन मतों को, जिनके संबंध में उनका मत-भेद था, पाणिनि ने

निःसंकोच नाम निर्देश सहित उद्धृत किया है; जहाँ मतैक्य था, वहाँ उन्होंने नाम निर्देश आवश्यक नहीं समझा। इससे स्पष्ट है कि पूर्ववर्ती वैयाकरणों की कृतियों को सम्यक् आत्मसात् कर उन्हीं के आधार पर पाणिनि ने अष्टाध्यायी की रचना की। पाणिनि के बाद कात्यायन का नाम आता है, यद्यपि कात्यायन के पूर्व भी पाणिनि सूत्रों पर वार्तिक रचे गए थे, जिनमें से अनेक महाभाष्य में पाए जाते हैं। अपने वार्तिकों में स्वयं कात्यायन ने वाजप्यायन, व्याडि और पौष्करसादि का नामोल्लेख किया है। सत्य तो यह है कि कात्यायन के वार्तिकों का स्वतंत्र ग्रंथ अप्राप्य है और जितने भी वार्तिक आज सिद्धांत रूप से कात्यायनकृत माने जाते हैं वे सब महाभाष्य के अन्तर्गत हैं। जिन वार्तिकों की उपयोगिता के संबंध में पतंजलि का विरोध नहीं है और जो पाणिनि द्वारा असाधित शब्दों की सिद्धि के लिये या अवांछनीय (किंतु सूत्रप्राप्य) पदों की असाधुता निर्दिष्ट करने के लिये आवश्यक हैं, वे ही काशिका या सिद्धांत-कौमुदी में उद्धृत किए गए हैं और साधारणतया आज कात्यायनकृत माने जाते हैं। परंतु हमें यह जानना चाहिए कि कात्यायन के अन्य सैकड़ों वार्तिक पतंजलि की कड़ी जाँच में खरे नहीं उतरे; अतः अनावश्यक होने के कारण वे महाभाष्य में ही रह गए और उत्तरकालीन वैयाकरणों ने उन पर ध्यान नहीं दिया। पतंजलि ने महाभाष्य में पाणिनि के लगभग १५०० सूत्रों पर रचे गए करीब ४००० वार्तिकों पर साधक-बाधक टीका की है, किंतु उनमें एक से अधिक वार्तिक कात्यायन से भिन्न वार्तिककारों के हैं। भारद्वाजीय, सौनाग, कुणि आदि कई वार्तिककारों का पतंजलि ने स्पष्ट उल्लेख किया है। 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्' (पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि में पूर्व आचार्य की अपेक्षा पर आचार्य का मत अधिक मान्य है) परिभाषा से स्पष्ट है कि मुनित्रयी में पतंजलि का मत अकाट्य है। वैज्ञानिक और ऐतिहासिक दृष्टि से यह उचित भी है, क्योंकि कात्यायन के समान पतंजलि का भी यही ध्येय था कि पाणिनि-सूत्रों को परिवर्तन-प्राप्त भाषा के समकक्ष रखा जाय। नवीन परिवर्तनों को मान्य करने के लिये सूत्रों और वार्तिकों में संशोधन अपेक्षित थे। पाणिनि के अनंतर और पतंजलि के पूर्व अनेक आचार्यों ने संशोधनात्मक वार्तिकों की रचना की थी। पतंजलि ने महाभाष्य में इन सभी आचार्यों के वार्तिकों की, तत्कालीन भाषा के मान्य रूपों की

दृष्टि से, जाँच पड़ताल की है। महाभाष्य न तो समस्त पाणिनि-सूत्रों पर और न केवल कात्यायन-रचित वार्तिकों पर भाष्य है; वास्तव में यह विभिन्न आचार्यों द्वारा रचे गए व्याकरण-संबंधी नियमों पर एक समीक्षात्मक ग्रंथ है। पाणिनि के समस्त सूत्रों पर भाष्य उपलब्ध न होने के कारण महाभाष्य पंडित-समाज में अपूर्ण समझा जाता है। किंतु उपलब्ध महाभाष्य अपूर्ण नहीं कहा जा सकता; प्रसिद्ध टीकाकार कैयट और नागेश ने भी अपने ग्रंथों में मूल ग्रंथ की अपूर्णता का उल्लेख नहीं किया है।

पतंजलि ने वार्तिकों की समीक्षा में उनकी उपादेयता या अनुपादेयता पर विचार करते हुए जो ग्रंथराज रचा है वह कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। उसके समान प्रश्नोत्तरात्मक रोचक संवाद-शैली, सरल भाषा, विशद प्रतिपादन-पद्धति, विशाल दृष्टिकोण तथा हास्यरस का पुट अन्य किसी ग्रंथ में दृष्टिगोचर नहीं होते। देश की तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक तथा साहित्यिक स्थिति पर भी मनोरंजक सूचनाएँ मिलती हैं। उदाहरण के तौर पर दिए गए अनेक वाक्यों में ऐतिहासिक सूचनाएँ अंतर्निहित हैं। समकालीन किंतु अप्रत्यक्षीकृत भूत घटनाओं के वर्णन में अनद्यतन भूत (लङ्) के प्रयोग के उदाहरण में उन्होंने यवनराज मिलिंद के साकेत पर आक्रमण का उल्लेख किया है (अरुणद्यवनः साकेतं)। इसका अनुकरण चंद्रगोमिन् ने अजय द्गुप्तो हूणान्, शाकटायन ने 'अदहदमोघवर्षोऽरातीन्', मलयगिरि ने 'अदहद्रातीन् कुमारपालः' उदाहरणों में स्वकालीन (क्रमशः षष्ठ, नवम और त्रयोदश विक्रमशतक की) महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं के निर्देश में किया है। पतंजलि की व्याख्यान-पद्धति उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है। यदि किसी अंश में पाणिनीय सूत्र अपूर्ण प्रतीत होता है तो उस पर संशोधनात्मक वार्तिक रचने के पहले पतंजलि यह देखना चाहते हैं कि क्या सूत्र पर वार्तिक का बोझ लादे बिना उपायांतर से अभिप्रेत अर्थ सिद्ध नहीं किया जा सकता। जहाँ तक संभव हुआ सूत्रों में ही योगविभाग, अनुवृत्ति, ज्ञापक आदि का आश्रय लेकर पतंजलि ने जिस व्याख्यानशैली को जन्म दिया वह उत्तरकालीन टीकाकार वैयाकरणों के हाथ में पड़कर खूब पनपी और जटिल बनी। मुनित्रय के ग्रंथों की रचना जीवित भाषा के आधार पर की गई थी। पतंजलि ने स्वयं

कहा है कि उनके समय में भाषाज्ञान के लिये व्याकरण पढ़ना आवश्यक नहीं था। अपने काल के मान्य रूपों की उपपत्ति के लिये कात्यायन आदि वार्तिककार और महाभाष्य-कार ने अपने-अपने ढंग से प्रयत्न किए। अतः यह कहना कि वार्तिककार का उद्देश्य पाणिनि के दोषों का उद्घाटन करना था तथा पतंजलि का उद्देश्य पाणिनि का मंडन और वार्तिककार का खंडन करना था, मुनित्रयी के दृष्टिकोण से अपरिचय सूचित करता है। कात्यायन और पतंजलि दोनों का उद्देश्य एक ही था—स्वकालीन शिष्टभाषा का 'पूर्ण' व्याकरण लिखना। भेद केवल इतना ही है कि जहाँ एक ओर कात्यायन सूत्रों पर संशोधनात्मक वार्तिक रचते हैं, पतंजलि सूत्र और वार्तिक दोनों का सूक्ष्म परिशीलन और तर्कशुद्ध व्याख्यान कर आवश्यकता से अधिक सूत्र या वार्तिक नहीं रखना चाहते। यह भी बात नहीं है कि पतंजलि हमेशा पाणिनि का समर्थन ही करते हों। अपनी दृष्टि से अनावश्यक सूत्रों का उन्होंने प्रत्याख्यान भी किया है और दूसरी ओर, कात्यायन के वांछनीय वार्तिकों का समर्थन भी किया है। सारांश यह कि तत्कालीन भाषा के व्याकरण की दृष्टि से पतंजलि का मत अधिक मान्य होना चाहिए और इसी लिये पाणिनीय संप्रदाय में 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्' कहा गया है। अन्य विचारशास्त्रों में सूत्रों पर रचे गए भाष्य 'भाष्य' कहाते हैं, किंतु पतंजलि का भाष्य महत्त्व के कारण महाभाष्य कहा गया है।

वाक्यपदीय में कहा है कि वैजि, सौभव और हर्यक्ष नामक वैयाकरणों ने शुष्क तर्क का अनुसरण कर तीक्ष्ण समालोचना द्वारा महाभाष्य की छीछालेदर की थी। फलस्वरूप महाभाष्य की अध्ययन-अध्यापन परंपरा विच्छिन्न हो गई। केवल दक्षिण में महाभाष्य ग्रंथ पुस्तक रूप में रह गया था। इस स्थिति में चंद्राचार्य आदि विद्वानों ने महाभाष्य का सूक्ष्म अध्ययन कर उसका पुनरुद्धार किया। राजतरंगिणी में भी कहा गया है कि काश्मीर-नृप अभिमन्यु ने पतंजलि-संप्रदाय के वैयाकरणों को देशांतर से बुलाकर अपने राज्य में महाभाष्य के अध्ययन को पुनः प्रचलित किया। इससे विदित होता है कि महाभाष्य के कालक्रमानुगत विकास में अनेक बार कठिनाइयाँ आई और बीच में इसकी पठन-पाठन परंपरा टूट भी गई थी। पतंजलिचरित की कहानी,

जिसमें, यह कहा गया है कि महाभाष्य की एक मात्र उपलब्ध पल्लव-प्रति के कुछ अंश बकरे ने खालिए थे संभवतः इसी ऐतिहासिक तथ्य की ओर निर्देश करती है। महाभाष्य के टीकाकारों में भर्तृहरि का नाम सर्व प्रथम आता है। गण-रत्नमहोदधि के रचयिता वर्धमान के कथनानुसार भर्तृहरि ने महाभाष्य के ३ पादों पर व्याख्या लिखी थी। किंतु वह टीका आज लुप्तप्राय है। बर्लिन की एक हस्तलिखित प्रति में तथा उससे फोटो द्वारा नकल की गई मद्रास-लायब्रेरी की प्रति में केवल १-१-५५ सूत्रों तक ही त्रुटित टीका मिलती है। कुछ वर्ष पूर्व पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु द्वारा इसके प्रारंभिक भाग का प्रकाशन प्रारंभ हुआ था, किंतु पस्पशाह्निक भी समाप्त नहीं हुआ। महाभाष्य के गूढ़ार्थ को स्पष्ट करने का मुख्य श्रेय काश्मीरी विद्वान् कैयट (एकादश विक्रम शतक) को है। कैयट ने अपनी भूमिका में लिखा है कि मैं भर्तृहरि की टीका के सहारे अपनी टीका लिख रहा हूँ। इसमें संदेह नहीं कि कैयट की प्रदीप व्याख्या के अभाव में महाभाष्य के रहस्य का समझना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य था। कैयट ने एक-देशिन् और सिद्धान्तिन् भाष्य की छानबीन कर भिन्न प्रतीयमान मतों का समन्वय दिखाकर महाभाष्य के अध्ययन को सुगम बनाया है। षोडश वि० शतक के पूर्व रची गई निम्नलिखित टीकाओं का उल्लेख मिलता है—धनेश्वर की चिन्तामणि नामक महाभाष्य टीका, नारायण और ईश्वरानंद की प्रदीप पर विवरण नामक टीकाएँ। नागेशभट्ट (१९ वाँ वि० शतक-पूर्वपाद) ने प्रदीप पर उद्योत नाम की टीका लिखी। इस टीका में नागेश के महाभाष्य का प्रकांड पंडित होने का प्रमाण पदे पदे मिलता है। महाभाष्य का गंभीर आलोडन कर उन्होंने जो मथितार्थपूर्ण टीका लिखी, उससे तत्कालीन वैयाकरणों में उनका उच्च स्थान निर्विवाद है। उद्योत पर नागेशभट्ट के शिष्य वैद्यनाथ पायगुंडे ने छाया नामक टीका लिखी। अभी हाल ही में काशी के गुरुप्रसाद शास्त्री ने राजलक्ष्मी नामक टिप्पण्यात्मक व्याख्या के साथ प्रदीपोद्योत सहित संपूर्ण महाभाष्य को प्रकाशित किया है। पूना से अभ्यंकरशास्त्री द्वारा मराठी अनुवाद सहित महाभाष्य के दो अध्याय प्रकाशित हो चुके है।

महाभाष्य पर अद्यावधि रची गई टीकाओं का यह संक्षिप्त विवरण है। अब हम पाणिनीय व्याकरण के अन्य ग्रंथों का परिचय, निम्नलिखित

क्रम से देंगे। अष्टाध्यायी-क्रमानुसारी ग्रंथ, विषयक्रमानुसारी ग्रंथ, अर्थ-मीमांसापरक ग्रंथ, सहायक ग्रंथ।

अष्टाध्यायीक्रमानुसारी ग्रंथ

विक्रमयुग के प्रथम पाँच छः शतकों में व्याकरण संबंधी कार्य, शिष्टभाषा में अन्य प्राकृत भाषाओं के संपर्क के कारण होनेवाले परिवर्तनों और नव प्रयुक्त शब्दों के उपपादन तक ही सीमित था। पाणिनीयेतर संप्रदायों ने नए नियम रचकर नवीन व्याकरणसंप्रदाय (कातंत्र, चांद्र आदि) चलाए। किंतु पाणिनीयसंप्रदाय में पतंजलि-निर्दिष्ट मार्ग से व्याख्यानविशेष द्वारा अभीप्सित अर्थ निकाला जाता था। भर्तृहरि के पूर्व चंद्राचार्य द्वारा महाभाष्य प्रचार के साथ साथ पाणिनीय व्याकरण भी पुनः जोर से प्रचलित हुआ। इस पुनः प्रचार में ब्राह्मणधर्मीयेतरों का भी सहयोग था। सृष्टिधराचार्य (१७ वाँ वि० शतक) के अनुसार भर्तृहरि ने भागवृत्ति नामक टीका अष्टाध्यायी पर लिखी थी। यद्यपि क्रमदीश्वर (नवम वि० शतक), जुमरनंदिन (एकादश वि० शतक) के व्याकरण ग्रंथों में इस टीका के अवतरण उपलब्ध हैं, तथापि मूल टीका अप्राप्य है। अतः अष्टाध्यायीक्रमानुसारी ग्रंथों में सर्वप्रथम उल्लेख 'काशिकावृत्ति' का होना चाहिए। काशिका के लेखक जयादित्य और वामन बौद्धधर्मीय थे। प्रसिद्ध चीनी यात्री इत्सिंग के कथनानुसार जयादित्य का देहावसान ७५६ वि० सम्वत् में हुआ और १६ वर्ष के छात्रों को काशिका-वृत्ति ५ वर्ष में पढ़ाई जाती थी। ५ अध्याय तक काशिकावृत्ति जयादित्य ने लिखी थी, शेष ३ अध्यायों पर वामन ने लिखी। काशिकावृत्ति में प्रत्येक सूत्र का स्पष्ट अर्थ, अपेक्षित वार्तिक और सुगम उदाहरण दिए गए हैं। भट्टोजी दीक्षित की सिद्धांतकौमुदी के सामने काशिका का प्रचार बंद सा हो गया है। किंतु पूर्वसूत्र से पदों की अनुवृत्ति का ज्ञान कराते हुए सूत्रार्थ के विकास का दिग्दर्शन कराने के कारण काशिका का महत्त्व आज भी अक्षुण्ण है। हर्ष की बात है कि काशी की राजकीय व्याकरणपरीक्षाओं में काशिका का हाल ही में अंतर्भाव किया गया है। काशिका पर बौद्ध जिनेंद्रबुद्धि ने (अष्टम वि० शतक) न्यास या विवरणपंजिका नामक विस्तृत टीका लिखी है, जो राज-

शाही (बंगाल) से प्रकाशित हो चुकी है। मैत्रेय रक्षित (द्वादश वि० शतक) द्वारा न्यास पर लिखी 'तंत्रप्रदीप' टीका का उल्लेख मिलता है। पुरुषोत्तमदेव (त्रयोदश वि० शतक) की भाषावृत्ति (राजशाही से प्रकाशित) इसी टीका के आधार पर लिखी गई थी। काशिका पर दूसरी प्रसिद्ध टीका हरदत्त (१२ वाँ वि० शतक) की पदमंजरी (बनारस से प्रकाशित) है। इसमें कैयट के प्रदीप का प्रभाव यत्रतत्र दीख पड़ता है। न्यासकार के मतों के खंडन की ओर हरदत्त की विशेष प्रवृत्ति है। अन्नंभट्ट (१७ वाँ वि० शतक) की अष्टाध्यायी पर मिताक्षरा टीका (बनारस से प्रकाशित) सरल और उपादेय है। इसमें महाभाष्य और काशिका के भेद-स्थलों का निर्देश किया गया है। पदमंजरी के बाद अष्टाध्यायीक्रमानुसार टीकाग्रंथों की रचना प्राय: बंद हो जाती है और विषयक्रमानुसार लिखे ग्रंथ मिलते हैं। अपवादस्वरूप दो ग्रंथों का निर्देश आवश्यक है। पहिला ग्रंथ भट्टोजी दीक्षित (सप्तदश वि० शतक का उत्तरार्ध) का शब्दकौस्तुभ है, जो अष्टाध्यायीस्थ क्रम से सूत्रों की महाभाष्यार्थसंवलित गहन व्याख्या है। प्रसिद्ध वैयाकरण भट्टोजीदीक्षित की इस कृति में महाभाष्य का आलोडन कर सूत्रव्याख्या-विषयक गंभीर विवेचन किया गया है। विशिष्ट शैली के कारण महाभाष्य-टीका न कहकर इसे सूत्रव्याख्या पर एक स्वतंत्र ग्रंथ कहना चाहिए। पूर्व वैयाकरणों के मतों का खंडन-मंडन और पांडित्यपूर्ण शैली में, भाष्यार्थ का अवतरण देकर, विषय प्रतिपादन-इसकी विशेषता है। अभाग्यवश यह ग्रंथ अभी अपूर्ण ही (४ अध्याय तक—त्रुटित रूप में) बनारस से प्रकाशित है। वैद्यनाथ पायगुंडे ने इस पर प्रभा नामक टीका लिखी थी। दूसरा ग्रंथ स्वामी दयानंद का बालि-छात्रपयोगी अष्टाध्यायी-भाष्य है। यह भी अजमेर से डा० रघुवीर द्वारा अपूर्ण ही प्रकाशित है। इसकी प्रतिपादनशैली में सरलता है और यत्रतत्र मौलिकता दिखाने का प्रयत्न किया गया है।

विषयक्रमानुसारी ग्रंथ

हिंदू राज्य-काल की समाप्ति पर संस्कृतभाषा शिष्टभाषा या राजभाषा भी न रही। जनसंपर्क से अधिक दूर हो जाने से संस्कृत अब अधिक दुर्बोध हो गई थी। फलत: आवश्यक व्याकरण ज्ञान प्राप्त करने के लिये अष्टाध्यायी-

सूत्रक्रम की उपादेयता कम हो गई थी। संस्कृत व्याकरण के विद्वान् अष्टाध्यायी-क्रम से भले ही लाभ उठा लें, किंतु नव विद्यार्थी के लिये अष्टाध्यायी-क्रम द्वारा व्याकरण ज्ञान प्राप्त करना सुलभ न था। इस स्थिति में पाणिनीय वैयाकरणों ने एक नई प्रणाली का अनुसरण किया। इस नवीन प्रणाली के ग्रंथों में विषयानुसार सूत्रों का विन्यास तो किया गया ही, साथ ही प्रकरण में दिए गए उदाहरणों की सिद्धि के आवश्यक अन्य सूत्र भी उसी स्थल पर विन्यस्त किए गए। फल यह हुआ कि अष्टाध्यायी के सूत्र-क्रम को छोड़कर संधि, सुबंत तिङंत, कृदंत आदि प्रकरण अलग अलग रखे गए और आवश्यक अन्य सूत्र भी उपयोगिता की दृष्टि से भिन्न भिन्न स्थलों से निकाल कर उयुपक्त स्थलों में दिए गए। अष्टाध्यायी में संक्षिप्तता लाने के लिये सुबोधता पर ध्यान नहीं दिया गया था। सुधी उपास्यः से सुद्ध्युपास्यः सिद्ध करने के लिये अष्टाध्यायी के भिन्न भिन्न स्थलों से यण्विधायक सूत्र, ध् का द्वित्त्वविधायक सूत्र, ध् को द् बनाने का सूत्र तथा अन्य आवश्यक परिभाषासूत्र एक ही स्थान में रखना आवश्यक था। यह काम सुचारु रूप से पाणिनीय वैयाकरणों ने परिवर्तन-वादी बनकर किया। परंपरावादी का हठ छोड़कर सूत्रक्रम का परिवर्तन करने में उन्होंने आनाकानी नहीं की। इस दिशा में प्रथम प्रयत्न विमल सरस्वती (११ वाँ वि० श०) की रूपमाला और धर्मकीर्ति (११ वाँ वि० श०) का रूपावतार हैं। रूपावतार, राजेंद्र चोड के आज्ञानुसार पाठशालाओं में संस्कृत व्याकरण पढ़ाने के लिये लिखा गया था। रामचंद्र (१४ वाँ वि० श०) की प्रक्रियाकौमुदी इस दिशा में अधिक सुव्यवस्थित प्रयत्न है। इसका आधार लेकर भट्टोजी दीक्षित ने सिद्धांतकौमुदी की रचना की। प्रक्रिया-कौमुदी पर मूलग्रंथ-लेखक के पौत्र विट्ठल ने प्रसाद नामक टीका तथा भट्टोजी दीक्षित के गुरु शेषकृष्ण ने प्रकाश नामक टीका लिखी। रूपमाला, रूपावतार और प्रक्रियाकौमुदी में अष्टाध्यायी के सब सूत्र नहीं दिए गए। वैदिक भाग तो अधिक अपूर्ण है। इस दोष का मार्जन करने के लिये भट्टोजी दीक्षित ने सिद्धांतकौमुदी की रचना की। यहाँ पर तत्कालीन केरल के प्रसिद्ध वैयाकरण नारायण भट्ट के प्रक्रियासर्वस्व का उल्लेख करना आवश्यक है। नारायण भट्ट दक्षिण भारत में भट्टोजीदीक्षित के प्रतिस्पर्धी माने जाते हैं।

दोनों के संबंध में एक दूसरे से मिलने की इच्छा के (मृत्यु के कारण) अपूर्ण रह जाने की कथा कही जाती है। प्रक्रियासर्वस्व २० खंडों में लिखा गया है। इसके प्रथम ४ खंड त्रिवेंद्रम से तथा ५ वाँ खंड (तद्धित) और १९ वाँ खंड (उणादि) मद्रास से हाल में प्रकाशित हुए हैं। प्रसिद्ध किंतु अपाणिनीय पदों को मान्यता देकर नारायण भट्ट ने स्वतंत्रता दिखाई है। 'विश्रामस्यापशब्दत्वं वृत्त्युक्तं नाद्रियामहे। मुरारि भवभूत्यादीनप्रमाणीकरोति कः' श्लोक में उन्होंने यही कहा है। किंतु भट्टोजी दीक्षित की सिद्धांतकौमुदी के सामने प्रक्रियासर्वस्व को भी झुकना पड़ा। सिद्धांतकौमुदी की महत्ता इसी से स्पष्ट है कि इस पर टीकाओं और उपटीकाओं की संख्या अत्यधिक है और आज भी समस्त भारत में इसका मान और प्रचार है। भट्टोजी दीक्षित ने अपने पूर्ववर्ती पाणिनीय वैयाकरणों का सूक्ष्म अध्ययन किया था। सिद्धांतकौमुदी की स्वरचित टीका प्रौढ़मनोरमा में पदे पदे सूत्रार्थविचार के अवसर पर नामनिर्देशसहित वृत्ति, न्यास, पदमंजरी, प्रसाद, प्रकाश का खंडन उन्होंने किया है। अष्टाध्यायी पर उनके महाभाष्यार्थसंवलित विस्तृत व्याख्या-ग्रंथ शब्दकौस्तुभ का निर्देश ऊपर हो चुका है। भट्टोजी दीक्षित के समय में सूत्रों के अर्थ-चिंतन पर और उनके प्रयोग से संभूत पदों के रूपों पर लक्षणैकचक्षुष्क दृष्टि से अत्यधिक और (कभी कभी) हास्यावह ध्यान दिया जाता था। सम् + कर्ता के ससंधिक १०८ रूप और गो + अञ्च् (गामञ्चतिय: स:) प्रकृति से सातों विभक्तियों में निष्पन्न ५२७ रूप इसके उदाहरण हैं। इष्ट लक्ष्यों से ध्यान हटाकर केवल लक्षणों (सूत्रों) पर ध्यान देने का यह स्वाभाविक परिणाम है। सिद्धांतकौमुदी पर प्रसिद्ध टीकाओं में नागेशभट्ट का शब्देंदुशेखर, ज्ञानेंद्र सरस्वती की तत्त्वबोधिनी, वासुदेव दीक्षित (१९ वाँ वि० श०) की बालमनोरमा (छात्रों के लिये अत्युपयोगिनी), शिवदत्त दाधिमथ की सारदर्शिनी टीका उल्लेखनीय हैं। स्वरवैदिकीप्रक्रिया पर जयकृष्ण की सुबोधनी प्रकाशित सिद्धांतकौमुदी के संस्करणों में पाई जाती है। अभी हाल ही में मद्रास से श्रीनिवास यज्वन् (१८ वाँ वि० श०) की स्वरप्रक्रिया पर स्वरसिद्धांतचंद्रिका नामक टीका प्रकाशित हुई है जो वैदिक उदाहरणों की विविधता के कारण उपादेय है। अन्य नूतनतम (सिद्धांतकौमुदी पर) टिप्पणीकारों का नामोल्लेख स्थानसंकोचवश असंभव है। प्रौढ़मनोरमा

और शब्देंदुशेखर पर विद्वत्तापूर्ण उपटीकाओं का आगे निर्देश किया जागया। पाणिनीय व्याकरण के इतिहास में यह काल खंडन-मंडन का युग कहा जा सकता है। सिद्धांतकौमुदी के बाद मूल ग्रंथ पर टीका लिखने की प्रथा बंद सी हो गई थी। जटिल भाषा में गहन टीका लिखना चालू हो गया था। विचार-स्वातंत्र्य का प्रदर्शन पूर्ववर्ती ग्रंथकारों के मत-खंडन में किया जाता था। इन सब उपटीकाओं का विवरण देना असंभव होने से केवल नाम का उल्लेख किया जाता है। इनके महत्त्व के विषय में चर्चा अंत में की जायगी। प्रौढमनोरमा पर पंडितराज जगन्नाथ की मनोरमाकुचमर्दिनी (पञ्चसन्ध्यन्त प्रकाशित), चक्रपाणि और कृष्णभट्ट मौनीका मनोरमाखंडन (द्वितीयकारकांत प्रकाशित) उल्लेखनीय हैं। मनोरमा पर नागेशभट्ट द्वारा अपने गुरु हरि दीक्षित के नाम से लिखी शब्दरत्न नामक टीका पर भागवत हरिशास्त्री की चित्रप्रभा (कारकांत), वैद्यनाथ पायगुंडे का भावप्रकाश, भैरवमिश्र की रत्नप्रकाशिका उल्लेखनीय हैं। सिद्धांतकौमुदी की नागेश भट्टरचित टीका शब्देंदुशेखर पर वैद्यनाथ पायगुंडे की चिदस्थिमाला, भैरव मिश्र की चंद्रकला, सदाशिव भट्ट की भट्टी, राघवेंद्राचार्य की विषमी, दंड भट्ट की अभिनव चंद्रिका, खुद्दी झा का नागेशोक्ति प्रकाश (नपदान्तसूत्रांत) आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें से अधिकांश केवल महत्त्वपूर्ण अंशों पर लिखी गई हैं। प्रौढमनोरमा और लघुशब्देंदुशेखर के अनेकटीकोपेत नूतन संस्करणों में माधव शास्त्री भंडारी, सदाशिव शास्त्री एवं गुरुप्रसाद शास्त्री आदि आधुनिक विद्वानों ने अपनी टिप्पण्यात्मक टीकाएँ लिखी हैं। इन विद्वानों की गहन टीकाओं से व्याकरणज्ञान की अपेक्षा करना वृथा है, क्योंकि ये टीकाएँ 'बालानां सुखबोधाय' नहीं लिखी गई हैं। विद्यार्थियों के उपकार के लिये वरदराज (भट्टोजी दीक्षित के शिष्य) ने मध्यसिद्धांतकौमुदी, लघुसिद्धांत कौमुदी और सारसिद्धांतकौमुदी-तीन संक्षिप्त संस्करण बनाए थे। आजकल विद्यार्थिगण द्वितीय पुस्तक से पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन प्रारंभ करते हैं।

अर्थमीमांसा पर ग्रंथ

अभी तक पदों की रचना से संबंध रखनेवाले पाणिनीय व्याकरण-ग्रंथों का विवरण दिया गया है। किंतु पदरचना के साथ आरंभ ही से पदार्थ

मीमांसा भी पाणिनीय सम्प्रदाय में पाई जाती है। महर्षि व्याडि ने अपने संग्रह ग्रंथ में, जिसका विस्तार नागश के कथनानुसार लक्षश्लोकात्मक था, शब्द की नित्यानित्यता, शब्द और अर्थ के संबंध का स्वरूप आदि विषयों पर ऊहापोहपूर्वक विस्तार से विचार किया था। दुर्भाग्य से यह ग्रंथराज अभी तक अनुपलब्ध है। भर्तृहरि (सप्तम वि० श० उत्तरार्ध) का वाक्यपदीय, जिसमें स्फोटवाद और शब्दविवर्तवाद सर्वप्रथम सविधि प्रतिपादित किया गया है, एक प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसके प्रथम कांड पर वृषभदेव की, द्वितीय पर पुण्यराज की और तृतीय पर हेलाराज की टीकाएँ प्रकाशित हैं। भट्टोजी दीक्षित की ७४ कारिकाओं पर, जो उन्होंने शब्दकौस्तुभ में निष्कर्ष के तौर पर निर्णीत की थी, उनके भतीजे कौंड भट्ट ने वैयाकरणसिद्धांतभूषण नामक टीका लिखी है। इसमें व्याकरणशास्त्र से सम्बद्ध सभी अर्थ-विषयों पर (जैसे धात्वर्थ, प्रत्ययार्थ, कारकार्थ, समासार्थ आदि) विशद प्रकाश डाला गया है। इसके संक्षिप्त संस्करण वैयाकरणसिद्धांतभूषणसार पर भैरव मिश्र की परीक्षा, कृष्णमित्र का भूषण, खुद्दी झा का तिङर्थवाद, हरिवल्लभ का दर्पण प्रकाशित हैं। नागेशभट्ट की लघुमंजूषा (परमलघुमंजूषा इसका उपादेय संक्षिप्त संस्करण है) पदार्थ-चर्चा विषयक महत्त्वपूर्ण सिद्धांतग्रंथ है और इसमें सभी विषयों पर न्याय, मीमांसा आदि शास्त्रांतरों के मतों का खंडन कर स्वमतस्थापन किया गया है। इसकी टीकाओं में वैद्यनाथ पायगुंडे की कला, कृष्णमित्र की कुंचिका (अपूर्ण प्रकाशित) और सभापति उपाध्याय की रत्नप्रभा विशेष उल्लेख के योग्य हैं। जगदीश की शब्दशक्तिप्रकाशिका और गदाधर के व्युत्पत्तिवाद का, नव्यन्यायशैली से प्रभावित नूतन व्याकरणसंप्रदाय में, प्रचार है। अन्य एकांगी ग्रंथों में स्फोटवाद पर मंडन मिश्र और भरत मिश्र की स्फोटसिद्धि, कृष्णभट्ट मौनी की स्फोटचंद्रिका विशेष उल्लेखनीय हैं।

सहायक ग्रंथ

अष्टकं गणपाठश्च धातुपाठस्तथैव च।
लिङ्गानुशासनं शिक्षा पाणिनीया अमी क्रमात् ॥

पाणिनीय व्याकरण के मूल ग्रंथों के नाम ऊपर के श्लोक में दिए गए हैं। अष्टक (अष्टाध्यायी) का विवरण ऊपर आ चुका है। संक्षिप्तता लाने के लिये

पाणिनि ने सूत्रों में सब शब्दों का निर्देश नहीं किया था, उन शब्दों को गणपाठ में अंतर्भूत किया गया था। २५८ सूत्रों में गणों का निर्देश किया गया है। इन गणों में कुछ तो आकृतिगण हैं, जिनमें अन्य वांछनीय शब्दों का प्रक्षेप किया जा सकता है। किंतु अन्य गणों के संबंध में भी उत्तरकालीन प्रक्षेप का संदेह होता है। भिन्न भिन्न गणों पर (जैसे निपात, अव्यय, उपसर्ग आदि) अनेक अर्थबोधक टीकाएँ लिखी गई हैं। किंतु सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ, वर्धमान (१२०० वि० श०) का स्वरचित टीका सहित पद्यमय गणरत्न महोदधि है, जो सर्वांगपूर्णता की दृष्टि से उपादेय है। पाणिनीय धातुपाठ में १९९४ धातुएँ हैं, जिनमें २० सौत्र धातु शामिल नहीं है। इस पर क्षीरस्वामिन् (१२०० वि० सं०) की क्षीरतरंगिणी (जर्मनी से प्रकाशित), मैत्रेयरक्षित (११५० वि० सं०) का धातुप्रदीप तथा सायण-माधव (१४०० वि० सं०) की प्रसिद्ध माधवीय धातुवृत्ति (बनारस और मैसूर से प्रकाशित) उल्लेखनीय हैं। उपयोगी सूत्रों से सिद्धिसहित धातुसाधित विशिष्ट रूप जानने के लिये इन टीकाओं का महत्त्व अमूल्य है। उपलब्ध पाणिनीय लिंगानुशासन में १८७ सूत्र हैं। यामुनाचार्य के अनुसार व्याडि ने भी लिंगानुशासन रचा था। सिद्धांतकौमुदी के प्रचलित संस्करणों में लिंगानुशासन भैरवमिश्र की टीका के साथ प्रकाशित है। हाल में बड़ौदा से वामनकृत लिंगानुशासन, मद्रास से पृथ्वीश्वरकृतटीका-समेत हर्षवर्धनकृत लिंगानुशासन प्रकाशित हुए हैं। वररुचि, हर्षवर्धन और शाकटायन के लिंगनुशासन भी फ़्रैंक द्वारा पहिले ही से प्रकाशित हैं। उपलब्ध पाणिनीय शिक्षा में ५८ श्लोक मिलते हैं। २१ श्लोकों की लंदन में उपलब्ध शिक्षा संभवतः पाणिनि की मूल शिक्षा है। भारतीय संस्करणों में प्रक्षिप्त सामग्री है, इसमें संदेह नहीं। गणपाठ, धातुपाठ, लिंगानुशासन और शिक्षा के अतिरिक्त उणादि सूत्र, फिट् सूत्र और परिभाषाएँ भी पाणिनीय संप्रदाय में अंतर्भूत हैं। उणादिपाठ साधारणतया शाकटायनकृत माना जाता है। निरुक्त और महाभाष्य में पाए गए उल्लेखों से ज्ञात होता है कि शाकटायन व्युत्पत्तिपक्षवादी थे और संभव है उन्होंने व्युत्पत्तिपक्ष सिद्ध करने के लिये उणादि सूत्र लिखे हों। पाणिनि ने 'उणादयो बहुलम्' कहकर उणादिसूत्र को टाल दिया है। तो भी पाणिनि-सूत्रों में उणादि प्रत्ययों का निर्देश सूचित करता है कि पाणिनीय

संप्रदाय में उणादिपाठ मान्य होना चाहिये। वररुचि द्वारा भी उणादिपाठ रचे जाने का उल्लेख विमल सरस्वती ने किया है। वर्तमान उपलब्ध उणादिपाठ पर उज्ज्वलदत्त और ज्ञानेंद्र सरस्वती की टीकाएँ मिलती हैं, जिनमें कोशकारों और कवियों की कृतियों के ज्ञातव्य अवतरण दिए गए हैं। हाल में मद्रास से कातंत्र-संप्रदाय और भोज-संप्रदाय के उणादिपाठ के साथ-साथ पाणिनीय उणादिपाठ पर श्वेतवनवासिन् (१६०० वि० सं०) की वृत्ति और पेरुसूरि (१६४० वि० सं० के बाद) की पद्यमय टीका 'औणादिकपदार्णव' प्रकाशित हुई हैं। पाणिनि ने स्वयं कई परिभाषाएँ ((सूत्रव्याख्या करने के नियम) अष्टाध्यायी में दी हैं। इनके अतिरिक्त अन्य लोकसिद्ध परिभाषाएँ पाणिनि को मान्य रही होंगी। पतंजलि ने महाभाष्य में अनेक सूत्रज्ञापित परिभाषाओं को मान्य किया है। किंतु परिभाषाओं पर स्वतंत्र ग्रंथ सर्वप्रथम व्याडि का है, उसकी प्रति कलकत्ता (एशियाटिक सोसायटी, लायब्रेरी) में उपलब्ध है। अन्य प्रकाशित परिभाषापाठों में सीरदेव की परिभाषावृत्ति और नागेशभट्ट का प्रसिद्ध परिभाषेंदुशेखर उल्लेखनीय हैं। इसमें प्रत्येक परिभाषा का अर्थ, विवरण, उदाहरण, प्राचीन मतों की समीक्षा देकर अंत में वाचनिकी, ज्ञापक-सिद्धा और लोकन्यायसिद्धा का भेद दिखाया गया है। इस पर भी नूतन वैयाकरणों ने विद्वत्तापूर्ण टीकाएँ लिखी हैं। वैद्यनाथ पायगुंडे की गदा, भैरव मिश्र की भैरवी, राघवेंद्राचार्य की त्रिपथगा, रामकृष्ण (तात्या) शास्त्री की भूति, जयदेव मिश्र की विजया प्रसिद्ध हैं। अंतिम टीकाओं में नव्यनैयायिक शैली का अनुसरण कर 'परिष्कार' के रूप में विषयप्रतिपादन किया गया है। प्रातिपदिकों के मौलिक स्वर का ज्ञान कराने के लिये शांतनवाचार्य प्रणीत फिट्सूत्र (४ पादों में ८७ सूत्र) भी पाणिनीय संप्रदाय में पढ़ाया जाता है। इस पर जयकृष्ण की सुबोधिनी टीका प्रकाशित है।

इतरव्याकरण-संप्रदाय

इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः॥

इस श्लोक में बोपदेव (१३वाँ वि० श०) ने आठ आदिशाब्दिकों का निर्देश किया है। इनमें से इंद्र और चंद्र का विवरण आगे मिलेगा।

काशकृत्स्न और आपिशलि पाणिनि-पूर्वकालीन वैयाकरण थे तथा काशकृत्स्न के ग्रंथ में ३ भाग थे–यह पाणिनीय सूत्र (६-१-९२), काशिका (४-२-६७; ५-१-५८ ७-३-९५) और कैयट (५-१-२१) के उल्लेखों से स्पष्ट हैं। अमर यद्यपि कोशकार के रूप में सुपरिचित हैं, तथापि वे शाब्दिक भी कहे जा सकते हैं। उनके ग्रंथ की टीकाओं में सूत्रों से पदसिद्धि की गई है। शाकटायन और जैनेंद्र का विवरण आगे दिया जायगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि १३वें वि०श० में ये आठ संप्रदाय प्राचीन माने जाते थे। इनके अतिरिक्त और भी अनेक पाणिनीयेतर संप्रदायों का प्रादुर्भाव और विकास हुआ। पाणिनीयेतर संप्रदायों के संक्षिप्त विवरण देने के पूर्व यह आवश्यक है कि इन संप्रदायों के प्रादुर्भाव की आवश्यकता समझ ली जाय। पहले कहा जा चुका है कि पाणिनिसदृश महावैयाकरण द्वारा कड़े नियमों से जकड़ी जाने पर भी संस्कृत भाषा का रूप स्थिर न रहा। नये परिवर्तनों को मान्यता प्रदान करने के लिये कात्यायन आदि वैयाकरणों को नये नियम बनाने पड़े या पाणिनीय सूत्रों में हेरफेर कर उन परिवर्तनों को पाणिनि की चहारदीवारी में बैठाया गया। किंतु इस प्रयत्न में कृत्रिमता थी और साथ ही उत्तरकालीन परिवर्तनों को पाणिनि के सिर पर लादने में ऐतिहासिक सत्य का विपर्यास था। इतना सब करने पर भी ध्येय-सिद्धि पूर्णतः असंभव थी, क्योंकि परिवर्तनों की संख्या कालातिक्रम से बढ़ती ही जाती थी और पाणिनि की चौखट में इन सभी परिवर्तनों के लिये स्थान अपर्याप्त था। यह बात ठीक है कि संस्कृत भाषा अब केवल साहित्यिक या शिष्टभाषा थी और शनैः शनैः पंडित भाषा बन रही थी; अतः इस समय परिवर्तनों का क्रम बहुत धीमा रहा होगा। लेकिन तो भी परिवर्तन काल पाकर दृष्टिगोचर होते ही थे। 'फलेग्रहिः' के समान 'मलग्रहिः', 'स्तनन्धयः' के समान 'आस्यन्धयः' और 'पुष्पन्धयः', 'नाडिन्धमः' के समान 'करन्धमः' पदों की उपपत्ति आवश्यक थी, जो कातंत्र व्याकरण में की गई है। पाणिनि के अनुसार म् के स्थान में अनुस्वार व्यंजन के पूर्व ही हो सकता है, अंत में नहीं। कातंत्र और सारस्वत संप्रदाय में अंत में भी अनुस्वार मान्य किया गया है। प्रक्रियासर्वस्वकार नारायणभट्ट के ये श्लोक इस संबंध में मननीय हैं—

पाणिन्युक्तं प्रमाणं न तु पुनरपरं चन्द्रमोजादिशास्त्रं
केप्याहुस्तन्नधिष्ठं न खलु बहुविदामस्ति निर्मूलवाक्यम् ।
बह्वङ्गीकारभेदो भवति गुणवशात्पाणिनेः प्राक्कथं वा
पूर्वोक्तं पाणिनिश्चाप्यनुवदति विरोधेऽपि कल्प्यो विकल्पः ॥

फलतः उत्तरकालीन वैयाकरणों ने नवीन व्याकरण रचने में ही कल्याण देखा। अपने समय और प्रदेश में इन संप्रदायों ने उद्देश्यसिद्धि में सफलता पाई। प्रारंभिक छात्रों के लिये ये नवीन ग्रंथ अवश्य ही अधिक लाभदायक सिद्ध हुए होंगे। लेकिन ये नवीन व्याकरण अपने देशकाल की परिधि में ही फूले फले और पाणिनीय संप्रदाय की अखिलभारतीय कीर्ति इन्हें न मिली। इसकी कारणमीमांसा आगे की जायगी।

इंद्र संप्रदाय

सर्वप्रथम भाषा का व्याकरण (विश्लेषण) करनेवाले देवराज इंद्र के नाम से इस संप्रदाय का नाम चला। महाभाष्य में लिखा है कि बृहस्पति से सुदीर्घ काल तक भाषा का व्याकरण, प्रतिपदपाठ की पद्धति से, इंद्र ने पढ़ा, किंतु उससे विशेष लाभ नहीं हुआ। अतः सामान्य और विशेष नियम बनाकर इंद्र ने व्याकरण रचा होगा। इंद्र का व्याकरण आज अनुपलब्ध है। कथासरित्सागर से ज्ञात होता है कि पाणिनि व्याकरण के कारण इंद्र व्याकरण तिरोभूत हुआ। तिब्बती इतिहास-लेखक तारानाथ का कहना है कि इंद्र व्याकरण के आधार पर कातंत्र व्याकरण की रचना हुई। बर्नेल के कथनानुसार प्राचीन तामिल व्याकरण 'तोल्काप्पियम्' इंद्र व्याकरण से अनेक अंशों में प्रभावित है। जो कुछ हो, वर्तमान समय में इंद्र व्याकरण का अस्तित्व केवल कथाओं में है।

कातंत्र व्याकरण

दक्षिणभारत के शातवाहन नृप शर्ववर्मन् (द्वितीय वि० श०) को अल्पकाल में व्याकरण सिखाने के लिये लगभग ८४० सूत्रों में, पाणिनि-व्याकरण की जटिलताओं को बचाते हुए, यह सरल व्याकरण रचा गया था। मूल ग्रंथ में केवल संधि, शब्दरूप और धातुरूप थे। बाद में इसे अधिक

उपयोगी बनाने के लिये कृत् और तद्धित प्रकरण जोड़े गए। प्रत्याहार सूत्रों के स्थान में प्रचलित वर्णमाला काम में लाई गई है। गरुड़ पुराण में (२०३—४ अध्याय) कातंत्र व्याकरण के सूत्र और उदाहरण पद्यमय रूप में दिये गये हैं। बंगाल में १६, १७ वि० श० के वैयाकरणों ने ग्रंथ रचना कर इसे पाणिनि संप्रदाय के समकक्ष बनाने का प्रयत्न किया। बंगाल के कुछ जिलों में आज भी इसका प्रचार है। अष्टम वि० श० में दुर्गसिंह ने मूलग्रंथ पर वृत्ति लिखी थी। उसके पहिले से ही काश्मीर में कातंत्र का प्रचार प्रारंभ हो गया था। आज भी काश्मीर में पढ़ाए जानेवाले व्याकरण ग्रंथ कातंत्र संप्रदाय के परिवर्तित संस्करण हैं।

चंद्र संप्रदाय

इसके प्रवर्तक बौद्ध विद्वान् चंद्रगोमिन् पंचम वि० शतक में हुए। महाभाष्य के उद्धारक चंद्राचार्य से ये भिन्न हैं या नहीं, इसमें संदेह है। इनके व्याकरण में पाणिनि से उल्लेखनीय विशेषता उन ३५ सूत्रों में है, जिन्हें कैयट ने अपाणिनीय कहा है और जो काशिकावृत्ति में नामोल्लेख किए बिना सन्निविष्ट किए गए हैं। चंद्रगोमिन् की स्वरचित वृत्ति आज अपूर्ण उपलब्ध है और धर्मदास की वृत्ति में अंतर्भूत है। बुद्धधर्मियों में इस संप्रदाय का विशेष प्रचार हुआ। सुना जाता है कि तिब्बत और लङ्का में इसके लघुसंस्करणों का आज भी प्रचार है*।

जैनेंद्र संप्रदाय

पंचम वि० श० में देवनंदिन् ने जैनेंद्र व्याकरण लिखा। पाणिनि संप्रदाय के सूत्रों और वार्तिकों को मिलाकर इसके सूत्र रचे गए। विभाषा, अन्यतरस्याम् के स्थान पर एकाक्षर 'वा' शब्द का प्रयोग किया गया है। एवमेव अप् (चतुर्थी), भा (पंचमी) आदि एकाक्षर पारिभाषिक शब्द गढ़कर लाघव किया गया है। इसके लघुसंस्करण पर अभयनंदिन् (८०० वि० श०) ने

---

* अग्निपुराण ३५६।८ में चान्द्र व्याकरण के अध्ययन का उल्लेख आया है।

और बड़े संस्करण पर सोमदेव (१२५० वि० श०) ने टीकाएँ लिखीं। दक्षिण भारत के दिगंबर जैन संप्रदायों में कहीं कहीं इसका प्रचार मिलता है।

शाकटायन संप्रदाय

इसके प्रवर्तक व्युत्पत्तिपक्षवादी शाकटायन से भिन्न हैं या नहीं, यह संदिग्ध है। उपलब्ध शाकटायन व्याकरण नवम वि० श० मे श्वेतांबर जैनियों में प्रचारार्थ लिखा गया था। चंद्र और जैनेंद्र व्याकरणों का प्रभाव इसमें स्पष्ट है। ग्रंथकार ने स्वयं एक वृत्ति अमोघवृत्ति नामक लिखी है।

भोज-संप्रदाय

प्रसिद्ध नृप भोज ने ११वें वि० श० में सरस्वतीकंठाभरण नामक व्याकरण ग्रंथ लिखा। इसके ६००० सूत्रों में सभी आवश्यक विषय उणादि-सूत्र, फिट्सूत्र आदि सम्मिलित कर लिए गए हैं। वैदिक व्याकरण का भी निरूपण किया गया है। मद्रास से संपूर्ण मूलग्रंथ हाल ही में प्रकाशित हुआ है। दंडनाथ की हृदयहारिणी टीका ४ खंड तक त्रिवेंद्रम् से प्रकाशित हो चुकी है। इस व्याकरण में पाणिनि के उत्तरकालीन परिवर्तनों को मान्य कर तदनुसार नियम दिए गए हैं।

हेमचंद्र संप्रदाय

प्रसिद्ध जैनविद्वान् हेमचंद्र (११ वाँ वि० श०) का शब्दानुशासन ८ अध्यायों में है। अंतिम अध्याय में तत्कालीन प्राकृत भाषाओं का व्याकरण दिया गया है। इसका अपर नाम सिद्धहेमचंद्र है, जिसमें 'सिद्ध' शब्द आश्रय-दाता सिद्धराज का स्मारक है। बृहद्वृत्ति और लघुवृत्ति नामक दो टीकाएँ ग्रंथकार ने स्वयं लिखी हैं। सूत्रों का उदाहरण देने के लिये हेमचंद्र ने अत्युपयोगी द्व्याश्रय महाकाव्य की रचना की है।

सारस्वत संप्रदाय

मुसलमान शासकों की सुविधा के लिये ७०० सरल सूत्रों में सारस्वत व्याकरण की रचना की गई। आदिप्रवर्तक का नाम परंपरा के अनुसार

अनुभूतिस्वरूपाचार्य है, जिन्होंने (१३०० वि० सं०) सारस्वत प्रक्रिया नामक टीकाग्रंथ रचा था। सरलता और विद्यार्थियों के लिये उपयोगिता की दृष्टि से सारस्वत व्याकरण अप्रतिम है। उत्तर भारत में इसका प्रचलन ५० वर्ष पूर्व काफी व्यापक था। अँगरेजों को व्याकरण सिखाने के लिये इसका उपयोग किया गया था।

मुग्धबोध संप्रदाय

१३ वें वि० श० में दक्षिणभारत के बोपदेव ने यह सरल व्याकरण लिखा। पारिभाषिक शब्दों के परिवर्तन और इत्संज्ञक अक्षरों के अभाव के कारण पाणिनि व्याकरण से भेद अधिक हो गया है। उदाहरणों के रूप में देवताओं के नाम दिए गए हैं। सिद्धांत कौमुदी में भी ऐसे ही उदाहरण, मुग्धबोध के आधार पर, पाए जाते हैं। महाभाष्य और काशिका के खट्वाढकम् सदृश शुष्क उदाहरणों के स्थान में दैत्यारिः, श्रीशः सदृश धार्मिकभावपूर्ण उदाहरणों से निःसंदेह आकर्षण बढ़ गया है। भट्टोजिदीक्षित ने पाणिनीय-व्याकरणरूपी-गज के लिये बोपदेव को ग्राह कहा है। इसी से उस समय मुग्धबोध की प्रसिद्धि का अनुमान हो सकता है। अब तो केवल बंगाल में इसका प्रचार पाया जाता है। बोपदेव का कविकल्पद्रुम, जिसमें अंत्याक्षरों के क्रम से १७५४ धातुओं की सूची दी गई है, और उसकी कामधेनु टीका, जो उदाहरणों के रूप में बहुत से उद्धरणों के कारण उपादेय है, उल्लेख के योग्य हैं।

अन्य व्याकरण संप्रदाय

क्रमदीश्वर (९०० वि० श०) का संक्षिप्तसार, जो शैवधर्मियों में प्रचारार्थ लिखा गया है और जिसके अंतिम अष्टम पाद में प्राकृतभाषा का व्याकरण है, जुमरनंदिन् (११०० वि० श०) की रसवती वृत्ति के साथ पश्चिम बंगाल के कुछ भागों में अब भी प्रचलित है। मैथिल पद्मनाभदत्त (१३०० वि० श०) का सुपद्म व्याकरण मुग्धबोध की अपेक्षा पाणिनीय व्याकरण के अधिक सन्निकट है। अतः इसके विद्यार्थियों को, काव्यों की टीकाओं में उद्धृत पाणिनीय सूत्रों के कारण विशेष अड़चन नहीं पड़ती। मध्य बंगाल में कहीं कहीं इसका

प्रचार पाया जाता है। हिंदू धर्म के विभिन्न संप्रदायों में व्याकरण ज्ञान अधिक सुगम बनाने के लिये भी अनेक ग्रंथ लिखे गए। रूपगोस्वामिन् (१४०० वि० श०) के हरिनामामृत में उदाहरण ही नहीं पारिभाषिक शब्द भी धार्मिक भाव से अनुस्यूत हैं. जैसे वामन-ह्रस्वाक्षर, पुरुषोत्तम = दीर्घाक्षर आदि। एवमेव बलराम पंचानन के प्रबोध प्रकाश में शैव नामों की भरमार है, जैसे शिव = स्वर, हर = व्यंजन आदि। अनेक अप्रसिद्ध व्याकरणग्रंथ व्यक्ति विशेष के हितार्थ रचे गए थे। उनका नामोल्लेख भी यहाँ स्थानाभाववश असंभव है। नरहरि के बालाबोध में यह दावा किया गया है कि १२ दिनों में पंच-महाकाव्य समझने लायक व्याकरण-ज्ञान इस पुस्तक की सहायता से कराया जा सकता है।

व्याकरणज्ञान कराने के उद्देश्य से लिखे गए उन काव्यग्रंथों का, जिन्हें क्षेमेंद्र काव्यशास्त्र की संज्ञा देते हैं, उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा। भट्टि कवि का रावणवध, भीम कवि का रावणार्जुनीय काव्य और हेमचंद्र का द्व्याश्रय काव्य प्रसिद्ध हैं। इन्हें व्याकरण का परिशिष्ट कहा जाय तो अनुचित न होगा। इन काव्यशास्त्रों में प्रकरण के क्रम से व्याकरणनियमों के उदाहरण दिए गए हैं, जैसे लुङ् प्रकरण लिट् प्रकरण आदि के क्रम से विभिन्न धातुओं के रूप दिए गए हैं। हेमचंद्र ने स्वरचित सूत्रों के क्रम से अपने समस्त संस्कृत और प्राकृत व्याकरण के उदाहरण दिए हैं। संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं में हेमचंद्र का प्रकांड पांडित्य था। नारायणकृत सुभद्राहरण (२० सर्ग), वासुदेव का वासुदेवविजय और नारायण का धातुकाव्य काव्यशास्त्रों में उल्लेखनीय हैं। अंतिम दोनों ग्रंथ बंबई की काव्यमाला में प्रकाशित हैं। कविरहस्य नामक काव्यशास्त्र में प्रसिद्ध धातुओं के भिन्न-भिन्न गणों में (लट् लकार, प्रथमपुरुष एकवचन के) रूपों को कवित्वपूर्ण श्लोकों में निबद्ध कर विषय को सरस बनाया गया है। प्रसिद्ध श्लोक 'धूनोति चम्पकवनानि धुनोत्यशोकम् !......' उसी ग्रंथ का है।

संस्कृत व्याकरणग्रंथों का उपरिलिखित वर्णन केवल सिंहावलोकन है। वास्तव में संस्कृत का व्याकरण वाङमय अतिविशाल है, जिसके केवल मुख्य

मुख्य ग्रंथों का नामनिर्देश हो सका है। पाणिनीयेतर संप्रदायों के वर्णन में तो अतिक्षिप्र विहंगावलोकन किया गया है, मुख्य ग्रंथों का नाम निर्देश भी पूरी तरह नहीं किया जा सका है। प्रत्येक संप्रदाय में टीकाएँ उपटीकाएँ लिखी गई हैं और पाणिनीय संप्रदाय के समकक्ष बनने का प्रयत्न किया गया है। इन संप्रदायों में चंद्र का बौद्धों में एवं जैनेंद्र, शाकटायन और हेमचंद्र का जैनों में प्रचार हुआ। मुग्धबोध आदि व्याकरण वैष्णव, शैव आदि संप्रदायों के लिये या व्यक्ति-विशेष के लिये रचे गए थे। इनका मुख्य उद्देश्य सरल व्याकरण-रचना थी और उनका प्रचार बालछात्रों तक ही सीमित रहा। वे पाणिनीय व्याकरण की उच्च प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त कर सके। इसका कारण यह है कि ज्यों ज्यों संस्कृत भाषा, दिनोंदिन प्रचार घटने के कारण, विद्वानों के अधिकाधिक आश्रय में आई, त्यों त्यों सुबोधता के स्थान में विद्वत्ता को अधिक महत्त्व दिया गया। तर्कपूर्ण विचारशैली, गहन शास्त्रावगाहन, उत्कट विद्वानों के द्वारा समादर, विद्वान् टीकाकारों का सहयोग—इन सब कारणों से पाणिनि-संप्रदाय के मुकाबिले ये संप्रदाय विद्वन्मान्य नहीं हो सके। दूसरी बात यह थी कि पाणिनीय शैली को सुबोध करने ही में नवीन संप्रदायों ने अपनी शक्ति लगाई, किसी नई आकर्षक शैली या पद्धति का आविष्कार नहीं किया। 'बालानां सुखबोधाय' ही इनकी आवश्यकता मानी गई और पाणिनीय व्याकरण का अनुकरण करने के कारण ये संप्रदाय सदैव नीचम्मन्य भावना के शिकार रहे। पाणिनीय संप्रदाय के सामने प्रतिद्वंद्वी बनकर ठहरने की इनमें क्षमता न थी। कुछ संप्रदायों ने विद्वत्तापूर्ण व्याख्यानात्मक टीकोपटीकाएँ लिखकर अपनी प्रतिष्ठा ऊँची भी की, किंतु यह भी अनुकरण ही था। प्राचीन के सामने नवीन अनुकरण कहाँ तक सफल हो सकता था? साथ ही इन प्रयत्नों से इन संप्रदायों की विशिष्टता पर आघात पहुँचता था, क्योंकि यदि पाणिनीय संप्रदाय के ग्रंथों के समान इन इतर संप्रदायों के भी ग्रंथ दुरूह रचे गए, तो सरलता के प्रारंभिक ध्येय से वंचित हो जाना स्वाभाविक था। सरल होने में प्रतिष्ठाहानि और कठिन होने में अनावश्यकता—इस दोषचक्र में पड़कर इतर व्याकरण संप्रदाय सांप्रदायिक ही रह गए, अखिलभारतीय न बन सके।

इधर पाणिनीय संप्रदाय को कैयट, भट्टोजी दीक्षित और नागेश भट्ट जैसे शास्त्रधुरंधर विद्वानों के हाथ में पड़ने से विद्वत्समाज में विशेष प्रतिष्ठा और सम्मान मिला। इन विद्वानों ने अपनी प्रखर प्रतिभा से विचारोत्तेजक ग्रंथ रचकर इस संप्रदाय के प्रवाह को एक विशिष्ट धारा में प्रवाहित किया, जिसके कारण आज भी इसकी परंपरा बनी हुई है और भविष्य में भी विचारप्रिय व्याकरणप्रेमी, पदसाधुत्वज्ञान के लिये ही नहीं बल्कि बुद्धि पर धार रखने के लिये भी, इसका अध्ययन करेंगे। इस विशिष्टधारा का त्रिविध रूप–पदार्थचर्चा, न्यास और परिष्कार की परंपरा में दृष्टिगोचर होता है। **पदार्थ-चर्चा**—इसके कारण पाणिनीय व्याकरण केवल शब्दशास्त्र या पदविद्या न रह-कर पदार्थशास्त्र माना जाने लगा। पदार्थविचार में अभिधा, लक्षणा और व्यंजना वृत्ति, धात्वर्थ, प्रातिपदिकार्थ, कारकार्थ, समासार्थ आदि विषयों का समावेश होता है। इनमें से प्रत्येक का सम्यक् विचार वैयाकरणसिद्धांत भूषण, लघुमंजूषा आदि ग्रंथों में किया गया है। इस विचार में प्रसंग-प्रसंग पर न्याय और मीमांसा शास्त्र से व्याकरण का संघर्ष हुआ है। यथा नैयायिकों के मत से फल और व्यापार धात्वर्थ है, तिङ् का अर्थ कृति है। मीमांसक फल को धात्वर्थ मानते हैं, और व्यापार को तिङर्थ। इन दोनों के विरुद्ध वैयाकरण फल और व्यापार को धात्वर्थ मानते हैं और आश्रय (कर्तृ, कर्म) को तिङर्थ। नैयायिकों के अनुसार 'देवदत्तः ओदनं पचति' के शाब्दबोध में कर्ता विशेष्य है (जैसे वर्तमानकालिक-ओदनकर्मकपचनानुकूलव्यापाराश्रयो देवदत्तः)। वैयाकरणों के मत से शाब्दबोध में व्यापार विशेष्य है, (जैसे देवदत्तकर्तृको वर्तमानकालीन ओदनकर्मकः पचनानुकूल व्यापारः)। ये दो अति स्पष्ट उदाहरणीय विषय पाठकों के सामने रखे गए हैं। संघर्ष का पूर्ण स्वरूप जानने के लिये ग्रंथों का पढ़ना आवश्यक है। प्रवेशेच्छुओं के लिये परमलघुमंजूषा लाभदायक है। इन संघर्षों में वैयाकरणों ने कभी पीठ नहीं दिखाई। स्फोटवाद के प्रतिपादन में वैयाकरणों ने अपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया। शब्द को अनित्य माननेवाले नैयायिक, शब्द को नित्य माननेवाले मीमांसक—इन दोनों की आक्षेपपूर्ण कमजोरियों से बुद्धिमत्तापूर्वक बचते हुए वैया-करणों ने स्फोटवाद का नया सिद्धांत निकाला, जिसके अनुसार ध्वनिरूप

शब्द तो अनित्य है, किंतु स्फोटरूप शब्द नित्य है। अर्थ-प्रकाशन की क्षमता या वाचकता स्फोट में है, ध्वनि में नहीं। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में इसी स्फोटरूपी शब्द को ब्रह्म मानकर संसार को शब्दब्रह्म का विवर्त कहा है। स्फोटवाद के प्रतिपादन में स्वतंत्र ग्रंथ लिखे गए हैं, जिनमें से कुछ का नाम निर्देश पहले आ चुका है। इनके कारण विचारशास्त्र के रूप में व्याकरण का मस्तक ऊँचा हुआ।

न्यास और परिष्कार—भाषा के परिवर्तनों से प्रभावित न हो पाणिनीय वैयाकरण जब केवल लक्षणैकचक्षुष्क बने, और उन्होंने सूत्रार्थव्याख्या तथा सूत्रस्थ पदों की सार्थकता पर ही विचार करना प्रारंभ किया, तभी से मतस्वातंत्र्य में उनके बुद्धि विकास का परिचय मिलने लगा। मूल ग्रंथ लिखना छोड़कर उत्तरकालीन वैयाकरण टीका उपटीका लिखने लगे, जिनका ध्येय मूल ग्रंथ का तात्पर्य प्रकाशन उतना नहीं था जितना मूल ग्रंथ में न दिए गए विषयों का प्रतिपादन और दिए गए मतों का खंडन था। प्रत्येक प्रसिद्ध वैयाकरण अपने पूर्ववर्ती वैयाकरण के मतों का खंडन करता था, और बाद में उसके मतों का उत्तरवर्ती वैयाकरण के हाथ से खंडन होता था। यह खंडन-मंडन-परंपरा वैयाकरण परंपरा में अद्यावधि चली आती है। इस परंपरा को स्थूल रूप से चार विभाग कर सकते हैं—प्राचीनतर, प्राचीन, नवीन, नवीनतर। प्राचीनतर में वामन-जयादित्य, जिनेंद्रबुद्धि, कैयट, हरदत्त, रामचन्द्र, प्रसादकार और प्रकाशकार। प्राचीन में भट्टोजी दीक्षित प्रधान हैं। नवीन में नागेशभट्ट और वैद्यनाथ पायगुंडे मुख्य हैं। नवीनतर में शब्दरत्न, शब्देंदुशेखर, परिभाषेंदुशेखर पर विभिन्न टीकाकार हैं। इन चार परंपराओं में पूर्व परंपरा का उत्तर परंपरा में खंडन तो हुआ ही, किंतु प्रत्येक परंपरा के अंतर्गत विद्वानों में भी पूर्ववर्ती का खंडन परवर्ती करते थे, जैसे जिनेंद्रबुद्धि का खंडन हरदत्त ने किया। भट्टोजी दीक्षित ने इस खंडन-मंडन-परंपरा को खूब प्रोत्साहन दिया, फल स्वरूप उनके बाद के टीकाकारों का एकमात्र उद्देश्य खंडन-मंडन हो गया। नव्य न्याय की जटिल प्रतिपादन-शैली का व्याकरण-क्षेत्र में अवतीर्ण होने के पूर्व बुद्धि-तैक्ष्ण्य बढ़ाने के लिये न्यास-विचार होता था। पाणिनि के एक सूत्र को लेकर उसमें लाघव के लिये परिवर्तन करने के प्रयत्न को न्यास

कहते हैं। व्याकरण-संप्रदाय में अब यह पारिभाषिक शब्द हो गया है और काशिका वृत्ति की टीका न्यास से भिन्न है। सूत्र में परिवर्तन करने में क्या कठिनाई है, वह कठिनाई किस प्रकारांतर से दूर की जा सकती है; उस प्रकारांतर के आश्रयण से क्या अन्य कठिनाई उत्पन्न हो जायगी; उसका समाधान कैसे किया जाय इत्यादि काल्पनिक विषयों का ऐसा तर्कपूर्ण विचार, वादी-प्रतिवादी के बीच में, होता है कि बुद्धि दंग रह जाती है। भारतीय मस्तिष्क किस प्रकार अलौकिक क्षेत्र में बुद्धि के द्वारा आश्चर्यावह उड़ान कर सकता है, इसका उत्तम निदर्शन न्यास विचार है। वैयाकरणों के कुलों में ये शास्त्रविचार परंपरागत रहते थे, और समय-समय पर नई युक्तियाँ और समाधान जोड़े जाते थे। प्रत्येक गुरु-परंपरा अपनी-अपनी युक्तियाँ गुप्त रखती थी और शास्त्रार्थ में अवसर आने पर विरोधी को मूक करने के लिये प्रयोग करती थी। मुद्रण की सुविधा के कारण अब तो अनेक पुस्तकें छप गई हैं, जैसे वादरत्न (न्यास प्रकरण, सूर्यनारायण शुक्ल द्वारा संपादित), पाणिनीय प्रदीप, न्यास-रत्न-माला आदि। इन मुद्रित पुस्तकों के कारण 'गुरुमुख' की महत्ता कम हो गई है। वाराणसेय संप्रदाय में नवीनतम परीपाटी न्यास नहीं, परिष्कार है। न्यास का प्रचार केवल वैयाकरण छात्रों के लिये है, विद्वन्मंडली तो नव्य न्याय की अवच्छेदकावच्छिन्न-शैली में सूत्रार्थ व्याख्या को—परिष्कार को—महत्त्व देती है। इस शैली का प्रारंभ नागेश भट्ट के समय से होता है और ज्यों-ज्यों उत्तरकालीन टीकाएँ (जिनमें से कुछ का ऊपर नाम निर्देश हो चुका है) सामने आती हैं, त्यों त्यों व्याख्या का रूप-परिष्कार अधिक जटिल होता जाता है। उदाहरण के तौर पर परिभाषेंदुशेखर पर जयदेव मिश्र की विजया टीका और गुरुप्रसाद शास्त्री द्वारा संपादित लघुशब्देंदुशेखर का अनेकटीकोपेत नवीनतम संस्करण देखने लायक है। नित्यानंद पर्वतीय और उनके बाद गुरुप्रसाद शास्त्री ने परंपरागत टीकाओं को छापकर काशीस्थ वैयाकरण परंपरा की 'परिष्कार' संबंधिनी प्रखर प्रतिभा को मूर्त स्वरूप दे दिया है। सूर्यनारायण शुक्ल का वादरत्न (परिष्कार प्रकरण) वेणीमाधव शुक्ल की कौमुदीकल्पलतिका और परीक्षोपयोगी और शास्त्रार्थोपयोगी टीका सहित व्युत्पत्तिवाद का संस्करण इस विषय में उल्लेखनीय हैं। आधुनिक काशीस्थ वैयाकरण संप्रदाय की चर्चा

करने में अनेक योग्य व्यक्तियों का अनुल्लेख अनादर-सूचक समझा जा सकता है। इसी से हमने संकोचपूर्वक प्रकाशित ग्रंथों के रचयिताओं और संपादकों ही का नाम लिया है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे विद्वान् जिनका नामोल्लेख नहीं हुआ है उल्लेखनीय नहीं हैं। वास्तव में काशी में 'पुस्तकस्था' विद्या का उतना मान नहीं है, जितना 'कण्ठस्था' विद्या का। इस दृष्टि से गत विक्रमशतक (१९००–२०००) संवत् में काशीस्थ वैयाकरणों की परंपरा दिग्गजों की परंपरा थी और उनमें किसी विशेष विद्वान् का नाम न लेकर सबों के प्रति श्रद्धांजलि अर्पण करना हमारा कर्तव्य है।

पाणिनीय वैयाकरणों की शास्त्रार्थ चर्चा के महत्त्व का परिचय आज के शिक्षित भारतीयों को नहीं है, यह खेद की बात है। उससे अधिक खेद की बात यह है कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली और परीक्षा-पद्धति के चकाचौंध में पाणिनीय व्याकरण के नये विद्यार्थियों में भी शास्त्रार्थ करने की प्रवृत्ति दिनों-दिन कम हो रही है। शास्त्रार्थ चर्चा पूर्ववत् जारी रहे और इसमें भविष्य के वैयाकरण अपनी ओर से कुछ जोड़ सकें, इसके लिये यह आवश्यक है कि शास्त्रार्थ-संस्था को प्रोत्साहन दिया जाय। जैसे कोण के त्रिभागीकरण में या २ संख्या के वर्गमूल निकालने में उच्च गणित के विद्वानों का काल-यापन व्यर्थ नहीं माना जाता, वैसे ही वैयाकरणों की शास्त्रार्थ-कला भी निरर्थक नहीं है। इसमें बुद्धि को वह 'व्यायाम' मिलता है जिससे किसी भी बुद्धिगम्य विषय के विचार में सफलता पाना सहज हो जाता है। भारतीय वैयाकरणों की यह अद्यावधि उपार्जित और संवर्धित धरोहर नष्ट नहीं होनी चाहिए, क्योंकि विक्रम संवत् की द्वितीय सहस्राब्दी में भारतीय मस्तिष्क की उत्तमोत्तम सूझों में इसका प्रमुख स्थान है।

——

भारतीय वेष-भूषा

[श्री मोतीचंद्र, एम० ए०, पी०-एच० डी०]

भारतीय संस्कृति केवल आध्यात्मिक या दर्शनात्मक नहीं है। वास्तव में अध्यात्म या दर्शन उसका एक अंग है। भारतीयों के चतुर्वर्ग में धर्म और मोक्ष के साथ ही अर्थ और काम का भी स्थान है, जिनकी अभिव्यक्ति हमारी संस्कृति में दृष्टिगोचर है। हिंदुओं के ऐहिक जीवन की उच्चता और उनकी कला-प्रियता प्राचीन भारतीय साहित्य तथा कला-कृतियों से स्पष्ट विदित होती हैं।

किसी भी देश की संस्कृति का बाह्य स्वरूप वेष-भूषा द्वारा विशेष रूप से प्रकट होता है। भारत उष्ण-प्रधान देश है, अतः यहाँ के निवासियों का पहनावा प्राचीन काल में भी बहुत साधारण था। पुरुषों के लिये धोती, दुपट्टा, साफा और कमरबंद ही काफी थे। स्त्रियाँ साड़ी, ओढ़नी तथा आभूषण पहनती थीं। ये साधारण पहनावे भी बड़े आकर्षक ढंग से धारण किये जाते थे।

वैदिक और बौद्ध साहित्य में सिले हुए कपड़ों के उल्लेख मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि भारत में आनेवाले विदेशी प्राचीन काल में कुर्त्ता, चोगा, जामा, पायजामा और नुकीली टोपियों का व्यवहार करते थे; इसकी पुष्टि शकों और अन्य विदेशी लोगों की प्राचीन पाषाण-मूर्तियों से होती है। परंतु भारतीय पहनावा शताब्दियों तक पहले जैसा ही बना रहा।

गुप्त काल में पहनावे का ढंग अधिक सुंदर और आकर्षक हुआ। धोती और दुपट्टा अब भी पहने जाते थे, पर पगड़ी की जगह लोग भड़कीले मुकुट धारण करने लगे थे। इस काल की विशेषता यह हुई कि अब सिले हुए कपड़ों का भी व्यवहार होने लगा। ये कपड़े प्रायः सेवक-सेविकाएँ, सिपाही लोग और नर्तक पहनते थे। राजपरिवार के लोग इस काल में प्रायः

वस्त्र-रहित दिखाए गए हैं। शरीर के ऊर्ध्व भाग में सिले हुए वस्त्रों का पहनना विदेशियों के प्रभाव को सूचित करता है।

विक्रम की सातवीं शताब्दी के बाद से वस्त्राभूषणों के जो प्रकार तत्कालीन मूर्तियों और चित्रों से उपलब्ध होते हैं वे प्रायः प्राचीन वस्त्राभूषणों के ही विभिन्न रूप हैं। उनमें कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं पाई जाती।

विक्रम की तेरहवीं शताब्दी से, जब दिल्ली की तुर्की सल्तनत का आरंभ हुआ, राजदरबारों में तुर्की वेष-भूषा का फिर प्रचलन हुआ। परंतु इस काल में भी अधिकांश हिंदू जनता अपने साधारण वस्त्रों—धोती, पगड़ी और दुपट्टा—का ही व्यवहार करती रही।

विक्रम की सोलहवीं शती के उत्तरार्द्ध से मुगल लोग भारत में तुर्कों और ईरानियों की वेष-भूषा लाए। अकबर के समय मुग़ल-पहनावे का श्रीगणेश हुआ, जो तीन शताब्दियों से भी अधिक प्रचलित रहा। भारत का प्रत्येक युग अपना विशिष्ट पहनावा रखता है, जिससे प्रकट होता है कि यहाँ के लोग संसार के अन्य सभ्य लोगों की तरह ही कालानुसार अनेक प्रकार की धज को पसंद करते थे।

§ १—सिंधु-सभ्यता का काल

मोहेंजोदड़ो से प्राप्त कपड़े के टुकड़ों से यह स्पष्ट विदित होता है कि इस काल में कताई-बुनाई का काम होता था और लोग ऊनी तथा सूती दोनों प्रकार के कपड़ों का व्यवहार करते थे। इस स्थान से मिली हुई एक मानव-प्रतिमा लंबा शाल या चादर ओढ़े हुए है। यह शाल इस प्रकार पहना गया है कि बायाँ कंधा ढक गया है और बाईं भुजा खुली हुई है[१]। दूसरी प्रतिमा में शाल इतना लंबा है कि वह पैरों तक पहुँच जाता है।

यह कहना कठिन है कि इस शाल के नीचे अधोभाग में कोई वस्त्र पहना जाता था कि नहीं। पुरुष-प्रतिमाएँ सिर के वस्त्र और आभूषणों को छोड़कर प्रायः वस्त्र-रहित हैं। परंतु महान् पुरुषों और देवियों की मूर्तियाँ

---

१ मार्शल—मोहेंजोदड़ो एंड दि इंडस सिविलिजेशन, भाग १, पृ० ३२-३३.

कमर में एक पतला सूती वस्त्र पहने हुए पाई गई हैं[1]। एक प्रतिमा लंबी कमीज सी पहने हुए मिली है, जो कमर के चारों ओर एक छोटी रस्सी से बँधी है। एक पुरुष की प्रतिमा सिमटा हुआ घाँघरा-सा पहने हुए है, जिसका ऊपरी छोर सामने दिखाया गया है[2]। हरप्पा से मिली हुई एक मूर्ति जाँघिया या धोती पहने हुए हैं[3]। इस काल में लोग अपने बाल पीछे की ओर एक बुने हुए डोरे से बाँधते थे, जैसा कि मोहेंजोदड़ो की प्रतिमाओं से प्रकट होता है।

इस काल में स्त्रियों की वेष-भूषा भी बहुत सादी रहती थी। आभूषणों को छोड़कर ये मूर्तियाँ कमर तक बिलकुल वस्त्र-रहित हैं। इनमें वस्त्र-खंड या साड़ी घुटनों के ऊपर तक पहनी गई है। कमर के चारों ओर यह वस्त्र एक पट्टे के द्वारा मजबूत बँधा हुआ है। एक स्थान पर वह किसी वस्तु के बुने हुए कमरबंद के द्वारा कसा हुआ है[4]। एक स्त्री मूर्ति इस प्रकार का वस्त्र पहने हुए है कि वह भुजाओं को ढक लेता है, पर स्तन खुले हुए हैं। कमर में बँधी हुई पतली कपड़े की चिट वैदिक साहित्य में उल्लिखित 'नीवि' से बहुत मिलती-जुलती है।

इस युग में पुरुष और स्त्रियाँ पंखे की शकल जैसी कोई वस्तु सिर पर धारण करती थीं। मैके महोदय का अनुमान है कि यह कड़ा किया हुआ सूती कपड़ा होगा, जो सिर के ऊपर एक विशेष ढाँचे के ऊपर रखा जाता रहा होगा। यह प्रायः आभूषणों से सज्जित रहता था। सिर के इस पहनावे में कहीं कहीं एक टोकरे जैसी वस्तु लगी हुई देखी जाती है; ऐसी मूर्तियाँ पृथिवी माता की प्रतीत होती हैं[5]। इन टोकरों में काजल जैसे धब्बे पाए गए हैं जिनसे प्रकट होता है कि उनपर दीपक जलाए जाते थे। मध्यकाल की

---

१ मैके—इंडस वैली सिविलिजेशन, पृ० १०३.

२ मैके—फर्दर एक्सकैवेशंस ऐट मोहेंजोदड़ो, भाग १, पृ० २५७; फलक ७१, चित्र नं० ३०-३२.

३ मैके—इंडस वैली सिविलिजेशन, पृ० १०३.

४ वही पृ० १०१.

५ मैके—फर्दर एक्सकैवेशंस ऐट मोहेंजोदड़ो, भाग १, पृ० २६१.

६ वही पृष्ठ० २६६.

दीप-लक्ष्मी-मूर्तियाँ मोहेंजोदड़ो की इन मूर्तियों से बहुत समानता रखती हैं। स्त्रियों की कुछ मूर्तियाँ सिर पर पगड़ी पहने भी मिली हैं।

कुछ पुरुष-प्रतिमाओं के गले में एक पतला दुपट्टा जैसा वस्त्र भी मिलता है। मैके के अनुसार यह दुपट्टा किसी विशेष पद या मत-ग्रहण करने का सूचक है। मोहेंजोदड़ो की कुछ मिट्टी की मूर्तियों के सिरों पर ढीली टोपियाँ भी मिली हैं। पुरुषों की टोपियाँ स्त्रियों की टोपियों से कुछ भिन्न हैं।

§ २—वैदिक काल

आर्यों को लोहा आदि खनिज पदार्थों का उपयोग सुविदित था। वे सोने और बहुमूल्य रत्नों का प्रयोग शरीर की सजावट में प्रचुरता से करते थे। ऊन कातने और बुनने की कला का उन्हें अच्छा ज्ञान था और उससे वे सुंदर कपड़े बनाते थे।

प्राय: ऊन (ऊर्ण) और उसके वस्त्रों का ही आर्य लोग व्यवहार करते थे। भेड़ का ऊन 'आविक'[1] कहलाता था, और भेड़ का नाम 'ऊर्णावती' (ऊनवाली) था[2]। सिंधु का काँठा 'सुवासा ऊर्णावती' (ऊनवाला) नाम से प्रसिद्ध था। इस प्रदेश में बारीक कपास भी पैदा होती थी[3]। गंधार की भेड़ें अपने ऊन के लिये प्रसिद्ध थीं[4]। रावी के काँठे में भी रंगीन ऊन (शुंध्यव:) मिलता था।

साधारणतया स्त्री-पुरुषों की गृहस्थी में कंबल[5] और शामूल्य[6] का व्यवहार होता था। शामूल्य संभवत: गद्दा या तोशक के लिये आया है।

पशुओं के चर्म से भी वस्त्रों का काम लिया जाता था। देवता, मुनि, आर्य, अनार्य और व्रात्य सभी लोग चर्मों का प्रयोग करते थे। छाग (बकरा) और मृग (हिरण) के चर्मों का विशेष व्यवहार होता था। मृग-चर्म

१ बृहदारण्यक उपनि० २।३।६.
२ ऋ० ८।६७।३.
३ ऋ० १०।७५।८.
४ ऋ० १।१२६।७.
५ अथर्व० १४।२।६६-६७.
६ ऋ० १०।८५।२६; अथर्व० १४।१।२५.

(हरिणस्य जिन)[१] धारण कर 'देवता शत्रुओं को भयभीत करते थे।' मरुत् के द्वारा भी मृग-चर्म धारण करने के उल्लेख हैं[२]। मुनि लोग भूरे रंग के चर्म (पिशंग माल)[३] का उपयोग करते थे। व्रात्य लोग और उनके अनुयायी दोहरे (द्विसंहितानि) चर्म को व्यवहार में लाते थे। इनमें से एक काला और दूसरा सफ़ेद रंग का होता था (कृष्णवलक्ष)[४]। दस्यु या अनार्य लोग नृत्यों में कृत्ति और दूर्श नामक चर्मों को पहनते थे[५]। वे अजिन का भी प्रयोग करते थे[६]।

काले मृगों के चर्म प्रायः धार्मिक कृत्यों के समय व्यवहार में लाये जाते थे[७]। छाग-चर्म (अजर्षभयस्य अजिनम्) का भी उपयोग होता था[८]।

वैदिक साहित्य में अन्य कई प्रकार के कपड़ों के भी उल्लेख हैं। परंतु यह स्पष्ट नहीं कि वे किन वस्तुओं के बनते थे[९]।

बरासी—यह बरस् नामक एक सदाबहार पेड़ के रेशों से बनता था, जो उत्तर-पश्चिमी और हिमालय-प्रदेश में होता है[१०]।

दूर्श—इस वस्त्र का उल्लेख अथर्ववेद में आया है[११]। बौद्ध साहित्य में भी दुस्स नामक ऊनी कपड़े के एक प्रकार का वर्णन है। आजकल का धुस्सा

---

१ अथर्व० ५।२१।७.

२ ऋ० १।१६६।१०.

३ अथर्व० १०।१३६।२.

४ पंचविंश ब्राह्मण १७।१।१५.

५ अथर्व० ८।६।११.

६ अथर्व० ४।७।६

७ अथर्व०-५।२१।७; ६।१।१८५.

८ शत० ब्रा० ३।६।१।१२; ५।२।२१।२४.

९ काठक सं० १५।४; पंच० ब्रा० १८।६।६.

१० सुविमलचंद्र सरकार —सम ऐस्पेक्ट्स ऑफ दि अर्लियस्ट सोशल हिस्ट्री आफ इंडिया, पृ० ६०.

११ अथर्व० ४।७।६; ८।६।११.

जो विशेषतः पंजाब में बनता है, प्राचीन दूर्श का ही आधुनिक रूप प्रतीत होता है।

क्षौम[1] और कुसुंभी रंग के क्षौम वस्त्रों (कौसुंभ परिधान)[2] के भी वर्णन मिलते हैं। डा० सरकार क्षौम को रेशम का एक प्रकार समझते हैं[3], यद्यपि बाद के साहित्य में क्षौम शब्द सन-निर्मित वस्त्रों के लिये प्रयुक्त हुआ है।

पांड्व[4]—यह राजाओं के द्वारा यज्ञों में पहिना जाता था। यह कहना कठिन है कि यह वस्त्र किस वस्तु से बनता था। हो सकता है कि टालेमी (७।१।९) द्वारा वर्णित झेलम और रावी के बीच के पांड्य प्रांत से यह वस्त्र बनकर आता रहा हो[5]।

तार्प्य[6]—डॉ० सरकार का विचार है कि यह बिहार प्रांत की खुरदरी रेशम का ही प्राचीन नाम है, जिसे आज कल 'टसर' कहते हैं। परंतु इसके लिए कोई पुष्ट प्रमाण नहीं हैं। अन्य मतों के अनुसार यह सन का बारीक कपड़ा या रेशम का कपड़ा था[7]।

वैदिक काल में कपड़े बुनने का कार्य स्त्रियों को सौंपा गया था[8]। ऐसी स्त्रियाँ वायित्रि[9] या सिरि[10] कहलाती थीं।

---

१ मैत्रायिणी सं० ३।६।७; तैत्ति० सं० ६।१।१।३.

२ शांखायन आरण्यक ११।४.

३ डा० सरकार की पुस्तक, पृ० ६०.

४ शत० ब्रा० ५।३।५।२१; मैत्रायिणी सं० ४।४।३.

५ अधिक विवेचना कि लिये देखिए टार्न कृत—दि ग्रीकूस इन बैक्ट्रिया एंड इंडिया, पृ० ५११-१२.

६ अथर्व० १८।४।३१; तैत्ति० सं० २।४।११।६; मैत्रा० सं० ४।४।३; तैत्ति० ब्रा० १।३।७।१; शत० ब्रा० ५।३।५।२०.

७ वैदिक इंडेक्स, भाग १, पृ० ३०८, नोट ३.

८ अथर्व० १०।७।४२; १४।२।५१.

९ पंचविंश ब्रा० १।८।६; शत० ३।१।२।१३.

१० ऋ० १०।७१।६.

ऋग्वेद तथा अन्य ग्रंथों में पहनावे के लिये वासस् शब्द प्रचलित था। वसन तथा वस्त्र शब्द एक ही अर्थ सूचित करते हैं। वैदिक आर्य सुंदर वस्त्रों को पसंद करते थे। 'सुवसन'[१] शब्द से अभिप्राय बढ़िया पोशाक से है। यह शब्द अच्छे ढ़ंग से पहनने के लिये भी प्रयुक्त हुआ है[२]। 'सुवासस्' शब्द (अच्छे प्रकार से वस्त्र-सज्जित) का विशेषण रूप में प्रयोग प्रायः मिलता है[३]। 'सुरभि' शब्द से ज्ञात होता है कि कपड़े अच्छे प्रकार से शरीर पर फिट हो जाते थे[४]।

वैदिक काल में अच्छी पोशाक तैयार करनेवाले 'वासो वाय'[५] भी अवश्य रहे होंगे। वस्त्रों में प्रायः कसीदे के काम होते थे, और सुनहली जरी का काम ('हिरण्य अत्क') भी[६]। वस्त्रों में किनारी या पाढ़ भी होती थी जिस पर जरी का काम रहता था। ऐसी किनारी को सिच् कहा गया है[७]।

यज्ञों के अवसर पर रंगीन कपड़े धारण किए जाते थे[८]। वैसे साधारणतया सफेद वस्त्र (स्वित्यंचः) ही पहने जाते थे[९]। रंगीन सुनहले वस्त्रों को युवतियाँ पहनती थीं, जैसा कि ऊषाविषयक वर्णन से स्पष्ट है[१०]। व्रात्य गृहस्थ काले और नीले रंग के कपड़े तथा किनारे पसंद करते थे[११]।

---

१ ऋ० ६।५१।४.
२ ऋ० ९।६७।५०.
३ ऋ० १।१२४।७; ३।८।४.
४ ऋ० ६।२६।३.
५ ऋ० १०।२६।६.
६ ऋ० ५।५५।६.
७ ऐत० ब्रा० ७।३२; शत० ४।२।२।११.
८ शत० ३।१।२।१३.
९ ऋ० ७।३३।१.
१० ऋ० १।९२।४; १०।१।६.
११ पंचविंश ब्रा० १७।१४-१६.

.. ज्ञात होता है कि वैदिक काल में भारतीय तीन वस्त्र पहनते थे[१]—एक अधोवस्त्र (नीवि)[२] उसके ऊपर एक वस्त्र (वासस्) और एक उत्तरीय अधिवास[३], जो संभवत: आजकल के दुपट्टा या चादर की भाँति होता था।

नीवि और परिधान[४] साधारण वस्त्र थे, जिनको स्त्री-पुरुष समान रूप से धारण करते थे। नीवि में से दो छोर नीचे को लटकते थे।

वैदिक साहित्य में कपड़े पहनने के ढंग का वर्णन नहीं मिलता। 'वास' संज्ञक वस्त्र कमर में कस लिए जाते थे[५]। अधोवस्त्र के पहनने के लिये 'नीविंकृ'[६] शब्द आया है, जिससे सूचित होता है कि प्रत्येक स्त्री-पुरुष के द्वारा अपनी अपनी रुचि के अनुसार कमर में विभिन्न कलामयी गाँठें लगाकर यह वस्त्र धारण किया जाता था।

स्त्री-पुरुष अपने शरीर के ऊर्ध्वभाग को एक अन्य वस्त्र से ढकते थे, जो 'उपवसन', 'पर्याणहन' या 'अधिवास' होता था। यह या तो चद्दर की तरह लपेट लेनेवाला वस्त्र होता था, अथवा कसी होनेवाली जाकट या अँगिया या कंचुकी के रूप का होता था, जिसे प्रतिधि, द्रापि या अत्क कहा जाता था। उपवसन या तो दुपट्टा होता था जिसे विवाह के समय कन्या पहनती थी[७], या उत्तरीय के ढंग का होता था जिसका उदाहरण मुद्गलानी के वस्त्र में मिलता है, जो हवा में फहरता था[८]। 'पर्याणहन' नामक वस्त्र डा० सरकार के अनुसार एक लंबा बड़ा साफा था, जो हल्की बुनावट का होता था[९]। राजकुमारों

---

१ शत० ब्रा० ५।३।५।२०.

२ अथर्व० ८।२।१६; १२।१।५०.

३ ऋ० १।१४०।६; १०।५।४.

४ अथर्व० ८।२।१६; बृहदार० उप० ६।१।१०.

५ ,, १४।२।७०.

६ ,, ८।२।१६.

७ ,, १४।२।४९.

८ ऋ० १०।१०२।२.

९ डा० सरकार की उपर्युक्त पुस्तक, पृ० ६६.

के द्वारा 'अधिवास' नामक उत्तरीय वस्त्र धारण किया जाता था[१]। नव-विवाहिता वधू 'प्रतिधि' नामक वस्त्र अपने वक्षःस्थल पर पहनती थी, जो पीठ के ऊपर एक गाँठ से बँधा रहता था[२]।

उपर्युक्त वस्त्रों के अतिरिक्त कुछ सिले हुए वस्त्रों के भी उल्लेख मिलते हैं। 'अत्क' नामक पुरुषों के पहनावे के वर्णन ऋग्वेद में मिलते हैं[३]। यह एक लंबा, सारे शरीर को ढकनेवाला, कसा हुआ लवादा जैसा था। उसे भड़कीला, सुंदर और सुनहले तागों से कढ़ा हुआ (हिरण्यैर्व्यूतम्) कहा गया है[४]। बाद के संस्कृत साहित्य में 'अत्क' शब्द नहीं मिलता। परंतु हर्षचरित में' चंडातक' नामक पद का प्रयोग है, जिसका कावेल ने घाँघरा अनुवाद किया है[५]। इस पद का 'आतक' वैदिक अत्क का ही पर्याय जान पड़ता है। आज-कल का अचकन भी संभवत: अत्क नाम से संबंधित है।

'पेशस्' नामक वस्त्र सुनहले बेल बूटों से युक्त, बड़े ही कलापूर्ण और पेचीले ढंग का बना हुआ होता था[६]। यह संभवत: कमीज के ढंग का होता था, जो इस कला में अभ्यस्त स्त्रियों (पेशकारि) के द्वारा तैयार किया जाता था। नर्तकियों के बूटेदार आँचल, जो 'पेशवाज' कहलाते हैं, इसी पेशस् वस्त्र के अर्वाचीन रूप प्रतीत होते हैं[७]।

'द्रापि' नामक वस्त्र संभवत: जरी के कामवाला तना हुआ अँगरखा या वास्कट के समान होता था[८]। इसे विशिष्ट स्त्री-पुरुष धारण करते थे[९]।

---

१ शत० ब्रा० ५।४।४।३.

२ अथर्व० १४।१।७.

३ ऋ० १।६५।७; ४।१८।५.

४ ऋ० १।६५।७; ४।१८।५; २।३५।१४; ५।७४।५; ६।२६।३; ६।१०७।१३; १।१२२।२ आदि।

५ कावेल का हर्षचरित अनुवाद, पृ० २६१.

६ ऋ० ४।३६।७; २।३।६; १।९२।४-५.

७ वाज० सं० ३०।६; तैत्ति० ब्रा० ३।४।५।१.

८ ऋ० १।१६६।१०; १।२५।१३; अथर्व० १३।३।१.

९ ऋ० ६।१००।६; अथर्व० ५।७।१०.

प्राचीन वैदिक साहित्य में पगड़ी के लिये 'उष्णीश' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। व्रात्यों के द्वारा विशेष रूप से पगड़ी पहनने के उल्लेख मिलते हैं[१]। राजाओं के द्वारा भी इसका व्यवहार पाया जाता है। वे प्रायः वाजपेय, राजसूय आदि यज्ञों के अवसर पर इसे धारण करते थे[२]। इंद्राणी ने भी अपने महिषी पद को सूचित करने के लिये पगड़ी पहनी थी[३]। ऐसा प्रतीत होता है कि राजपुत्र इस प्रकार से पगड़ी धारण करते थे कि उसके दोनों छोर लटकते थे।

व्रात्यों का 'उष्णीश' बिलकुल सफेद कहा गया है, संभवतः वह रूई का बना होता था।

प्राचीन वैदिक संहिताओं में जूते धारण करने के उल्लेख नहीं मिलते। 'वटुरिणापाद[४] नामक पैर का पहिनावा शायद पैरों की रक्षा के लिये युद्धक्षेत्र में व्यवहृत होता था। यह सभवतः भारी होता था। इसी प्रकार 'पत्संगिनी'[५] नामक पहनावे का भी प्रयोग होता था। 'उपानह' शब्द यजुर्वेद, अथर्व और ब्राह्मण ग्रंथों में मिलता है[६]। धार्मिक कृत्यों में वह पहिना जाता था, विशेषतः व्रात्य उसका उपयोग करते थे[७]। यज्ञों में पहनी जानेवाली खड़ाऊँ मृग या वराह के चर्म की होती थी[८]।

§३ प्राक् मौर्य काल (६४२—३२० ई० पू०)

इस काल में सूत कातने और बुनने की कला खूब विकसित हुई। कपास के खेतों के उल्लेख बहुत मिलते हैं[९]।

१ अथर्व० १४।२।१; ऐत० ब्रा० ६।१.

२ शत० ५।३।५।२३; मैत्रा० सं० ४।४।३.

३ ,, ५।३।५।२५.

४ ऋ० १।१३३।२.

५ अथर्व० ५।२१।१०.

६ तैत्ति० सं० ५।४।४।४; अथर्व० २०।१३३।४; शत० ब्रा० ५।४।३।१९.

७ पंच० ब्रा० १७।१४।१६.

८ शत० ब्रा० ५।४।३।१९.

९ कप्पासखेत्तजातक (जातक भाग ३, सं० २८६), महाजनक जा० आदि,

जातकों में कपास, रेशम, सन और कोटुंबर के वस्त्रों के वर्णन मिलते हैं।

कदाहं कप्पास कोसेय्यं खोमकोटुंबरानि च[१]।

बुद्ध के समय में काशी का कपास विशेषतया कपड़ों के निर्माण में व्यवहृत होता था। काशी के बने वस्त्र 'कासीकुत्तम', 'कासीयानि', 'कासिकवत्थ' और 'वाराणसेय्यक नामों से विश्रुत थे[२]। ये ऐसे बढ़िया और चिकने होते थे कि उनमें तेल नहीं सोखता था[३]।

बनारस में रेशम भी होता था[४]; और संभवतः उस काल में भी वर्तमान समय की तरह बिहार और काशी रेशमी वस्त्रों को तैयार करने के प्रधान केंद्र थे। म० बुद्ध ने भिक्षुओं को रेशमी चादर ('कौसेय प्रावार') को व्यवहार में लाने की अनुमति दी थी[५]।

क्षौम या पटसन के वस्त्र भी बनते थे। भिक्षु लोग क्षौम-चीवर[६] धारण करते थे। क्षौम और ऊन के बने कंबलों का भी भिक्षुओं द्वारा व्यवहार होता था[७]।

कोटुंबर वस्त्र ऊन, वल्कल या कपास के बने होते होंगे जो संभवतः औदुंबरों के प्रदेश में बनते थे।[८]

ऊन के लिये बौद्ध साहित्य में 'कंबल' शब्द का प्रयोग मिलता है[९]। जातकों में गांधार के लाल कंबलों की प्रशंसा की गई है—

---

१ महाजनक जातक (जातक भाग ६, सं० ४७)

२ जातक भाग ६, पृ० ४७; पृ० ५००; महापरिनिब्बान सुत्त ५।२६.

३ ,, ,, १, ३३५; ६।१५१. आदि।

४ जातकों का अनुवाद, भाग ६, पृ० ७७.

५ महावग्ग ८।१।३६.

६ महावग्ग ८।३।१.

७ महावग्ग ८।२.

८ प्रिजलस्की—'प्री आर्यन एंड प्री द्रविडियन इन इंडिया' (बाग्ची द्वारा अनुवादित) पृ० १६०.

९ महावग्ग ८।३।१.

(इंदगोपकवण्णाभा गंधारा पंडुकंवला)[१]

शिवि जनपद (दक्षिणी पंजाब) के शाल प्रसिद्ध थे। 'सिवेय्यक दुस्स' का बौद्ध साहित्य में बहुत बखान है[२]। कोशल के राजा ने दसबल नामक बौद्ध को शतसहस्र मुद्राओं के मूल्य का शिवि जनपद का एक कपड़ा उपहार में दिया था (सत सहस्सग्गहनकम् सिवेय्यकवत्थम्)[३] प्राचीन दुस्स रूप इस समय भी हिंदी और पंजाबी में 'धुस्सा' नाम से प्रचलित है जो एक विशेष प्रकार की ऊनी चादर के लिये प्रयुक्त होता है।

वाहीक (सिंधु तथा सतलज-व्यास के बीच का प्रदेश) भी ऊनी वस्त्रों (वाहीतिक) के लिये प्रसिद्ध था।[४]

शौकीनी ऊनी वस्त्र—नम्दा ('नम्तक'), चिकने और बारीक कंबल ('कोजव') आदि भी व्यवहार में लाये जाते थे, परंतु भिक्षुणियों के लिये उनका निषेध था।[५]

उपर्युक्त वस्त्रों के अतिरिक्त सन ('शण')[६] और 'भाग' के भी वस्त्र बनाये जाते थे। कुमाऊँ जिले में 'भाग' नामक वृक्ष की छाल के 'भागेला' नामक वस्त्र आजकल भी तैयार होते हैं।

चर्म (अजिन) के भी कपड़ों का जातकों में उल्लेख है[७]। संभवतः इस काल में शेर, चीता, तेंदुआ, गाय और मृग के चर्म पहनने और बिछाने आदि के काम में आते थे[८]। मध्यदेश में 'एरगु', 'मोरकु' और बिल्ली

---

१ जातक भाग ६, पृ० ५००.

२ महावग्ग ८।१।२९

३ शिवि जातक, भाग ४, पृ० ४०१.

४ मज्झिममनिकाय २।४।८.

५ चुल्लवग्ग १०।१०।४; महावग्ग ८।१।३६.

६ महावग्ग ८।३।१.

७ जातक भाग ६, पृ० ५००.

८ महावग्ग ५।१०।५।७.

(मज्जारु) के चमड़े बिछाने के काम में आते थे। दक्षिणापथ में भेड़ बकरियों के चर्म से यही काम लिया जाता था[1]। इन प्रदेशों में भिक्षु लोग भी इन चमड़ों का व्यवहार कर सकते थे।

कुछ प्रकार के वस्त्र यद्यपि अन्य लोग प्रयोग में लाते थे, परंतु भिक्षुओं के लिये वे वर्जित थे। ये वस्त्र कुशा घास के (कुशाचीर)[2], पेड़ की छाल के (वल्कल) और जंगली लकड़ी के (फलक) थे। इसी प्रकार मनुष्यों के बालों के (केसकंबल, बालकंबल), उल्लू के पंखों के, मृगचर्म के टुकड़ों के बने हुए ('अजिनक्षिप') और मंदार के रेशेदार डंठलों से बने हुए वस्त्र भी भिक्षुओं के लिये वर्जित थे।

नफीस और रंगीन परिधानों का भी भिक्षुओं के लिये निषेध था। परंतु अन्य लोग इन्हें शौक से धारण करते थे। ये वस्त्र नीले, पीले, लाल, मजीठी, काले और हल्दी के रंगों में रँगे जाते थे[3]। कटी किनारी, लंबी किनारी, बेलबूटेदार किनारी, साँप के फन जैसी किनारी वाले वस्त्र भी पहने जाते थे, यद्यपि भिक्षुओं के लिये इनका निषेध था। कंचुक का भी प्रयोग भिक्षुओं के लिये वर्जित था[4]।

भिक्षुओं और भिक्षुणियों का पहनावा एक जैसा ही था। तीन पीले वस्त्र धारण किए जाते थे। पहला 'संघाटी' या दोहरा कमर का चदरा था। दूसरा 'अंतर्वासक' या निचला वस्त्र होता था, और तीसरा 'उत्तरासंग', या उत्तरीय चादर था[5]। इन परिधानों के अतिरिक्त बैठने के लिये एक आसन (प्रत्यस्तरण), एक कौपीन, जो शरीर में खुजली आदि होने पर उपयोग में लाया जाता था (कण्डूक प्रतिच्छादन)[6], और वर्षा में एक दूसरा लँगोट भी

---

१ महावग्ग ५।१३।६.
२ " ८।२८।२-३.
३ " ८।२९।१.
४ " "
५ " ८।१३।४५.
६ भिक्खुपातिमोक्ख ५।३९।६०; महावग्ग ८।१७।२.

भिक्षुओं को रखने की अनुमति थी। भिक्षुणी कंचुकी का भी व्यवहार करती थीं[1]।

भिक्षु लोग आयोग पट्ट भी धारण करते थे। यह वस्त्र दोनों पैरों के सामने से लपेट कर पीठ की ओर बाँधा जाता था।

करघा (तंतक), ढरकी (वेमक), डोरियाँ (वट्ट) और शलाका का प्रयोग भिक्षु करते थे[2]। साधारण रूप से और पेचीदे ढंग से बनी हुई पट्टियोंवाले कमरबंद (कायबंध) भी भिक्षुओं द्वारा व्यवहृत होते थे। कमरबंद के किनारों को सुरक्षित बनाने के लिये उन्हें पीछे की ओर मोड़कर सी दिया जाता था। इस प्रकार के विशेष सीने के ढंग को 'शोभक' कहते थे[3]। किनारों के सीने से एक समान चतुर्भुज जैसा बन जाता था, जिसे 'गुणक' कहते थे[4]। कमरबंद में बांधने का पक्खा या हुक ('वीठ') भी लगा रहता था। यह हड्डी, शंख और तागे या तार का बना होता था। भिक्षुओं के लिये चाँदी और सोने के 'वीठ' बहुत वर्जित थे[5]। परंतु बटन (गंठि, घुंडी) और मुद्धी (पासक) का लगाना अनुमत था। उनके बटन हड्डी, शंख और तारों के बनते थे; सोने-चाँदी के कभी नहीं। कपड़े के टुकड़े वस्त्रों के ऊपर सीं कर फिर उन पर बटन और बंद लगा दिये जाते थे[6]।

भिक्षु लोग सुइयों ('सूची') से अपने वस्त्र सीते थे, जो चिड़ियों के नुकीले पंखों या बाँस की पतली फरचियों की होती थीं। ये सुइयाँ मोम के घोटवाली नलियों (सूची नलिका) में रखी जाती थीं[7]। वस्त्र सीने का पुराना तरीका यह था कि कपड़ा फैलाकर किनारों पर कीलों से कस दिया जाता था। कपड़े

---

१ भिक्खुनीपातिमोक्ख ४।४०।९६.

२ चुल्लवग्ग ५।२०।२.

३ चुल्लवग्ग ५।२९।२.

४ चुल्लवग्ग ५।२९।२.

५ चुल्लवग्ग ५।२९।२.

६ चुल्लवग्ग ५।२९।३.

७ चुल्लवग्ग ५।११।२.

बुनने के लिए लकड़ी का चौखटा ('कठिन') होता था, जिसमें कसने के लिये डोरें लगी रहती थीं। यह बराबर भूमि पर पयाल की गद्दी पर फैला दिया जाता था, जिससे धूल न लगने पावे। और तब उस पर कपड़ा तैयार किया जाता था[१]। चौखटे के साथ सीधे डंडे (दण्ड कठिन), खूँटियाँ (पिदलक) बाँस की शलाकाएँ और डोरियाँ भी रहती थीं।

सीने का कार्य बड़े कला पूर्ण ढंग से होता था, जिससे सिलाई का सौंदर्य न बिगड़ने पावे। सिलाई टेढी मेढी ('सुत्तान्तरिका') न हो जाय, इसके लिये कपड़े में चुन्नट डाल ली जाती थीं, जिससे तागा समानांतर रेखाओं में ('कंवलक') सीधे बिंधता हुआ जाता था। इसी हेतु अधिक अंतर देते हुए भी लंबे टाँके (मोघ सुत्तक) लगाए जाते थे[२]। दर्जियों की सुई चुभने से बचाने-वाली उँगली की टोपी ('प्रतिग्रह') का भी व्यवहार किया जाता था। ये सोने, चाँदी, शंख या हड्डी की होती थीं। कैंची (सत्थक) का भी प्रयोग होता था। सुरक्षित रखने के लिये ये वस्तुएँ छोटे थैलों (आवेसन वित्थक) में रखी जाती थीं[३]।

साधारण पुरुषों के पहनावे में तीन वस्त्र होते थे—अधोवस्त्र (अंतर्वासक), उत्तरीय ('उत्तरासंग') और पगड़ी (उष्णीष)[४]। छोटा कुर्ता या कुर्ती (कंचुक) का भी उल्लेख मिलता है। इसे पुरुष-स्त्री दोनों पहनते थे[५]। धर्मसूत्र ग्रंथों में कंचुक के वर्णन हैं[६]। यह वस्त्र आजकल के कुर्ते, जाकट या कोट की तरह रहता होगा जो जाँघों तक या घुटनों के पास तक लंबा रहता होगा।

---

१ चुल्लवग्ग ५।११।३.

२ चुल्लवग्ग ५।११।३.

३ चुल्लवग्ग ५।११।५.

४ महावग्ग ८।२९।१.

५ महावग्ग ८।२९।१.; भिक्खुनी पातिमोक्ख, ४।४० ९६.

६ आपस्तंब ध० सू० (बूलर का अनु० पृ० १४). वेष्टित्युपवेष्टितो कञ्चुक्यो-पानहोपादकी।

अधोवस्त्र आदि के पहनने के कई तरीके प्रचलित थे। 'हस्तिशौंडिक' (हाथी की सूँड़) नामक ढंग में कपड़े का पलेटदार छोर उसी प्रकार नीचे की ओर लटकता था जिस प्रकार चोल देश की महिलाओं की साड़ियों का पलेटदार किनारा। 'मत्स्यवालक' नामक तरीका वह था जिसमें वस्त्र की लंबाई और चैड़ाई के किनारे मछली के पिछले भाग या पूँछ के प्रकार की पलेटों से युक्त होते थे। 'चतुष्कर्णक' नामक ढंग में वस्त्र के चार कोने दिखाई पड़ते थे। कंचुक में या बगल में कटे हुए कंचुक में ही यह प्रकार सम्भव था। 'तालवृंतक' में कपड़े इस प्रकार पहने जाते थे कि अधोवस्त्र का चुन्नटदार लटकता हुआ छोर ताड़ के पत्ते के रूप का हो जाता था। शतवल्लिक नामक ढंग में वस्त्र में बहुत सी पलेटें और चुन्नटें दिखाई जाती थीं। वस्त्र को धारण करने के समय उसका छोर पीछे खोंस लिया जाता था। परंतु भिक्षुओं के लिये ऐसा करने का निषेध था[१]।

कमरबंद ('कायबंधन') बहुत प्रकार के शौकीनी ढंगों से बाँधा जाता था। कलाबुक (अनेक डोरियों की पलेटी हुई), देड्डुभक (पनिहा साँप के फन की शकलवाली), मुरज आदि विभिन्न प्रकार के कमरबंदों के नाम थे। ऐसी मेखला जिससे आभूषण लटकते रहते थे 'मद्दवीन' कहलाती थी[२]।

इस काल में स्त्रियाँ अनेक वस्तुओं के बने कमरबंद और पटके अनेक ढंगों से धारण करती थीं। भिक्षुणियों के लिये ऐसे फैशन वर्जित थे। 'पटका' बाँस के बुने हुए रेशों (वीडिव), चमड़ा (चर्मपट्ट), ऊनी वस्त्र (दुस्सपट्ट), पलेटदार ऊनी वस्त्र (दुस्स वेणी), झालरदार वस्त्र (दुस्सवट्टी), चोल देश (संभवतः आधुनिक बल्ख का दक्षिण-पश्चिमी प्रदेश)[३], के अनेक भाँति के वस्त्रों (चोलवेणी, चोलवट्टी) और पलेटदार रुई के वस्त्रों से बनते थे[४]।

---

१ चुल्लवग्ग ५।२९।४.

२ वही ५।२६।२.

३ देखिए, जयचंद्र विद्यालंकार कृत भारतभूमि और उसके निवासी पृ० १३३, ३१३,३१९. बलख का दक्खिन-पच्छिमी भाग अब भी चोल़ कहलाता है।

४ चुल्लवग्ग १०।१०।१.

जूते और खड़ाऊँ भी, जो अनेक प्रकार के रंग और वस्तुओं के बने होते थे, पहनावे की प्रधान वस्तुएँ थीं। जूते एक, दो या तीन तलों के होते थे, चमड़ा पीला, लाल, मजीठी, काला या अन्य विविध रंगों में रँगा हुआ होता था। भिक्षु प्राय: केवल एक तले का ही जूता व्यवहार में लाते थे[१]।

जन साधारण कई प्रकार के जूते पहनते थे। ये जूते कोई तो पूरे टखनों तक (पुटबद्ध), कोई पूरे बूट की तरह (पडिगुंठिम), कुछ पहलदार या रुई भरे हुए (तूलपुण्णिक) होते थे। कोई जूते तीतर के पंखों की बनावट जैसे (तित्तिरपत्तिक), कोई भेड़-बकरियों की सींगों से सज्जित, कोई बिच्छू के डंक की तरह टेढ़ी नोकवाले तथा कुछ मोर के पंखों आदि से अलंकृत होते थे। भिक्षु ऐसे जूते नहीं पहन सकते थे[२]।

सीमांत के गणराज्यों में जहाँ बौद्ध धर्म का प्रभाव नहीं पहुँच सका था, भिक्षु लोग वहाँ के बने जूतों का व्यवहार करते थे[३]। चीता, शेर, तेंदुआ, मृग, ऊदबिलाव, बिल्ली, गिलहरी और उल्लूक के चमड़ों से भी जूते बनाए जाते थे[४]। मोची (चम्मकार) के उल्लेख तत्कालीन साहित्य में बहुत मिलते हैं[५]।

लकड़ी की खड़ाऊँ (पादुका) तथा खजूर की पत्तियों और बाँस की बनी हुई खड़ाऊँ का उपयोग साधारण जन करते थे[६]। इनके अतिरिक्त पयाल, मूँज, हिंताल, कमल, बल्वज नामक घास और कम्बल से बनी हुई खड़ाऊँ भी संभवत: व्यवहार में लाई जाती थीं। कुछ लोग सोना, चाँदी, रत्न, पीरोजा, बिल्लौर, कांसा, शीशा, टीन और ताँबे की

---

१ महावग्ग ५।२।१; ५।३।२.

२ महावग्ग ५।२।३.

३ " ५।१३।६.

४ " ५।२।४.

५ उदाहरणार्थ, कामजातक (जा० भाग ४, सं० १७२)

६ महावग्ग ५।७।१.

जटित खड़ाऊँ पहनते थे। भिक्षुओं के लिये उपर्युक्त सभी प्रकार की खड़ाऊँ वर्जित थीं[१]।

§ ४—मौर्य-शुंग और शक-सातवाहन काल (३२० ई० पू० से ई० सन् के आरम्भ तक)

इस काल में साहित्य के अतिरिक्त तत्कालीन शिल्पकला और मूर्तिकला से वेष-भूषा पर काफी प्रकाश पड़ता है, जिनसे ज्ञात होता है कि जातकों और विनय पिटक की वेषभूषा मौर्य और शुंग-सातवाहन कालों में भी प्रचलित रही।

अर्थशास्त्र में एक पूरा अध्याय ही सूत्राध्यक्ष के कर्तव्यों के विषय में है। सिलाई के विभाग में तागे (सूत्र), कवच (वर्म), अनेक प्रकार के कपड़े (वस्त्र), सूत या रेशों की बटी रस्सियाँ (रज्जु) आदि निर्मित होते थे। इन वस्तुओं के तैयार करने में ऊन (ऊर्ण), रेशे (वल्क), कपास (कर्पास), तूल, सन (शण) और पटसन (क्षौम) का प्रयोग होता था। वैदिक काल की तरह अब भी स्त्रियाँ ही कातने-बुनने का काम करती थीं। क्षौम, दुकूल (दुकूल नामक पौदे के रेशों से निर्मित वस्त्र), रेशम (कृमितान-हिंदी कतान), ऊन (रांकव) के वस्त्र और सूती वस्त्र तैयार करनेवालों को उनके वेतनों के अतिरिक्त अनेक उपहार और इनाम दिए जाते थे। सूत्राध्यक्ष के इस विभाग में बिछौने पर की चादरें (वस्त्रास्तरण) और पर्दे (प्रावरण) भी बनते थे[२]।

मौर्य काल में और उसके पश्चात् के युगों में कपास का व्यवहार बहुत होता था। सभापर्व (२।५१।८) में कार्पासिक (?) नामक प्रदेश का उल्लेख है। कांबोज (बदख्शां और पामीर) के जरी के काम के बेल-बूटेदार ऊनी शाल (जातरूपपरिष्कृत और्ण), बिलों में रहनेवाले जानवरों की खालों के वस्त्र (बैल) और जंगली बिडालों के चर्मवस्त्र (वार्षदंश) प्रसिद्ध थे जो कि समूर जान पड़ते हैं। आभीर लोगों ने अनेक भाँति के ऊनी कंबल जो भेड़-बकरियों

---

१ महावग्ग ५।८।३.

२ अर्थशास्त्र—शाम शास्त्री का संस्करण, पृ० ११३।१४.

की मुलायम ऊन के थे, तथा ऊन और मृगों के बालों से बने हुए (रांकव:) सुंदर रंगोंवाले बड़े शाल जो चीन और वाल्हीक में बने थे युधिष्ठिर को राजसूय के अवसर पर उपहार में दिए थे[१]।

रेशम (कौशेय) का उल्लेख अर्थशास्त्र के अतिरिक्त महाभारत[२] और यूनानी लेखकों के वर्णनों में हैं। अरस्तू ने भी कोस नामक स्थान में बनाए जानेवाले रेशम के वस्त्रों का उल्लेख किया है[३]।

एरियन ने मेगास्थनीज के वर्णन के आधार पर जिस भारतीय वेष-भूषा का परिचय दिया है, प्राय: वही प्रथम श० ई० पूर्व के अंत तक बनी रही। एरियन ने लिखा है कि भारत के लोग एक सूती अधोवस्त्र पहनते हैं, जो घुटने के नीचे लगभग टखनों तक पहुँचता है, और एक उत्तरीय, जिसे वे कुछ तो अपने कंधों के ऊपर डाल लेते हैं, और कुछ अपने सिरों के चारों ओर लपेट लेते हैं[४]। इस काल की परखम, बड़ोदा, बेसनगर और दीदारगंज की मूर्तियाँ भी इस प्रकार के वेष-का प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। द्वितीय शती ई० पू० के अंत की भारहुत की और प्रथम श० ई० पू० की साँची की उत्कीर्ण मूर्तियाँ भी इस बात की पुष्टि करती हैं।

परखम और बड़ोदा की यक्ष-मूर्तियों में अधोवस्त्र तथा उत्तरीय हैं; परंतु पगड़ी नहीं है। परंतु संभवत: इसी काल के सारनाथ से मिले हुए एक पत्थर मूर्ति के सिर पर वैसी ही पगड़ी है जैसी मुगलकालीन चित्रों में पाई जाती है[५]।

मौर्य काल के उत्तरार्द्ध में स्त्रियों का पहनावा बेसनगर और दीदारगंज की यक्षिणी-मूर्तियों की वेष-भूषा से प्रकट होता है। पिछली मूर्ति एक कटि-वस्त्र

---

१ सभापर्व ५१।२६.

२ सभापर्व ५१।२६.

३ मैक्रिंडल, एंशियंट इंडिया, पृ० २६.

४ " " ऐज डिस्क्राइब्ड बाइ मेगास्थनीज एँड ऐरियन, पृ० २१६.

५ कुमारस्वामी—हिस्ट्री ऑफ इंडिया एंड इंडोनेशियन आर्ट, फलक ५ चित्र १५; फलक ६, चित्र १८,

धारण किए हुए है, जो टखनों तक पहुँचता है, और कमर में एक पाँच लड़वाली मेखला से कसा हुआ है। यह मूर्ति एक पटका (बौद्ध ग्रंथों का फासुका) पहने है, जिसका एक टेढ़ा किनारा कटिवस्त्र में खोंसा आ है और दूसरा पैरों के बीच में लटकता है। दाहिने कंधे से लिपटा हुआ एक दुपट्टा नीचे लटकता है। बेसनगर की यक्षिणी-मूर्ति एक कटि वस्त्र धारण किए हुए है, जो घुटनों के कुछ नीचे तक पहुँचता है। कमर में पाँच लड़ियों की मेखला कसी है जिसके ऊपर ढीली कमरबंद है, जो तितलीनुमा गाँठ में बँधी है और जिसका एक छोर नीचे लटकता है। कटि-वस्त्र में नाभि के कुछ नीचे जो पटका खोंसा हुआ है, वह पलेटदार किनारों का है।

भारहुत से मिली हुई मूर्तियों में पुरुषों का प्रधान पहनावा धोती है। यह वस्त्र कमर के चारों ओर लपेटकर सामने की ओर समेटा जाता था, और फिर दोनों पैरों में से निकालकर पीछे बाँध दिया जाता था। इन सब मूर्तियों में धोती घुटनों के नीचे, पैर के मध्य तक पहुँचती है। ये धोतियाँ बिलकुल सादी हैं, और इन पर किसी पशु-पौदे के चित्र नहीं हैं, यद्यपि स्ट्रैबो के कथनानुसार इस काल में भारतीय जरी के काम के, बहुमूल्य पत्थरों से जटित तथा फूलों की आकृति से चित्रित बढ़िया तनजेब के कपड़े पहनते थे[१]।

धोती कमर में कमरबंद या फेंटे के द्वारा सँभालकर तितलीनुमा पक्खे या गाँठ से बँधी हुई है, जिसका एक फंदा एक तरफ लटकता है, और कमरबंद के दो छुट्टा सिरे दूसरी ओर। पटका या तो बेलबूटेदार कपड़े की पतली पट्टी का होता था[२], या सादे कपड़े का[३], जिसके दोनों छोरों पर लंबी झालरें रहती थीं। यह ढीली डोरों का भी बनता था, जिनके दोनों छोर आभूषित झब्बों से युक्त होते थे। कभी कभी वे बिना झब्बों के सादे ही होते थे।

मूर्तियों में कमर के ऊपर का अंग एक हलके दुपट्टे को छोड़ प्रायः वस्त्ररहित रहता था। यह दुपट्टा कई प्रकार से पहना जाता था। सबसे

---

१ मैक्रिंडल—मेगास्थनीज एंड एरियन पृ० ७०.

२ बरुआ—ऐस्पेक्ट्स ऑफ लाइफ एंड आर्ट फलक ५८, चित्र ६३.

३ " " " " ६४.

साधारण ढंग वह था जिसमें दुपट्टा दोनों कंधों पर पहना जाता था, और उसके दोनों छोर कखौरिओं में से निकालकर बड़ी नजाकत से कुहनियों के ऊपर छोड़े जाते थे। ऐसा प्राय: पूजन के समय किया जाता था। दुपट्टा पहनने का दूसरा प्रकार वह था जिसमें एक छोर नीचे को लटकता था, और दूसरा पीछे की ओर डाल दिया जाता था। तीसरे ढंग में दोनों छोर पीछे की ओर फेंक दिए जाते थे। चौथा प्रकार वह था जिसमें दुपट्टा काँख में से न ले जाकर वक्ष:स्थल पर लटकाया जाता था। इसके पहनने के कुछ ढंग ऐसे थे जिनमें दुपट्टा शरीर के चारों ओर फिराकर उसका छोर बाएँ कंधे पर डाल दिया जाता था।

पुरुषों द्वारा पहनी जानेवाली पगड़ी (उष्णीष, वेष्टनी) दो प्रकार की होती थीं। हल्की पगड़ी में बाल सिर के ऊपर गाँठ में इकट्ठे कर लिए जाते थे, और पगड़ी की दोनों पट्टियाँ माथे के ठीक ऊपर एक दूसरे को पार करती थीं, और वे उस गाँठ को भी ढक लेती थीं, जिस पर पगड़ी के दोनों छोर बँधे रहते थे। इस हल्की पगड़ी में बालों का बहुत सा भाग खुला रह जाता था। भारी पगड़ी में पूरा सिर ढक जाता था।

कंचुक या कुर्ता स्त्री पुरुष दोनों धारण करते थे। भारहुत में इसके दो स्थानों पर चित्रण मिलते हैं। यहाँ के द्वार-स्तंभ पर बनी हुई मूर्ति (जिसे डा० बरुआ ने राजा धनभूति की मूर्ति कहा है, भारहुत २, फलक २२) बोधि-वृक्ष का पूजन करती हुई अंकित है। पास ही एक सेवक की मूर्ति है, जो पूरे आस्तीन की जाकट पहने है, बगल में उसके छोर गोल कटे हुए हैं। कालर, आस्तीन, कफ और खुले हुए छोर फीते जैसी वस्तु से सँवारे हैं। वह धोती और पगड़ी भी पहने है।

भारहुत की दूसरी मूर्ति (बरुआ के अनुसार सूर्य, भाग २, फलक ४२) भी पूरी आस्तीन का कुर्ता पहने हुए है जो लगभग बीच जांघ तक पहुँचता है। जाँघों पर के खुले हुए किनारे काट में टेढ़े हैं। यह दो स्थानों पर डोरों से बँधा है, एक गले पर और दूसरा पेट के चारों ओर। उसका सिर खुला है; सिर के पीछे की ओर बाल एक चौड़े फीते से बँधे हैं। कटि प्रांत और जाँघों के ऊपर धोती है जिससे पटका लटक रहा है। वह लंबे बूट भी पहने है। बाईं टाँग

में एक पट्टा लटकता है, जिसमें एक कटार बँधी है। वास्तव में यह मूर्ति उत्तर पश्चिमी सीमांत के सिपाही के तत्कालीन पहनावे का अच्छा उदाहरण है। इसके सीधे हाथ में अंगूर का गुच्छा है।

कोट या कुर्ते का पहनना इस काल में बहुत प्रचलित था, जैसा कि गुप्त काल की प्राप्त अनेक मूर्तियों से विदित होता है। भीटा से मिली एक पुरुष मूर्ति आजकल के चोगे की तरह आस्तीनदार कोट पहने हुए है। वह खुला हुआ है, पर सीने पर गाँठ देने के लिये उसमें घुंडियाँ लगी हुई हैं[1]।

कुर्ते भी प्राय: पहने जाते थे, जो कमरबंद से कमर के ऊपर कसे रहते थे। साँची, भाजा आदि स्थानों से आधी आस्तीन और पूरी आस्तीनवाले कुर्ते पहने हुए मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं।

भारहुत में प्राप्त मूर्तियों में सभी वर्गों की स्त्रियाँ ठीक उसी प्रकार साड़ी या धोती पहने हुए हैं, जैसे इस काल की पुरुषमूर्तियाँ पहने हैं। साड़ी घुटनों के कुछ ही नीचे पहुँचती है। उसका बाहरी किनारा लगातार बराबर के परतों में इकट्ठा समेटा हुआ है। एक सुंदर मेखला और कमरबंद से साड़ी कमर में बँधी है। कमरबंद कभी-कभी बेलबूटेदार होते थे। पैरों के बीच में लटकता हुआ पटका, जो प्राय: बड़ी सुंदरता से आभूषित रहता था, कमरबंद से लटकता हुआ होता था।

भारहुत की अधिकांश स्त्री-मूर्तियों के कमर से ऊपर के भाग प्राय: आच्छादन रहित हैं। दाहिने स्तन के समीप हलकी तंजेब पहने हुए यक्षिणी चंदा आदि के कुछ उदाहरण इसके अपवाद हैं।

भारहुत से मिली सभी स्त्री-मूर्तियों के सिर सुंदर वस्त्रों से आच्छादित हैं। यक्षिणी चंदा और देवता चूलकोका के सिराच्छादन बड़े ही आकर्षक हैं। कुछ स्त्रियाँ दुपट्टे पहने भी अंकित हैं, और कोई-कोई पगड़ी भी धारण किए हैं[2]।

साँची स्तूप में और कार्ला गुफाओं की उत्कीर्ण मूर्तियों और चित्रों में ई० पूर्व प्रथम शताब्दी की भारतीय वेष-भूषा के बड़े सुंदर दृष्टांत वर्तमान हैं।

---

१ आर्कलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट १९११-१२ पृ० ७४.

२ बरुआ—भारहुत, ऐस्पेक्ट्स ऑफ लाइफ एंड आर्ट भाग २, फलक ३[illegible] चित्र ३४.

पुरुषों का प्रधान परिधान धोती था, जो घुटनों तक पहुँचती थी। उसका एक सिरा पीछे की ओर खोंस दिया जाता था, और दूसरा चुनियाकर आगे बाँध लिया जाता था। या कभी एक छोर कमर के चारों ओर कस लिया जाता था और दूसरा बाईं कुहनी के ऊपर ले जाकर नीचे को छोड़ दिया जाता था। परंतु ऐसे उदाहरण अपवाद स्वरूप ही मिलते हैं। कमरबंद के द्वारा तितलीनुमा गाँठ में धोती कमर पर बँधी रहती थी। कार्ला में कटिवस्त्र कुछ छोटा मिलता है और कमरबंद लिपटे हुए दुपट्टे की तरह बगल में बँधा हुआ है[१]। पुरुषों का ऊर्ध्व अंग प्रायः खुला ही रहता था, पर कहीं कहीं उत्तरीय का व्यवहार पाया जाता है, जो अनेक ढंग से कंधों में लपेटा जाता था। भारहुत की अपेक्षा कार्ला में दुपट्टे का प्रयोग कम है। परंतु सब पुरुष-मूर्तियाँ साफा या पगड़ी पहने हैं, जो गूथे हुए बालों में विभिन्न प्रकार से लपेटकर बड़े ही आकर्षक ढंगों से लपेटी हुई है। शंखाकृति पगड़ी पहने हुए मूर्तियाँ मिली हैं। पगड़ी के सिरों की गाँठें गोल, चौकोर, पंखे जैसी आदि विभिन्न प्रकार की हैं। टोपियाँ पहने हुए भी मूर्तियाँ मिली हैं[२]। स्तूप-पूजन करते समय ऊँची खोदे के आकार की टोपियाँ पहने हुए विदेशियों की मूर्तियाँ हैं। एक ऐसी भी टोपी का चित्र है, जो सिर पर जमकर बैठी हुई है, और जिस पर सामने की ओर गाँठ है। अन्य अनेक प्रकार की आभूषित मनोहर टोपियों के भी चित्र मिले हैं।

अजंता में ऐसी सज्जित पगड़ियाँ नहीं मिलतीं। सिर के ऊपर बाल एक गाँठ में बँधे हैं, और उस के चारों ओर एक पतला फीता, जिसके सिरे फाँकदार हैं, बँधा है। यह पगड़ी १६ वीं और १७ वीं शताब्दी की अटपटी पगड़ी से बहुत मिलती-जुलती है[३]। साँची में रथ चलानेवाला शिरस्त्राण जैसी

---

१ बर्जेस—रिपोर्ट ऑन दि बुधिस्ट केव टेम्पल्स, फलक १३.

२ फरगुसन—ट्री एंड सर्पेंट वर्शिप, फलक ३८, चित्र १.

३ स्टेला क्रैमरिश—ए सर्वे ऑफ पेंटिंग इन दि डेकन, फलक १.

टोपी पहने है, जिसमें एक पर खोंसा हुआ है। कुछ विदेशी अपने ललाट पर फीते बाँधे हुए हैं[१]।

स्त्रियाँ दो प्रकार के अधोवस्त्र पहने हैं। एक लँगोटी के ढंग का है, जिसमें पट्ट का एक सिरा सामने मेखला से बँधा हुआ है और दूसरा पीछे खोंसा हुआ है। दूसरी प्रकार का वह है जिसमें कटि वस्त्र का एक छोर जो घुटनों तक पहुँचता है, कमर के चारों ओर लपेटा है; दूसरा छोर पलेटदार है, जो सामने खोंसा हुआ है, और फिर पीछे की ओर बाँध दिया गया है। एक दूसरी मूर्ति में कमर के चारों ओर कपड़ा लपेटा है; और पलेटदार छोर बगल में बँधा है। कभी-कभी कमरबंद भी पहना जाता था।

स्त्रियाँ अपने सिरों को प्रायः सुंदर किनारियों से सज्जित ओढ़नियों से ढकती थीं। ओढ़नी सिर को ढककर पीछे की ओर लटकाई रहती थी। कोई ओढ़नी डोरियों के द्वारा बँधी भी रहती थी। ओढ़नी का ऊपरी सिरा कभी-कभी पंखे के ढंग पर सजा रहता था। स्त्रियाँ पगड़ी और सँकरी टोपियाँ भी पहनती थीं, जो अनेक प्रकार से आभूषित रहती थीं। एक जुलूस में मुकुट-जैसी वस्तु पहने हुए एक महिला का चित्र है। हो सकता है कि वह राजा की शरीर-रक्षिका यवनी है।

ब्राह्मण साधुओं की मूर्तियाँ साधारण कटिवस्त्र के स्थान में कमर की काछनी पहने हुए अंकित हैं। यह काछनी सिली हुई जान पड़ती है, और कमर में एक डोरी से कसी है। वे एक उत्तरीय वस्त्र भी पहने हैं, जो बायाँ कंधा और सीना ढके हुए है; पर दायाँ कंधा खुला है। पटियादार बाल सिर के ऊपर एक शंखाकार घुमाव से सजाए गए हैं[२]। स्त्रियाँ भी जाँघिए की तरह का वस्त्र पहने हैं, जो घुटनों तक पहुँचता है। उत्तरीय वस्त्र भी पुरुषों के ही ढंग का है, केवल अंतर इतना है कि इससे स्त्रियों की बाईं कुहनी के कुछ ऊपर भुजा का भाग भी ढका रहता है[३]।

---

१ फर्गुसन—ट्री एंड सर्पेंट वरशिप, फलक ३३.

२ वही ३४, चित्र १.

३ वही ३२.

साँची की मूर्तियों में सिले हुए अनेक वस्त्र देखने को मिलते हैं। रथवाह, सिपाही, राजाओं के अंग-रक्षक, पताका-वाहक और स्तूप की पूजा करते हुए विदेशी लोग सिले हुए पूरी आस्तीन के कुर्त्ते, जाँघिये आदि वस्त्र पहने हैं। तीर आदि चलाते हुए सिपाही और शिकारी अपनी आस्तीनों को कुहनियों तक समेटे रहते थे। स्तूप का पूजन करते हुए विदेशी पूरी आस्तीन का कुर्ता जाँघिया और कमरबंद पहने हैं। उनका उत्तरीय या दुपट्टा पीठ पर लहराता है, और सामने गर्दन पर गाँठ से बँधा है। वे पूरे बूट भी पहने हैं। सिर पर कुछ तो पतली पट्टी सी बाँधे हैं, कुछ जमकर बैठनेवाली टोपियाँ पहने हैं, और कुछ नंगे सिर हैं।

जूते साँची की मूर्तियों में केवल एक स्थान पर मिलते हैं। ये विदेशी लोगों की मूर्तियों में पहनाए गए हैं। परंतु इससे यह परिणाम निकालना ठीक नहीं कि इस काल में भारतीय जूतों का व्यवहार नहीं करते थे। तत्कालीन साहित्य में अनेक उल्लेखों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि भारतीय अनेक प्रकार के जूते पहनते थे, जो विभिन्न वस्तुओं के बने होते थे। भारहुत, साँची आदि की स्त्री-पुरुष-मूर्तियाँ पूजन आदि धार्मिक कृत्य करती हुई अंकित हैं, अतः उनका ऐसे अवसरों पर जूता न पहनना युक्तिसंगत ही है।[1]

§ ५—ई० सन् की प्रथम शताब्दी से चतुर्थ श० के प्रारंभ तक[2]

ई० सन् की प्रथम तीन शताब्दियों में भारतीय जीवन और सभ्यता अपने विविध क्षेत्रों में विकसित और उन्नत हुई। भारतवासी गंगा के प्रदेशों के बाहर और विदेशों में मध्य एशिया तक फैल गए थे। इस काल में रोम साम्राज्य के साथ भारत का व्यापार बहुत बढ़ा। यहाँ के हीरे जवाहरात, सुगंधित द्रव्य, अनेक भाँति के पुष्पपात्र, बारीक मलमल आदि रोम को जाते थे, जिनके बदले में अपार धनराशि भारत को आती थी।

---

१ भारतीय विद्या, बम्बई, भाग १, अंक १, १९३९, पृ० २८-५३, भारतीय पहनावा शीर्षक सचित्र अँगरेज़ी लेख।

२ इंडिया सोसाइटी ओरियंटल आर्ट की पत्रिका में लेखक का दूसरा लेख, इसी विषय पर, १९४०, पृ० १८५-२२४।

इस काल में भारतीय वेषभूषा के इतिहास के लिये उत्तर में गंधार और मथुरा की कला में तथा दक्षिण के अमरावती, नागार्जुनीकोंडा आदि के स्तूपों में काफी सामग्री है। पुरुषों का प्रधान पहनावा धोती, दुपट्टा और पगड़ी तथा स्त्रियों का साड़ी और ओढ़नी का परिधान इस काल में भी प्रचलित रहा; परंतु सिले हुए कपड़े भी, जैसे जाँघिए, पायजामे और पूरे बूट, कवच, टोपियाँ आदि जो संभवत: मध्य एशिया और ईरानी वेषभूषा के अनुकरण थे, इस काल में व्यवहृत होने लगे।

तत्कालीन साहित्य में यद्यपि वेष-भूषा के विषय में यथेष्ट वर्णन नहीं मिलते, तो भी वस्त्र-निर्माण की वस्तुओं को जानने के लिये हमें साहित्यिक ग्रंथों पर विशेष रूप से निर्भर रहना है।

सूती वस्त्र का बहुत अधिक व्यवहार होता था। कपास के विस्तृत क्षेत्र (कर्पास वाट) थे, जिनमें बारीक मुलायम कपास होती थी[1]। जुलाहे (कुविंद) और उनकी स्त्रियाँ रुई कातते-बुनते थे। दक्षिण में नाग-जाति के लोग, विशेषत: कलिंग के, बहुत बढ़िया तनजेब तैयार करते थे, जो रोम, अरब, मिस्र आदि विदेशों को भेजा जाता था[2]।

रेशम की भी बहुत माँग थी। सफेद सादी रेशम (पट्टांशुक), चीन की रेशम (चीन), शहतूत के कीड़ोंवाली कौशेय रेशम और धुली हुई रेशम (धौतपट्ट) का व्यवहार किया जाता था। गुजरात की 'पटोला' नामक रंग-बिरंगी रेशमी साड़ी 'विचित्रपटोलक' कहलाती थी। दक्षिण भारत की स्त्रियाँ लाल रंग वाली रेशम के वस्त्र पहनती थीं[3]।

बढ़िया ऊनी कपड़ा 'दूश्य' (हिंदी धुस्सा) कहलाता था, जिसकी अनेक किस्में मालूम थीं। ऊन और 'दुकूल' के मिले हुए तागे बुने जाते थे[4]। काश्मीर

---

१ दिव्यावदान, पृ० २१२, २१४, २२१, ३८८ आदि

२ कनकसभाइ—तामिल्स एटीन हंड्रेड इअर्स एगो, पृ० ४५. वार्मिंगटन—कामर्स बिटवीन दि रोमन अम्पायर ऐंड इंडिया, पृ० २१२.

३ दिव्यावदान, पृ० ३१६; ललितविस्तर, पृ० ११३ (राजेंद्रलाल मित्र का संस्करण, कलकत्ता, १८७७) सिलप्पदिकारं, भाग १४, पृ० २०३.

४ दिव्यावदान, पृ० ३१६; २१५; ६१४; २२१.

के बने हुए सुंदर ऊन के शाल तो सबके आकर्षण और प्रशंसा के पात्र बन गए थे।

पटसन (क्षौम), सन और अन्य अनेक रेशेदार वृक्षों के रेशों से बने हुए कपड़े भी बहुत व्यवहार में लाए जाते थे[१]।

सुनहले बूटेदार कपड़े ('हर्यणी, हिरिवस्त्र'), दुकूल के धागों से बुने हुए वस्त्र ('पांडुदुकूल'), बनारसी रेशमी और सूती कपड़े(काशिक वस्त्र), सिंध गुजरात, और कोंकन के 'अपरांतक' नामक वस्त्र, छपी हुई छींट के कपड़े ('फुट्टक') और छपे हुए या बेलें काढ़े हुए वस्त्र (पुष्पपट्ट) भी भली भाँति ज्ञात थे और प्रयोग में लाए जाते थे[२]। सोपारा के बंदरगाह में बनारसी रेशम की एक दुकान (काशिकवस्त्रावारी) का उल्लेख दिव्यावदान में पाया जाता है (पृ० ३१६)।

साधु-संन्यासी फलों की जटाओं से बने हुए तथा मूँज, पेड़ों की छाल (वल्कल) और मनुष्यों या जानवरों के बालों से बने हुए कपड़ों का व्यवहार करते थे[३]।

समूर आदि जानवरों के रोंवों का भी उपयोग वस्त्रों के निर्माण के लिये किया जाता था[४]।

वस्त्रों का सुंदर रंगों में रँगना (वस्त्र-राग) और सीना भी कलाएँ थीं।

इस काल में भारतीयों के प्रधान आवश्यक परिधान धोती और दुपट्टा थे। राजा लोग धोती, दुपट्टा, पगड़ी और कभी-कभी कुरता-जैसा वस्त्र धारण करते थे। किसान, जुलाहे आदि पटसन के बने कटिवस्त्र (लुंगी) पहनते थे। राजा, मंत्री, राज्य के उच्च अधिकारी सेठ लोग, पुरोहित आदि साफे या पगड़ियाँ बाँधते थे। प्रतिहारी लोग ('कंचुकी') भूरे रंग के कुर्ते और कवच पहनते थे[५]।

---

१ दिव्यावदान, पृ० ३१६।

२ दिव्यावदान, पृ० ३१६; ललितविस्तर पृ० १५८,३३३,१४१,३६८ आदि

३ ललितविस्तर, पृ० ३१२; वार्मिंग्टन, पृ० १५७.

४ स्वॉफ—वही, पृ० १७२,१५८, अर्थशास्त्र—शाम शास्त्री का अनु० पृ० ८१.

५ दिव्या०—पृ० २१; २६; २७६; २५६ आदि; ललित०, पृ० ४७; नाट्यशास्त्र अ० २३.

तामिल साहित्य में अनेक उल्लेखों से ज्ञात होता है कि राजा लोग एक कटिवस्त्र, ऊँचा करंडाकार जड़ाऊ स्वर्ण-मुकुट और केयूर, हार आदि आभूषण धारण करते थे[१]। तामिल के मनुष्यों के परिधान उनकी सामाजिक स्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न होते थे। मध्य वर्ग के लोग कटिवस्त्र और पगड़ी पहनते थे। राजमहल के रक्षक भारतीय और यवन सिपाही कोट और कुर्ते पहनते थे। ऊँची स्थिति के पुरुष रेशम की रंगीन डोरियों से जिनमें चमकते हुए नीले मनके पिरोए रहते थे, अपने बाल बाँधते थे। नाग जाति के लोग सिर में पंख खोंसते थे[२]।

तामिल-स्त्रियाँ साड़ियाँ पहनती थीं, जो टखनों तक पहुँचती थीं। कमर तक का सारा अंग खुला रहता था जिस पर चंदन आदि सुगंधित द्रव्यों का लेप रहता था। दरबार की वेश्याएँ बारीक तनज़ेब का छोटा कटिवस्त्र पहनती थीं, जो जाँघों के आधे भाग तक पहुँचता था। पहाड़ी जातियों की स्त्रियाँ हरे पत्तों के द्वारा अपने कटि-प्रदेश को ढकती थीं[३]।

उत्तर-पश्चिमी भारत की गंधार-कला में पुरुष प्रायः धोती, दुपट्टा और साफा पहने पाए जाते हैं। इन मूर्तियों में कुर्ता, पायजामा और टोपी का भी व्यवहार है, जो अफ़ग़ानी और पंजाबी लोगों की साधारण पोशाक थी[४]।

गंधार-कला में राजपुत्र और रईस एक लंबी चुन्नटदार धोती और चादर पहने हुए मिले हैं। चादर परतदार और मुरेंड़दार आदि अनेक ढंगों से प्रायः कंधों के ऊपर से पीठ की ओर लटकती हुई पहनी गई है। पट्टी या फीते का बना हुआ कमरबंद भी कमर के चारों ओर बँधा रहता है[५]।

---

१ कनकसभाइ, वही, पृ० ११०.

२ 'पुरणानुरु' कनकसभाइ द्वारा उद्धृत, पृ० ११७.

३ कनकसभाइ की पुस्तक, पृ० ११७.

४ फाउचर, गंधार की ग्रीक-बौद्ध कला (फ्रेंच में) भाग २, चित्र ३६३,४१७, ३६२,४१५-१६.

५ वही।

बाल कभी कभी खुले रहते हैं, और सिर पर एक गोल गाँठ में बँधे रहते हैं, जो मोतियों और रत्नों से सज्जित रहती है। परंतु प्रायः गाँठ के ऊपर पगड़ी पहनी जाती थी। आज कल के हैट की तरह पगड़ी सारे सिर पर जमकर बैठ जाती थी। वह बहुत हलके कपड़े की बनी होती थी, और उसके एक छोर के परत पंखे के ढंग से सजाए रहते थे। ऐसी पगड़ी का व्यवहार अब भी पंजाबी और अफगानी करते हैं। पगड़ी की लपेटों के बंधन प्रायः देवों, पशुओं या पक्षियों के चित्रों से अलंकृत रहते थे[१]।

गंधार कला में दान देनेवालों, व्यापारियों और गृहपतियों का पहनावा धोती और उत्तरीय या चादर अंकित है। जाड़ों में लोग लंबे कुर्ते भी पहनते थे। कुछ पुरुष मूर्तियाँ सँकरे आस्तीन के कोट और शलवार भी पहने हुए हैं, ये सँकरे पायजामे होते थे जो इत्सिंग के कथनानुसार ईरान, तिब्बत, काशगर और सारे तुर्किस्तान में पहने जाते थे[२]।

असभ्य जातियों के सिपाही कमरबंद से कसा हुआ कटि-वस्त्र (लुंगी) पहनते थे और सीने पर एक मुरेड़दार कपड़ा। बाकी अंग और बाल खुले रहते थे। कभी-कभी पगड़ी पहनने के उदाहरण मिलते हैं।

अन्य सैनिक मुकुट (शीर्ष-कटाह) और कवच पहनते थे। कवच असीरियन ढंग का आधी आस्तीन का होता था और घुटनों तक पहुँचता था। वह कई प्रकार से पहना जाता था। कुछ सैनिक जाँघिया पहनते थे। राजाओं और रईसों के द्वारा भी मौक़ा पड़ने पर जाँघिया पहना जाता था[३]।

शिकारी कटिवस्त्र या लुंगी पहनते थे। किसान और मजदूर कमर पर छोटे कपड़े और लँगोटा पहनते थे, जिसका व्यवहार पहलवान भी करते थे, शाक्यों के द्वारा जाँघियों का व्यवहार अखाड़ों आदि में होता था। ब्राह्मण और ब्रह्मचारी लुंगी और चादर पहनते थे। उनके बाल गर्दन पर बिखरे रहते थे। विदेशी लोग टोपियों का उपयोग करते थे। टोपियाँ प्रायः ऊपर को

---

१ फूशे, गंधार की ग्रीक बौद्ध कला (फ्रेंच में) भाग २, पृ० १८६, चित्र ३६२-३६७, ४७७ आदि; भाग १, पृ० १८१ आदि.

२ वही, चित्र ३४५-५३, ४४० आदि.

३ वही, भाग १, पृ० ४०२, चित्र २०२-२०४.

उठी हुई तिकोनी होती थीं। उनमें कभी-कभी सिरे पर गाँठ भी लगी रहती थी। कुछ टोपियाँ मोतियों से जटित या चंद्रलेखा से अलंकृत भी होती थीं[१]।

गंधार-कला में स्त्रियों के परिधान में तीन वस्त्र हैं, एक आस्तीनदार कुर्ती, एक छोटा घाँघरा जैसा वस्त्र और एक शाल। कुर्ती या कमीज़ प्रायः घुटनों तक पहुँचती है; कभी-कभी वह सामने की ओर खुली रहती है। यह पूरी आस्तीन की कोट जैसी कमीज़ कमर के कुछ नीचे पहुँचती है, पर नाभि खुली रहती है।

साड़ी दो प्रकार से पहनी गई है; पहले प्रकार में उसका एक भाग कमर के चारों ओर लिपटा है, दूसरा भाग पलेटदार है और पीछे की तरफ खोंसा हुआ है। साड़ी पहनने का दूसरा ढंग वह है जिसमें एक भाग तो पहले की तरह कमर में लपेटा है और दूसरा छुट्टा है जो बायें कंधे पर पड़ा हुआ है[२]। साड़ी पहनने के अन्य अनेक ढंग थे। दुपट्टा या चादर साधारणतः कंधों के ऊपर डाला गया है। स्त्रियों के बाल प्रायः हारों से गुँथे मिलते हैं, पर कभी-कभी बालों के ऊपर किरीट या मुकुट भी सजे हुए मिलते हैं[३]।

राजाओं की परिचर्या में रहनेवाली विदेशी महिलाएँ[४] या तो प्राचीन यूनानी वेष-भूषा रखतीं थीं और कुर्ते तथा पलेटदार किनारेवाले दुपट्टे का व्यवहार करती थीं, या भारतीय स्त्रियों की तरह ही साड़ी और चादर धारण करती थीं। साड़ी और चादर के साथ वे कमरबंद का भी व्यवहार करती थीं[५]।

इस काल में मध्यदेश के लोगों की वेष-भूषा मथुरा की मूर्तिकला से स्पष्ट होती है[६]। भारतीयों की पोशाक साधारणतः धोती और दुपट्टा मिलती है। धोती का एक सिरा पीछे लपेटा गया है, और दूसरा बड़ा हिस्सा मोड़कर

---

१ वही, चित्र १३८।१८७ आदि; भाग २, चित्र ३०३,४३१, ३५४, आर्कि० स० रि०, १६११-१२, फलक ४०, चित्र १०; १६१०-११, फलक २२.

२ आर्कि० स० रि०, १६१९-२०, फलक ९; १६२५-२६, फलक ४६, फाउचर भाग १, चित्र १३६-४०, २४४-४५ आदि.

३ आर्केलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, ऐनुअल रिपोर्ट, १६१६-२०, फलक ६ चित्र १-२.

४ मेगास्थनीज और स्ट्रैबो आदि के वर्णन; अर्थशास्त्र १।२१।

५ फाउचर, वही, भाग २, चित्र ३४२-३४३.

६ देखिए—वोगल-कृत ला स्कल्चर द मथुरा, फलक ७, ८, ११, ३५ आदि

प्राय: बाईं तरफ खोंसा हुआ है। ऊँची सामाजिक स्थितिवाले लोग कमरबंद कसते थे। दुपट्टा दोनों कंधों के ऊपर से कुहनियों के बीच से होकर नीचे लहराता था। रईस लोग बाएँ कंधे से पीठ की ओर से घुटनों तक आता हुआ दुपट्टा पहनते थे। तीसरा वस्त्र पटका था जो बड़े आभूषित ढंग का होता था और नाभि के पास धोती में खोंसा रहता था। घुड़सवार, सईस आदि लुंगी पहनते थे जो कमरबंद के द्वारा कसी रहती थी।

पुरुषों के द्वारा पगड़ी (उष्णीष) का व्यवहार प्राय: मिलता है। ये साधारण कपड़ों की और बहुमूल्य पदार्थों की भी बनती थीं, जिनके ऊपर धातुओं के अनेक प्रकार के वृत्ताकार किरीट सुसज्जित रहते थे[१]। पगड़ियों के ऊपर रंग-बिरंगे पंख भी खोंसे जाते थे[२]।

मथुरा की कला में शक शासक और सिपाही प्राय: लंबा कुर्ता, पायजामा, टोपी और ऊँचे बूट पहने हुए मिलते हैं। कुर्ते अनेक प्रकार के पाए जाते हैं, जो प्राय: बेल बूटेदार हैं। ईरानियों की भी वेष-भूषा शकों से मिलती-जुलती थी[३]।

विदेशियों की टोपियाँ प्राय: उठी हुई तिकोनी मिलती हैं। कुछ टोपियाँ शंखाकार और कुछ सामने या पीछे की ओर झुकी हुई ऊँची टोपियाँ जो आजकल की तुर्की टोपियों से मिलती हैं प्रचलित थीं। इनमें से किसी किसी में चंद्राकार या अन्य प्रकार के चिह्न मिलते हैं। कुछ टोपियाँ आजकल की अर्धगोल पगड़ियों जैसी भी होती थीं।[४]

मथुरा-कला की मूर्तियों में स्त्रियाँ प्राय: टखनों तक लटकती हुई साड़ियाँ पहने हैं, जो सुसज्जित मेखलाओं द्वारा कमर में कसी हैं। वे दुपट्टा

---

१ स्मिथ, जैन स्तूप ऑफ मथुरा, फलक १६, चित्र २.

२ अग्रवाल, मथुरा की मूर्तिकला (अँगरेजी), फलक १६; चित्र ३३.

३ आर्क० स० रि०, १६११-१२, फलक ५५, चित्र ७-८. बोगल फलक ३३ ब; अग्रवाल-कृत मथुरा संग्रहालय की हैंड बुक, फलक २१, चित्र ४१.

४ वोगल—वही, फलक ४, १३, ३३ आदि; अग्रवाल—वही, फलक १३, चित्र २६.

भी धारण किए हैं जो दोनों कंधों को ढकता हुआ नीचे लटकता है। बहुत सी मूर्तियों में दुपट्टा नहीं मिलता। कमरबंद अनेक प्रकार के सुंदर ढंगों से बँधे हुए मिलते हैं। पटके भी अनेक तरीकों से पहने जाते थे[१]।

घाघर या साया जो आजकल संयुक्त प्रांत, मध्यप्रांत, गुजरात और मारवाड़ आदि में बहुत पहना जाता है, कुषाण-काल में भी था, परंतु यह बहुत कम पहना जाता था। शायद ग्वालिनें और ऐसे ही अन्य स्त्रियाँ इसे पहनती थीं। लखनऊ के प्रांतीय संग्रहालय में साया पहने हुए एक स्त्री की मूर्ति है (सं० बी ८६)।

मथुरा-कला में प्राय: स्त्रियाँ कुर्ती पहने नहीं मिलती। परंतु विदेशी महिलाएँ कुर्ती और साड़ी पहने हैं। साड़ी का एक हिस्सा कमर के चारों ओर लपेटा है; दूसरा बाएँ कंधे के ऊपर है जो बाईं ओर के वक्षःस्थल को ढकता है। साड़ी पहनने का यह ढंग गंधार और उत्तर-पश्चिमी सीमांत में विशेष प्रचलित था। शक और ईरानी स्त्रियाँ बूटेदार कुर्ते पहने मिली हैं। पुष्पपट्ट का बना हुआ सुंदर सुसज्जित कुर्ता पहने भी मथुरा प्रांत से एक स्त्री-मूर्ति मिली है[२] (सं० बी ८४)।

मथुरा-कला में स्त्रियाँ साधारणतः खुले सिर मिली हैं। परंतु कभी कभी घूँघट जैसा वस्त्र और पगड़ियाँ पहनी हुई मिलती हैं। पगड़ियाँ दो प्रकार की मिली हैं, जिनका पहनना केवल अपवाद स्वरूप ही है[३]।

अमरावती, नागार्जुनीकोंडा आदि के स्तूपों में पुरुष-मूर्तियाँ छोटी धोती या लुंगी पहने हुए मिलती हैं, जो टखनों के ऊपर तक पहुँचती है, और अनेक ढंग से बँधी रहती है। एक पलेटदार सिरा सामने बँधा है, और दूसरा पीछे खोंसा हुआ है। कभी कभी धोती घुटनों तक ही है।

---

१ वोगल, ला स्कल्चर डे मथुरा, फलक ७, १६-१८।

२ वही, ६०, ब।

३ स्मिथ, जैन स्तूप आफ मथुरा, फलक ३४-३५.; वोगल, फलक १७ अ.

कमरबंद अनेक प्रकार के कलात्मक ढंगों से पहिना हुआ पाया जाता है। दुपट्टा साधारणत: नहीं मिलता, पर कहीं कहीं वक्षःस्थल तथा बाएँ कंधे पर पड़ी चादर या दुपट्टा पाया जाता है[१]।

बालों की सजावट और सिराच्छादन अनेक ढंग के मिलते हैं। बाल अनेक प्रकार के आभूषणों से गुथे हुए रहते थे और उनमें पगड़ी शृंगारपूर्ण ढंगों से पहनी जाती थी।

किरीट-जटित पगड़ी, ढीली पगड़ी और टोपियों का भी व्यवहार यहाँ की मूर्तियोंमें पाया जाता है। पगड़ी अनेक प्रकार से बाँधी जाती थी, उसी प्रकार टोपियाँ भी। खड़ी तिकोनी टोपियाँ, गोल सँकरी टोपियाँ और कंटोप पहने हुए मूर्तियाँ मिलती हैं[२]।

कुर्ते का व्यवहार राजा-रईसों की मूर्तियों में नहीं पाया जाता। परंतु विदेशियों, पालकी ले जानेवाले कहारों, गायकों आदि के द्वारा पहने हुए कुर्ते के दृश्य बहुत मिलते हैं। वह कमर तक पहुँचता है। कुर्ते के साथ कंटोप धोती भी पहने जाते थे, या पगड़ी, दुपट्टा और धोती पहने जाते थे। कहार, ग्वाले आदि जाँघिये और कमरबंद का भी व्यवहार करते थे[३]।

इस काल में दक्षिण भारत की स्त्रियाँ प्राय: टखनों के ऊपर तक छोटी साड़ियाँ पहनती थीं जो कमर पर मेखलाओं से बँधी रहती थीं। कमर के ऊपर का भाग प्राय: खुला रहता था। मेखला से खोंसा हुआ पटका नीचे लटका करता था। कभी-कभी मेखला के स्थान में कमरबंद भी मिलता है[४]।

केश-विन्यास और केश-संस्कार के अनेक प्रकार दाक्षिणात्य स्त्रियों में प्रचलित थे। मूर्तियों में किरीट, जड़ाऊ मुकुट आदि भी पहने हुए मिलते हैं। कभी-कभी सुसज्जित पगड़ियाँ बाँधे हुए भी स्त्रियों की मूर्तियाँ

---

१ फर्गुसन, ट्री एंड सर्पेंट वरशिप, फलक ६५, चित्र ३;६१,३;७४ आदि. लांगहर्स्ट दि बुधिस्ट ऐंटिक्विटीज फ्राम नागार्जुनीकोंड, फलक २२ अ आदि.

२ फर्गुसन, वही, फलक ७४,८४; लांगहर्स्ट, फलक २१ ब, २३ ब.

३ फर्गुसन, वही, फलक ८३, चित्र १-२; ८४; ५७।

४ फर्गुसन वही फलक, ८५; ९१, चित्र ३.

मिलती हैं। केश-पाश (जूड़े) के चारों ओर बड़े शृंगार- पूर्ण ढंगों से ये पगड़ियाँ लपेटी जाती थीं। इनमें से कुछ दृश्य आजकल के मध्यप्रांत की बनजारों की औरतों के जूड़ों से बहुत मिलते-जुलते हैं। अनेक प्रकार के आभूषित किरीट और जड़ाऊ मुकुट भी इस काल की स्त्रियों द्वारा धारण किए हुए मिलते हैं। बालों के ऊपर घूँघट जैसा कपड़ा बहुत ही कम मिलता है[१]।

छोटे लड़के जाँघिया और सुसज्जित पगड़ियाँ पहने हुए मिलते हैं। कभी कभी सीने के चारों ओर एक छोटा दुपट्टा भी बँधा हुआ मिलता है[२]।

§ ६—गुप्तकालीन भारतीय पहरावा

भारतीय संस्कृति के इतिहास में गुप्त काल स्वर्णयुग माना गया है। राजनैतिक क्षेत्र में कुषाण-साम्राज्य के पतन के बाद जो अराजकता फैली थी उसका उन्मूलन करके गुप्तों ने अपने राज्य की दृढ़ नींव डाली। गुप्त राजाओं ने अपने सामने सर्वदा भारतीय आदर्श रखा जिसके फल-स्वरूप साहित्य, कला तथा वास्तु शास्त्र में एक नवीन रस-धारा बही जिसके प्रतीक कवि-सम्राट् कालिदास हुए जिन्होंने अपनी अमर वाणी से भारतीय इतिहास के इस महान् युग को अमरत्व प्रदान कर दिया। इसी काल में अजंता की उस अमर कला की संवर्धना तथा परिपुष्टि हुई जिसने कला के अमिट सिद्धांतों का प्रतिपादन करते हुए आधे से ऊपर एशिया में भारतीय कला की विजय-पताका फहरा दी। इस कला में भाव तथा लावण्य योजन का अपूर्व सम्मिश्रण देखकर दर्शक चकित सा रह जाता है तथा उसका हृदय रसास्वादन से परिप्लावित हो जाता है। अजंता की कला का सृजन केवल रसास्वादन के लिये ही नहीं हुआ था। अजंता के चित्रों ने हमें उस भारतीय सभ्यता का मूर्त रूप में दर्शन कराया है जिसकी झलक हम कालिदास और बाणभट्ट में पाकर आनंद से पुलकित हो उठते हैं। इस कला में भारतीय जीवन के अनेक पहलुओं पर दृष्टि डाली गई है। राग-रंग में मस्त गुप्तकालीन पुरुष तथा स्त्रियाँ, सजे हुए

---

१ लांगहर्स्ट, फलक २० ब; ३४ अ; फर्गुसन, फ० ८५; ८४,३;७४२,१.
२ वही, फलक ६ स, द.

राज्यप्रासाद, चटकीले नकशोंवाले कपड़े, चुस्त अश्वारोही, विनीत दास-दासियाँ, अपने देश के अनुरूप कपड़े पहने हुए विदेशी पुरुष—ये सब भारतीय सभ्यता के उस महान् युग के प्रतीक स्वरूप हैं जिसने इतिहास में अपना सिक्का सर्वदा के लिये जमा लिया है।

भारतीय संस्कृति में आरंभिक काल से ही धर्म का एक विशेष स्थान रहा है। इसी की धुरी का आश्रय लेकर भारतीय सभ्यता का चक्र अवांतर घूमता रहा है। गुप्त काल में यह धर्म सर्व प्राणियों के हित का साधन बना। उच्च विचार-धाराओं से आलोड़ित होता हुआ भी जीवन की वास्तविकताओं से यह परे न था—इसका एकमात्र उद्देश्य मनुष्य-जीवन को सार्थक बनाना था। कालिदास ने रघुवंश के प्रथम अध्याय (५।८) में मनुष्य-जीवन के उद्देश्य का बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है। रघुकुल के राजा बचपन से पवित्र जीवन व्यतीत करते थे। विद्या से उन्हें प्रेम था, निष्काम कर्म से उन्हें प्रीति थी—उनके दिग्विजय केवल प्रजाहित के लिये होते थे। धन का सञ्चय वे केवल दान के लिये करते थे। अपराधियों को यथायोग्य दंड देते थे, मिथ्यावचन के परिहारार्थ वे मितभाषी थे, विवाह केवल संतानोत्पत्ति के लिये करते थे, अपनी काम-वासना के तृप्त करने के लिये नहीं। अंत में वे सब कार्यों से अलग होकर वानप्रस्थ जीवन व्यतीत करते हुए योग-साधन करते हुए इस लोक से विदा ले लेते थे। जिस काल में राजधर्म के उपर्युक्त उद्देश्य रहे हों उसमें प्रजा जीवन जिसकी झलक हमें कालिदास तथा बाण के ग्रंथों में मिलती है, कैसा रहा होगा, इसकी हम कल्पना कर सकते हैं। गुप्त सम्राट् शिव तथा विष्णु के उपासक थे लेकिन उनका हिंदू धर्म संकुचित नहीं था। बौद्ध तथा जैनियों का भी वे यथोचित सत्कार करते थे। गुप्त साम्राज्य के अंत हो जाने पर भी उस राज्य के प्रतीक-स्वरूप सांस्कृतिक धारा का वेग बहुत धीमा न पड़ा—अविरल गति से यह धारा बहती गई और इसकी समाप्ति तब हुई जब उत्तर भारत का साम्राज्य युग हर्षवर्धन के बाद ७वीं शताब्दी के बाद अंतर्हित हो गया। इसी तारतम्य को ध्यान में रखते हुए गुप्त-युग की संस्कृति के अध्यन के लिये हमें छठी और सातवीं शताब्दियों की ओर भी देख लेना आवश्यक है क्योंकि

इन दोनों शताब्दियों में हम उस संस्कृति का बिखरा हुआ रूप देखते हैं जिसकी नींव गुप्त काल में पड़ी। इस युग के हमारे पथ प्रदर्शक बाणभट्ट हैं जिनके अमर ग्रंथों में भारतीय जीवन के भिन्न भिन्न पहलुओं पर काफी प्रकाश डाला गया है। अगर हर्षचरित तथा कादंबरी को हम अलग कर दें तो गुप्तकालीन संस्कृति का इतिहास अधूरा ही रहेगा इसमें कोई अत्युक्ति नहीं। गुप्तकालीन संस्कृति के प्रतीकों में केवल तत्कालीन शासन-व्यवस्था, प्रौढ़ धर्म-भावना अथवा कला के क्षेत्र में उन्नति ही नहीं हैं। गुप्त संस्कृति में बुद्धिजन्य विषयों को जितनी महत्ता दी गई उतनी ही लौकिक संस्कृति को। इस लौकिक संस्कृति का एक अंग वेष-भूषा भी है। आधुनिक काल में वेश तथा केश-विन्यास में रोज हेराफेरी एक ऐसी माप है जिसके द्वारा हम सभ्यता की गहराई को नाप सकते हैं। फ्रांस की सभ्यता का एक प्रधान अंग पेरिस के लिये कपड़े तथा प्रसाधन की वस्तुएँ हैं जो पच्छिमी दुनिया में अपना सानी नहीं रखतीं। अगर इस माप से भी हम गुप्तकालीन सभ्यता को तोलें तो वह किसी सभ्यता से कम नहीं रहती। क्या वस्त्र, क्या गहने, क्या स्त्रियों या पुरुषों का केश-विन्यास, इन सभी में गुप्त काल में एक विशेषता पाई जाती है। गुप्तों के पूर्व भी भारतीय वेष-भूषा काफी विकसित रूप में विद्यमान थी पर उसमें एक भारीपन था, एक बनावट थी। उदाहरणार्थ केश-विन्यास ही को ले लीजिए, गुप्तों के पहले अधिकतर स्त्रियों के केश चोटियों के आकार में गूँथे जाते थे लेकिन गुप्त काल में केश-विन्यास एक कला की श्रेणी में गिना जाने लगा। अजंता के चित्रों में स्त्रियों की सैकड़ों तरह की चोटियाँ दिखलाई गई हैं जिनसे पता चलता है कि गुप्त काल की प्रसाधिकाएँ बाल सँवारने की कला में अतीव निपुण थीं। साड़ी भारतीय स्त्रियों के पहनावे की एक खास चीज है और इसे पहनना हम एक साधारण क्रिया समझते हैं। पर गुप्त-काल में साड़ी अनेक ढंगों से पहनी जाती थी जिनसे यह पता चलता है कि उस काल में स्त्रियाँ वस्त्र पहनने की कला से कितनी अवगत थीं। वस्त्र पहनने की कला का उस युग में इतना महत्व था कि अमरकोश में इस कला के लिये पाँच पर्यायवाची शब्द यथा आकल्प, वेष, नेपथ्य, प्रतिकर्म तथा प्रसाधन दिए हैं (२।६।९९)। कपड़ों में सुंदर बेल-बूटों की कल्पनाएँ भी गुप्तकाल की एक विशेषता है।

गुप्तकालीन सादे कपड़े

एक सभ्य समाज के लिये यह बात आवश्यक है कि उसके सदस्य अच्छे कपड़े और गहने पहनें। अच्छे कपड़े पहनने के लिये यह आवश्यकता होती है कि कारीगर नये नये रंगों के वेल-बूटेदार बिने हुए या छपे हुए वस्त्र बनावें। गुप्तकालीन समाज भी इस नियम का अपवाद नहीं था। इस बात का काफी प्रमाण है कि गुप्त-काल में अच्छे महीन वस्त्रों की बड़ी माँग थी। ऐसा मालूम होता है कि कपड़े पर छपाई की कला इस युग में अत्यन्त विकसित हुई। छपाई तथा बुनाई में चारखाना, डोरिया तथा हंस-पंक्तियों के अलंकार जैसा कि अजंता के चित्रों से विदित होता है बहुत व्यवहार में लाए जाते थे। छपाई तथा बुनाई के क्षेत्रों में उन्नति का पता अमरकोश से चलता है। तत्कालीन साहित्य में तथा चीनी यात्रियों के भारत-यात्रा-विवरणों से भी इस की पुष्टि होती है।

हुएनत्संग (ई० ६२९-६४५) भारतीय वस्त्रों का निम्नलिखित वर्णन करता है—

कौशेय—चीनी भाषा में इसे कियाओ-शे-ये कहा है तथा इस वस्त्र को जंगली रेशम का बना कहा है (वाटर्स—ऑन युआन च्वांग ट्रावेल्स इन इंडिया, जि० १, पृ० १४८)। लेकिन कौशेय को जंगली रेशम कहना ठीक नहीं क्योंकि अमरकोश में इस शब्द का व्यवहार (अ० को० २।६।११) सब तरह के रेशमों के लिये हुआ है।

मलमल को हुएनत्संग ने तियेह, मोटे कपड़ों को पु, क्षौम (अर्थात् तीसी के पौधों के रेशों से बने कपड़ों को श्चुमो तथा ऊनी वस्त्र को कं-पो-लो (कंबल) तथा हो-ला-ली कहा है। ऊनी कपड़े बनाने के लिये भेड़ और बकरों के ऊन काम में लाए जाते थे तथा हो-ला-ली एक तरह के जंगली जानवर के रोएँ से बनाया जाता था। इस जानवर का ऊन बड़ा पतला होता था और बड़ी आसानी से काता जा सकता था। अच्छे कपड़े बनाने के लिये हो-ला-ली का व्यवहार होता था। (वही, पृ० १४८) वाटर्स के अनुसार हो-ला-ली संस्कृत के रल का रूपांतर है। हो न हो यह संस्कृत रल्लक (अ०

को० २।७।११६) का चीनी रूप है। अमरसिंह के अनुसार रल्लक एक विशेष प्रकार के ऊनी कपड़े का नाम है।

हुएनत्संग के समय सन के बने हुए (शणक) कपड़ों का व्यवहार भिक्षुवर्ग करता था। (वही, पृ० १२०)

अमरकोश में हमें गुप्तकालीन कपड़ों का कुछ वर्णन मिलता है—अमरसिंह ने कपड़ों को चार श्रेणियों में विभाजित किया है—वल्क (छाल का बना हुआ), जिसके अंतर्गत क्षौम इत्यादि आ जाते हैं (२।६।१११), फाल (गूदे से बना हुआ) जिसके अंतर्गत कर्पास और बादर आ जाते हैं, कौशेय (रेशम के कीड़ों से बना हुआ) तथा रांकव (मृग के रोम से बना हुआ)।

इस प्रकरण के बाद नए कपड़ों का वर्णन आता है। करघे पर चढ़ने से लेकर कुंदी तक सब अवस्थाओं का इसमें वर्णन है। करघे से तुरत उतरे हुए कपड़े के लिये अनाहत (बिना कुंदी किया हुआ), निष्प्रवाणि (करघे से फौरन उतरा हुआ), तंत्रक तथा नवांबर शब्दों का प्रयोग हुआ है (अ० को० २।६।११२)। धुले हुए वस्त्र के जोड़े को उद्गमनीय कहा है।

रेशमी कपड़ों के वर्णन में एक भेद पत्रोर्ण आया है (२।६।११३)। शायद यह जंगली रेशम हो। क्षीरस्वामी ने अपनी टीका में इसे वट तथा लकुच के पत्ते खाकर जीनेवाले कीड़ों के रेशम को कहा है (अमरकोश, डा० हरदत्त द्वारा संपादित, पृ० १५७)। धुले तथा कीमती रेशमी वस्त्र को महाधन कहा गया है। (२।६।११३)

दुकूल को क्षौम का पर्यायवाची कहा गया है तथा इसी वस्त्र की बनी हुई चादर को निवीत या प्रावृत कहा है। लगता है, बाद में लोग सभी सफेद महीन वस्त्रों को दुकूल कहने लगे थे (देखिए—मल्लिनाथ की टीका, रघुवंश, १।६५)।

अमरकोश में कपड़े की लंबाई, चौड़ाई तथा छोरों के लिये भी बहुत से शब्द आये हैं। छोरों के लिये दशा और वस्ति का, लंबाई के लिए दैर्घ्य, आयाम तथा आरोह को तथा चौड़ाई के लिये परिणाह और विशालता आए हैं। (२।६।११४)

पहनते-पहनते फटे हुए कपड़ों के लिये भी कई शब्दों का व्यवहार हुआ है। पुराने कपड़ों के लिये पटच्चर और जीर्ण वस्त्र तथा फटे और गंदे कपड़ों के लिये नक्तक और कर्पट शब्द व्यवहार में लाए गए हैं (२।६।११५)

सादे कपड़ों के लिये निम्नलिखित छः शब्द दिए गए हैं – वस्त्र, आच्छादन, वासः, चैल, वसन तथा अंशुक (२।६।११५)। मूल्यवान् वस्त्रों के लिये सुचेलक तथा पट शब्दों का व्यवहार हुआ है तथा खद्दर के लिये वराशि तथा स्थूल शाटक (२।६।११६)। घटिया तथा कमकीमत बनारसी रेजे के लिये बनारस में अब भी 'रासी माल' शब्द व्यवहार में लाया जाता है। शायद यह शब्द वराशि का अपभ्रंश रूप है।

चादरों में भी बहुत से भेद किए गए हैं। चाँदनी के लिये निचोल और प्रच्छदपट तथा बिछानेवाले कम्मल के लिये रल्लक और कंबल शब्दों का व्यवहार हुआ है (२।६।११६)।

चीनी यात्रियों के विवरण तथा गुप्तकालीन साहित्य से उन स्थानों का भी कुछ पता चलता है जहाँ अच्छे कपड़े बुने जाते थे। हुएनत्संग एक तरह की पतली सूती डोरिया का वर्णन करता है जो मथुरा में बुनी जाती थी (वाटर्स, वही, जि० १, पृ० ३०१) इस संबंध में हम पाठकों का ध्यान अजंता के चित्रों की ओर खींचना चाहते हैं। इन चित्रों में स्त्री-पुरुष दोनों ही डोरिये के बने कपड़े पहने हुए दिखलाए गए हैं। कुमार गुप्त के समय के मंदसोर-वाले लेख से यह पता चलता है कि लाट देश के बहुत से रेशमी बुनकर मंदसोर आ गए। इनमें से कुछ ने तो दूसरा कामकाज पकड़ लिया, लेकिन जो बच गए उन्होंने अपनी एक अलग श्रेणी बनाई तथा मालव संवत् ४९४ (ई० ४३७-३८) में एक सूर्य का मंदिर बनवाया जिसकी मरम्मत ई० सन् ४७३-७४ में हुई जब उपर्युक्त लेख खोदा गया (ई० ए० जि० १५, पृ० १९६)। इस लेख में पट्टवायों के अपने व्यवसाय के प्रति कुछ सुंदर हार्दिक उद्गार दिए गए हैं। रेशमी वस्त्रों की स्तुति में उनके ये शब्द चिरस्मरणीय रहेंगे—

तारुण्यकान्त्युपचितोपिसुवर्णहारताम्बूलपुष्पविधिना समलंकृतोऽपि।
नारीजनः प्रियमुपैति न तावदग्र्यं यावन्न पट्टमयवस्त्रयुगानि धत्ते॥

स्पर्शवता वर्णान्तरविभागचित्रेण नेत्रसुभगेन।
यैः सकल मिदं क्षितितल मलंकृतं पट्टवस्त्रेण। (वही, पृ० १९७)

उपर्युक्त अवतरण में रेशमी वस्त्रों (पट्टवस्त्र) के गुण, उनकी कोमलता (स्पर्शवत्ता) तथा सुंदर रँगाई (वर्णांतरविभागचित्रेण) का वर्णन है—

आज दिन की तरह गुप्तकाल में भी बंगाल रेशमी वस्त्रों के लिये प्रसिद्ध था। हर्षचरित में लेखक सुदृष्टि पौंड्र देश का बना हुआ धोती-दुपट्टा पहने हुए दिखलाया गया है। (हर्षचरित, अनु० कावेल, पृ० ७२)

आधुनिक आसाम की अंडी तथा मूँगा भारत में प्रसिद्ध हैं। गुप्तकाल में इस तरह के कपड़ों के सिवाय आसाम में कामदार वस्त्र भी बनते थे। जिन उपहारों को हंसवेग आसाम के राजा के यहाँ से हर्ष के दरबार में लाया था उनमें भूर्जपत्र की तरह चिकनी धोतियाँ (भूर्जत्वक्कोमलाः जातीपट्टिकाः) तथा कोमल कामदार रेशम के थान थे (चित्रपटानां च म्रदीयसां)। (वही, पृ० २१४)

गुजरात तथा राजपुताने की चूँदरी अब भी प्रसिद्ध है। हर्षचरित में इस तरह के कपड़े का वर्णन है। (वही, पृ० २६१) चूँदरी को यहाँ पुलकबंध नाम से पुकारा गया है। मालती की लंबी कुर्ती इसी कपड़े की बनी थी। पुष्पपट्ट शायद गुप्तकाल में किमख्वाब ऐसे वस्त्र-विशेष का नाम रहा हो (वही, पृ० ८५)।

हिंदू समाज में विवाह के अवसर पर शान-शौकत दिखलाने की प्रथा बहुत प्राचीन काल से रही है। विवाह के शुभ अवसर पर वर तथा कन्या पक्ष की ओर से कीमती वस्त्रों का प्रदर्शन रीति-रवाज का एक अंग बन गया है। इस प्रदर्शन का हाल हम हर्षचरित में भी पाते हैं। राज्यश्री के विवाह के अवसर पर हर्ष के राज्यप्रासाद में अनेक भाँति के कीमती कपड़े सजाए गए थे। इन कपड़ों में क्षौम, बादर (कपास), दुकूल, लालातंतुज तथा अंशुक और नेत्र प्रधान थे। (वही, पृ० १२५)

इस बात का ठीक ठीक पता नहीं चलता कि नेत्र किस तरह के कपड़े को कहते थे। कावेल के अनुसार यह कलाबत्तू मिश्रित रेशमी कपड़ा था। अमरकोश के टीकाकार क्षीरस्वामी के अनुसार नेत्र बनाने के लिये सूत एक

खास तरह के पेड़ की छाल तथा जड़ से बनाया जाता था (अ० को० वही, पृ० ३१३) लालातंतुज शायद बहुत महीन रेशमी या सूती कपड़े को कहते हों।

पहनने के वस्त्र

इस बात में कुछ तथ्य नहीं है कि भारतीय केवल बिना सिले वस्त्र ही पहनते थे तथा स्त्रियाँ केवल साड़ी और पुरुष धोती दुपट्टा ही पहनकर कालक्षेप करते थे। गुप्त-युग के साहित्य और कला से इस बात की पुष्टि होती है कि भारतीय वेषभूषा सजावट तथा तरह-तरह की बनावट में संसार की तत्कालीन किसी सभ्यता से कम न थी।

हुएनत्संग के अनुसार साधारण जनता सिले वस्त्र नहीं पहनती थी। सफेद कपड़े पहनने की प्रथा थी। मनुष्य धोती कमर में लपेटकर उसका एक छोर बाएँ कंधे पर डाल देते थे। स्त्रियाँ साड़ी पहनती थीं तथा उनकी चादरें दोनों कंधों को ढकती हुई नीचे लटका करतीं थीं। हुएनत्संग ने भारतीय स्त्रियों के पहनावे के बारे में इतना कम कहा है कि यह कहना कठिन मालूम पड़ता है कि जिन वस्त्रों का उसने उल्लेख किया हैं वे साड़ी हैं या चादर या कुरती। उत्तरी भारत में जाड़े में तातारों के ढंग का एक लबादा पहना जाता था (वाटर्स, वही, जि० १, पृ० १४८)। संभव है यह वस्त्र आधुनिक बगलबंदी के आकार का कोई कोट रहा हो।

एक दूसरे चीनी यात्री इत्सिंग ने (ई० ६७१—६९५) भारतीय वेषभूषा का अच्छा वर्णन किया है। इत्सिंग ने मूलसर्वास्तिवादी बौद्ध भिक्षुओं के वस्त्रों का निम्नलिखित वर्णन किया है। मूलसर्वास्तिवादी बौद्ध भिक्षुओं का दैनिक पहनावा संघाटी उत्तरासंग तथा अंतर्वास थे। इनके सिवाय निम्नलिखित ग्यारह वस्त्रों का भी वे व्यवहार कर सकते थे—(१) निषीदन या दरी, (२) निवसन, भीतर पहनने का कपड़ा, (३) प्रतिनिवसन, भीतर पहनने का एक दूसरा कपड़ा, (४) संकक्षिक बगल ढकने के लिये वस्त्र, (५) प्रति संकक्षिक, बगल ढकने के लिये एक दूसरा कपड़ा, (६) कायप्रोंछन—तौलिया या गमछा, (७) मुख-प्रोंछन—मुँह पोंछने का तौलिया, (८)

प्रतिग्रह—हजामत के वक्त बाल इकट्ठा करने का कपड़ा, (९) कंडू-प्रतिच्छादन—खुजली ढकने का कपड़ा, (१०) भेषज-परिष्कार चीवर—औषधि छानने की साफी। (इत्सिंग, वही, पृ० ५४-५५) वस्त्रों की उपर्युक्त तालिका से यह पता चलता है कि भिक्षुओं को साधारण पहनने के वस्त्रों के सिवाय सफाई के लिये भी वस्त्रों का विधान था।

मामूली और कीमती

इस काल में भिक्षुगण रेशमी कपड़े पहनते थे। इत्सिंग रेशमी वस्त्रों के पहनने के पक्ष में था (वही, पृ० ५८), शायद इसका यह कारण रहा हो कि इत्सिंग चीन का रहनेवाला था जहाँ रेशमी कपड़ों का त्याग असंभव सा था।

बौद्ध-धर्म के चारों निकायों का भेद भिक्षुओं द्वारा भिन्न भिन्न तरीकों से निवसन पहनने से प्रकट होता था। मूलसर्वास्तिवादी भिक्षु निवसन के छोर कमरपेटी में खोंसते थे। महासंघिक भिक्षु निवसन के दाहने छोर को बाईं ओर ले जाकर कमरपेटी में खोंस लेते थे। स्थविर निकाय तथा सम्मिति निकाय के भिक्षु महासंघिक भिक्षुओं की भाँति ही निवसन पहनते थे; केवल भेद इतना होता था कि स्थविर निकाय तथा सम्मिति निकायवादी निवसन के छोरों को बाहर निकला रहने देते थे तथा महासंघिक भिक्षु उन्हें पेटी में खोंस लेते थे। चारों निकायों की कमरपेटियाँ भी भिन्न तरह की होती थीं। (वही, पृ० ६६-६७)

भिक्षुणियाँ भिक्षुओं की तरह संघाटी, उत्तरासंग, अंतरवास तथा संकच्चिका पहनती थीं। लेकिन उनका विशेष पहरावा लहँगा था जिसका संस्कृत नाम कुसूलक इंत्सिग ने दिया है। कपड़े के दोनों सिरों को सिलकर लहँगा बनता था। कपड़े की लंबाई चार हाथ और चौड़ाई दो हाथ होती थी। लहँगा ढोढ़ी से चढ़ाकर पहना जाता था और यह घुटनों से चार अंगुल ऊपर तक पहुँचता था। कमर पर एक बंद से लहँगा पीछे बाँध दिया जाता था। (वही, पृ० ७८) साधारणतः भिक्षुणियाँ चोली नहीं पहनतीं थीं लेकिन युवावस्था में वे अपने स्तन ढक भी सकती थीं। (वही, पृ० ७८)

कपड़े रँगने के लिये रंग कंदों से तथा पीली बुकनी और गेरू से बनाए जाते थे। साधारण कपड़ों के लिये लाल मिट्टी तथा बैंगनी मिट्टी रंग का काम देती थी।

इत्सिंग के अनुसार उच्चपदस्थ राज्याधिकारी तथा उच्च वर्ण के लोग अक्सर धोती दुपट्टा पहनते थे। गरीब लोग प्रायः एक धोती पर ही गुजारा कर लेते थे। चौम की बनी धोती ८ फु० लंबी होती थी। (वही, पृ० ६७-६८)

कश्मीर से लेकर काशगर, तिब्बत तथा तातार देशों में चमड़ा तथा ऊन वस्त्र बनाने के काम में लाए जाते थे। सूती कपड़ों का व्यवहार तो यदा-कदा ही होता था। इन देशों में सर्दी के कारण लोग कोट, पाजामा पहनते थे। (वही, पृ० ६८)

उन मुल्कों में जहाँ सरदी अधिक पड़ती थी सर्वसाधारण जनता और भिक्षु दोनों ही लि-प नाम का एक वस्त्र-विशेष पहनते थे। लि-प की व्युत्पत्ति संस्कृत रेफ या लेप से की जा सकती है। इस कपड़े की काट इस प्रकार थी—एक बिना पीठ के टुकड़े को इस प्रकार काटा जाता था कि एक कंधा खुला रहे। इसमें बाँहें नहीं होती थीं तथा कंधे पर इसकी चौड़ाई कम होती थी। यह कपड़ा दाहिने ओर बाँधा जाता था और इसमें काफी रूई भर दी जाती थी जिससे वह शरीर को गरमी पहुँचा सके (पृ० ६९)। इत्सिंग ने इस वस्त्र का व्यवहार पश्चिमी तथा उत्तरी भारत में देखा था। गरमी के कारण मालवा प्रदेश के भिक्षु इसका व्यवहार कम करते थे (वही, पृ० ६९-७०)

कुरता भारतीय पहनावे की एक ख़ास चीज है। जिसे उत्तर भारत में गरीब अमीर सब पहनते हैं। लगता है, गुप्त-काल में इसका व्यवहार होने लगा था। लि-पेन नाम के एक चीनी कोषकार ने आठवीं शताब्दी में चीनी शान् अर्थात् कमीज के लिये संस्कृत कुरतु शब्द दिया है। भारतीय संस्कृत कोषों में इस शब्द का पता नहीं चलता। अब तक यह भी पता नहीं चला है कि कुरतु किस भाषा का शब्द है। (बागची, दी लेक्सिक संस्कृत शिनोआ, भा, २, पृ० ३५७)

कुछ भारतीय जिनमें साधारण जनता और भिक्षु दोनों शामिल थे आधे बाँह की कमीज पहनते थे। (वही, पृ० ७०) अमरकोश में सिले हुए वस्त्रों का विशेष वर्णन नहीं आया है। धोती के लिये अंतरीय, उपसंव्यान,

परिधान ,अधोंशुक ये चार शब्द आए हैं। (२।६।११७) दुपट्टे तथा चादर के लिये पाँच शब्द आए हैं—प्रावार, उत्तरासंग, बृहतिका, संव्यान तथा उत्तरीय (२।६।११७-१८)। यह कहना कठिन है कि ये पर्यायवाची शब्द किसी एक ही प्रकार के धोती दुपट्टों के नाम हैं या इनमें कोई भेद था। स्त्रियों की चोली के लिये दो शब्द आए हैं चोल और कूर्पासक (२।६।११८)। इन दो तरह की चोलियों की बनावट में क्या फर्क था यह भी ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता। शीत से बचने के लिये जो लबादा पहना जाता था उसे नीशार कहते थे (२।६।११८)। स्त्रियों के आधी जाँघ तक पहुँचनेवाले झबले को चण्डातक कहते थे (२।६। ११९)। आगे चलकर हमें मालूम होगा कि इस शब्द का व्यवहार बाण भट्ट ने स्त्री तथा पुरुष दोनों ही के एक वस्त्र-विशेष के लिये किया है। पैर तक लटकते हुए एक वस्त्र विशेष के लिये प्रपदीन शब्द व्यवहार में लाया गया है (२।६।१२९)। अजंताकी कला में बहुत से पुरुष पैर तक लटकता हुआ कुरता पहने हुए व्यक्त किए गए हैं। शायद प्रपदीन लंबे कुरतों का ही संस्कृत नाम हो।

गुप्तकालीन संस्कृत साहित्य में विशेषकर बाण भट्ट तथा कालिदास के ग्रन्थों में बहुत से ऐसे स्थल आए हैं जिनमें तत्कालीन पहरावे पर काफी प्रकाश पड़ता है। स्त्रियाँ साड़ी के सिवाय चादर तथा वैकक्ष्य का भी व्यवहार करती थीं। सावित्री का वर्णन करते हुए बाण भट्ट ने लिखा है कि उसने शाल ओढ़कर दोनों छोरों की एक गाँठ स्तनों के बीच में लगा दी थी। (स्तनमध्यगात्रिकाग्रंथिः, हर्षचरित, कावेल का अनुवाद, पृ० ६), इसके सिवाय उसके यज्ञोपवीत के ढंग से योगपट्ट का वैकक्षक बनाकर पहन रखा था (योगपट्टेन विरचित वैकक्षका)। मालती का वर्णन करते हुए बाणभट्ट लिखते हैं कि वह पैर तक लटकती हुई रेशम की धुली हुई कुर्ती पहने थी (धौतधवल नेत्रनिर्मितेन···कञ्चुकेन तिरोहिततनुलता, वही, पृ० २६१), उस कुर्ती के नीचे उसने आधे जाँघ तक लटकती एक केसरिया रंगवाली चूँदरी की कुर्ती पहन रखी थी (कृत कुसुंभराग पाटलं पुलकबंधचित्रं चंडातकमन्तःस्फुटः, वही, पृ० २६१) स्थानेश्वर की स्त्रियाँ चोली पहनती थीं (वही पृ० ८३)। स्त्रियाँ कभी कभी ऐसी मलमली साड़ियाँ पहनती थीं जिन पर नाना प्रकार के फूल

और चिड़ियों के नकशे बने होते थे (बहुविध कुसुमशकुनिशतशोभितात्पवन-चलिततनुतरङ्गादतिस्वच्छादंशुकात्, वही, पृ० ६६)। आजकल की तरह ही मौसिम के अनुसार वस्त्र बदलने की इच्छा पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक होती थी। गर्मी में एक हलकी दुकूल की साड़ी उनके पृष्ठभाग को ढके रहती थी (ऋतुसंहार, १।४)। वसंत में वे कुसुंभी रंग की साड़ी तथा लाल रंग का स्तन पट्ट काम में लाती थीं (कुसुंभरागारुणितैर्दुकूलैर्नितम्बबिम्बानि विलासिनीनां, रक्तांशुकैः कुङ्कुमरागगौरैरलंक्रियन्ते स्तनमंडलानि, वही, ६।४)।

यह जानने योग्य है कि राजाओं का पहिरावा विशेष चटक-मटकवाला नहीं होता था। हर्षचरित में हर्ष को धुली हुई रेशमी धोती (विमलपयोधौतेन नेत्रसूत्रनिवेशशोभिनाधरवाससा वही, पृ० ५९) तथा काम का बुंदकीदार दुपट्टा (सतारागणेनोपरिकृतेन द्वितीयाम्बरेण) पहने हुए बतलाया गया है। सफेद धोती पर बहुधा हंस का चित्र बना रहता था (कादंबरी, पू० सं० काले पृ० १९, अमृतफेनधवले गोरोचनालिखितहंसमिथुनसनाथपर्यन्ते चारुचामर-प्रनर्तितदशे)। लड़ाई में जाने के समय हर्ष के दूकूल का धोती दुपट्टा जिस पर हंस-मिथुन के चित्र बने थे पहनने का उल्लेख है (हर्षचरित्र, पृ० १९८, परिधाय राजहंसमिथुनलक्ष्मणी सदृशेदुकूले)। अच्छी श्रेणी के मनुष्यों को सुगंधित द्रव्यों तथा फूलों का शौक था। इनके धोती पहनने के ढंग का बाण ने अच्छा वर्णन किया है। एक युवक का वर्णन करते हुए बाण ने कहा है वह एक हरे रंग की कमर से चपकी धोती पहने था जिसका एक छोर ढोढ़ी के नीचे खुँसा हुआ था, चूँदन कमरबंद के पीछे थी। धोती इतनी ऊँची थी कि जंघों का तिहाई भाग खुला था (पुरस्तादीषदधोनाभिनिहितैककोणकमनीयेन पृष्ठतः कक्ष्याधिकक्षिप्तपल्लवेनोभयतः संवलनप्रकटितोरुत्रिभागेन हारीतहरिता निबिडनिपीडितेनाधरवाससा विभज्यमानतनुतरमध्यभागम्, वही, पृ० १७-१८)।

बाणभट्ट ने समकालीन अश्वारोहियों तथा पदातियों का भी अच्छा वर्णन किया है। पदाति कुर्ते पहनते थे, और सिर पर दुपट्टे की पगड़ी बाँधते थे। (पिनद्धकृष्णागुरुपङ्कवल्कच्छुरणकृष्णशबलकशायकञ्चुकेन, उत्तरीयकृत-

शिरोवेष्टनेन) तथा उनके कमरबंद दोहरे कपड़े के होते थे जिनमें कटार खुँसे हुए रहते थे (द्विगुणपट्टपट्टिकागाढग्रन्थिग्रथितासिधेनुना, वही, पृ० १६)। अश्वारोही सफेद पगड़ी तथा वारबाण धारण करते थे (धवलवारबाणधारिणम्, धौतदुकूलपट्टिकापरिवेष्टितमौलिम् पृ० १९)। कभी कभी सिपाही व्याघ्रचर्म के समान चितकबरे कंचुक तथा अनेक रंग-बिरंगी पट्टियों से बनी पगड़ियाँ पहनते थे (जरद्व्याघ्रचर्मशबलवसनकञ्चुकधारिभिरनेकपट्टचीरकोद्बद्धमौलिभिः, कादंबरी, पृ० १६१)। हर्ष के साथी जागीरदार जो उसके साथ युद्ध में जाने को प्रस्तुत थे वे पाजामा पहने थे। उनके कंचुक लाजवर्दी रंग के थे (अवदातदेहविराजमानराजावर्तकमेचकैः कञ्चुकैः)। कुरते के ऊपर उन्होंने चीन चोलक—जो शायद मुगलकालीन पेशवाज या अबा के ढंग का कोई वस्त्र रहा हो—पहन रखा था (उपचितचीनचोलकैश्च)। उनमें से कुछ लंबे चुगे तथा वारबाण पहने हुए थे (तारमुक्तास्तवकितस्तवरकवारबाणैश्च)। कोई कोई कूर्पासक नाम का वस्त्र पहने था तथा उसके ऊपर सुग्गे के रंग का शाल ओढ़े था (नानाकषायकर्बुरकूर्पासकैः शुकपिच्छच्छायाच्छादनकैश्च, वही, पृ० २०२)। उन्होंने साफे भी बाँध रखे थे जिनमें कान पर लटकते हुए कमलों की नालें खुँसी हुई थीं (उष्णीषपट्टावष्टब्धकर्णोत्पलनालैश्च)। उनके शिर केसरिया दुपट्टों से ढके हुए थे (कुंकुमरागकोमलोत्तरीयान्तरितोत्तमाङ्गैश्च, वही पृ० २०२)

ऊपर जिन वस्त्रों के वर्णन आए हैं उनमें से कुछ तो पहचान में आते हैं और कुछ नहीं। कंचुक और वारबाण अमरकोश के अनुसार जिरह बख्तर के नाम हैं (२।८।६४), लेकिन ऊपर के विवरण से यह पता चलता है कि कंचुक कपड़े का बना एक वस्त्र विशेष था क्योंकि एक जगह इसे चितकबरे कपड़े या बाघंबर का तथा दूसरी जगह इसे लाजवर्दी रंग के कपड़े का बना बतलाया गया है। वारबाण लोहे का बनता था या कपड़े का, इसका कोई उल्लेख नहीं हैं। सम्भवतः वह रूई भरा हुआ मध्यकालीन चिल्हे की तरह का कोई वस्त्र रहा होगा जिसका व्यवहार पैने शस्त्रों से शरीर की रक्षा के लिये होता था। चीन चोलक के बारे में भी कुछ विशेष पता नहीं चलता। संभवतः वह आगे से खुला हुआ पूरी बाँहोंवाला लंबा कोट है जो मध्य एशियावालों का खास

पहरावा है। स्तवरक किस तरह का वस्त्र था इसका पता नहीं चलता। कूर्पासक अमरकोष में (२।६।११८) चोली का द्योतक है। शायद आधुनिक मिर्जई के आकार का यह वस्त्र रहा हो।

बाण के ग्रंथों में बहुत से ऐसे स्थल आए हैं जिनमें राजकर्मचारियों तथा साधुओं इत्यादि की वेषभूषा का वर्णन है। बाण के वर्णन में कुछ ऐसी विशेषता है कि हमारे सामने साधारण पुरुषों की वेषभूषा भी जीती जागती सी खड़ी हो जाती है। उदाहरणार्थ हर्ष के भ्राता कृष्ण ने जिस दूत को बाण के पास भेजा था उसी की वेषभूषा लीजिए—उसका कुरता कमरबंद से बँधा था तथा पीछे लटकते हुए बाल एक धूल से सने हुए कपड़े से बँधे थे (कार्दमिकचेलचीरिकानियमितोच्चण्डचण्डातकं, पृष्ठप्रेङ्खत्पटच्चरकर्पटघटितगलितग्रंथिं, वही, पृ० ४१)। ऐसा पता लगता है कि महाप्रतिहारी तथा प्रतिहारी सफेद कुर्ते पहनते थे (धौतकञ्चुकच्छन्नवपुषा, वही, पृ० ४९, सितकञ्चुकावच्छन्नवपुषा, कादंबरी, पृ० ३५) तथा कमरबंद बाँधते थे (हर्षचरित, पृ० ४९,।) अब भैरवाचार्य की वेषभूषा को लीजिए। उस वेष-भूषा की आधुनिक संन्यासियों की वेष-भूषा से तुलना की जावे तो पता लगता है कि बाणभट्ट की दृष्टि थोड़ी थोड़ी सी बातों का अन्वीक्षण कितनी सचाई से करती थी। भैरवाचार्य का एक गेरुए रंग का दुपट्टा तिरछे ढंग से छाती पर होता हुआ एक कंधे से लटक रहा था (धातुरसारुणेन कर्पटेन कृतोत्तराङ्ग)। उनकी फटी गेरुआ चादर की दोनों छोरों की गाँठ छाती पर बँधी थीं (वही, पृ० ८६)। इन्हीं भैरवाचार्य की वेषभूषा का वर्णन एक दूसरी जगह ऐसा दिया है। वे एक कंबले ओढ़े हुए थे (कृष्णकंबलप्रावरण), उनका कौपीन क्षौम से बना था (पाण्डरपवित्रक्षौमावृतकौपीनम्, वही, पृ० २६४) तथा पर्यङ्क मुद्रा में स्थित उनके शरीर के चारों ओर एक अत्यंत शुभ्र योग पट्ट बँधा हुआ था (सावष्टम्भपर्यङ्कबंधमण्डलितेनामृतफेनश्वेतरुचा योगपट्टकेन, वही, पृ० २६५)। उनके पैरों में पादुकाएँ थीं (वही, पृ० २६५)।

एक आश्चर्य की बात है कि अजंता के चित्रों में पगड़ी या साफा ऐसा कोई वस्त्र नहीं देख पड़ता। इसके विपरीत इस काल के साहित्य में साफे का काफी वर्णन आता है। मलमली साफे की तहों का एक जगह उल्लेख है

(अंशुकोष्णीषपट्टिकानिव, वही, पृ० १४)। एक जगह बड़े साफों का वर्णन है जिससे पता चलता है कि साफे के दोनों छोर आगे लाकर उनमें गाँठ लगा दी जाती थी (उष्णीषपट्टकांल्ललाटमध्यघटितविकटस्वस्तिकाग्रंथीन्, वही, पृ० ९१-९२)। गुप्तकालीन सिक्कों पर भी राजा लोग पगड़ी पहने हुए अंकित किए गए हैं। हो सकता है अजंता के आस पास दक्षिण में साफा पहनने की गुप्त कालमें प्रथा न रही हो।

सभा और हिंदी भाषा

(अर्ध-शताब्दी के उपलक्ष्य में)

काशी नागरीप्रचारिणी सभा सारे हिंदी-जगत् की चिंतामणि है। सभा के द्वारा हिंदी संसार का सहस्रमुखी चिंतन भासित होता है। सभा की स्थापना किन्हीं पुण्यात्माओं ने बड़ शुभ मुहूर्त में की थी। आज अर्धशताब्दी व्यतीत होने पर सभा-रूपी महान् वटवृक्ष का जो रूप विकसित हुआ है उसे देखकर आशा होती है कि भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान का कल्याणमय कार्य सभा के द्वारा संपन्न हो सकता है। सभा उत्तरापथ के ज्ञान की प्रतिनिधि संस्था बन सकती है क्योंकि सभा के कार्य का माध्यम एक नई विलक्षणशक्ति है। समस्त भारतीय जनता को आंदोलित करनेवाली इस विराट्शक्ति का नाम हिंदी भाषा है।

इस युग में भारतवासी होकर जो हिंदी नहीं जानता वह अर्ध शिक्षित है। वह जनता के हृदय के साथ कभी संपर्क में आ सकेगा, इसमें संदेह है। हिंदी की यह वर्धमान शक्ति, उसके साहित्य का लोक में ओजायमान प्रवाह किसी व्यक्ति-विशेष की कृपा या शुभ संकल्पों पर निर्भर नहीं है। यह लोक की अपनी आवश्यकता है। लोक इस समय जागरण की खोज में है, इसलिये हिंदी भाषा भी जाग उठी है। हिंदी जगत् की जाग भारतीय जनता की सबसे बड़ी आशा कही जा सकती है। जाग्रत् साहित्य ही उठते हुए लोक का सच्चा चक्षु होता है। वही उसका सखा और उपदेष्टा है। अनुरूप साहित्य को पाकर जनता धन्य होती है। साहित्य की समृद्धि समस्त जन का आनंदोत्सव है। जनता में जब नवीन किलकारी की वाणी उठती है, उसकी ध्वनि साहित्य में सुनाई पड़ती है। साहित्य और जनता, दोनों का मंगल संबंध एक साथ है। जो साहित्य लोक के लिये नहीं वह निरर्थक है। जब साहित्य का लोक से संबंध टूट जाता है, वह जीवन-रस के छीजने पर सूखे हुए पत्ते की तरह मुरझाकर गिर जाता है। जब लोक नई चेतना से

प्रबुद्ध होता है, तब उसकी भाषा साहित्य के रूप में नया शरीर धारण करती है। लोक सहस्र नेत्रों से अपने चारों ओर के जीवन को देखना और जानना चाहता है, इसलिये साहित्य की पैनी आँख में देखने की नई-नई किरणें उत्पन्न होती हैं। जनता के उद्‌बोधन का जब वसंतकाल आता है तब साहित्य का महान् वटवृत्त अपनी शाखा-प्रशाखाओं के विस्तृत वितान से भुवन को घेर लेता है। जनता के ज्ञान का एक-एक छंद साहित्यरूपी वृक्ष का एक-एक पत्ता है। जनता का मानस हरा है तो साहित्य में भी हरियाली देखने को मिलती है। लोक के मानस तक पहुँचने का साधन साहित्य है। साहित्य की गंगा में स्नान करके लोक का मानस पुण्यवान् और संकल्पवान् बनता है। उस साहित्य-सेवी का जीवन धन्य है जो लोक को वाणी प्रदान करता है, जो जनता के मानस में आलोक का कोई नया दीपक जलाता है, जो ज्ञान के अप्रकाशित क्षेत्र में नई किरणों का प्रवेश कराता है। लोक का मन हजार तरह से संस्कार चाहता है। उसे प्रदान करने की शक्ति साहित्य में है।

साहित्य की इस दुर्धर्ष शक्तिमत्ता को हिंदी जनता आज सिर माथे पर रखती है। सारा हिंदी-भाषी जगत् एकटक लौ लगाए है कि हिंदी साहित्य उसका मार्गदर्शक बने। जीवन में जहाँ-जहाँ सुंदरता, प्राण और चैतन्य है उसका परिचय साहित्य के द्वारा मिलना चाहिए। तभी नवीन प्राण, सुंदरता और चैतन्य का जन्म हो सकता है। भारतीय जीवन में, भारतीय चरित्र और संस्कृति में क्या मूल्यवान् है, क्या श्रीसंपन्न है, क्या दैवी गुणों से युक्त है, किसमें निर्माण की शक्ति छिपी है, इसको प्रकाशित करना साहित्य-सेवी का कर्तव्य है। भारतीय साहित्य, शब्दशास्त्र, नाट्य, कला, राजशास्त्र, नीतिशास्त्र, समाज, संस्थाएँ, धर्म, दर्शन, अध्यात्म इनमें कितना सुंदर और लोकोपयोगी तत्त्व है—इसका उद्घाटन हिंदी साहित्य की सबसे बड़ी आवश्यकता है। सौंदर्य और प्राण के सम्मिलन से जीवन का निर्माण होता है। अतएव संसार में जहाँ भी ये दो तत्त्व उपलब्ध हों, उनका हिंदी में आवाहन हिंदी-साहित्य का आवश्यक कार्य है। हिंदी जनता के लिये हिंदी का साहित्य विश्व का साहित्य है। विश्व से अपनी बात कहने के

लिये और विश्व की बात सुनने के लिये हिंदी-भाषी जनता का माध्यम हिंदी के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता।

इस दृष्टिकोण से जब हम हिंदी साहित्य के विशाल क्षेत्र का ध्यान करते हैं, तब ऐसा ज्ञात होने लगता है कि नागरीप्रचारिणी सभा के उदार भवन में हिंदी-जगत् ने अपने ज्ञान की चिंतामणि कहीं प्रतिष्ठित कर दी है। सुनते हैं विष्णु के मुकुट में एक भास्वर मणि है जिसमें विश्व के चिंतन का प्रतिबिंब पड़ता है। इसी प्रकार सभा-भवन में प्रतिष्ठापित ज्ञान की सहस्रांशु चिंतामणि में आज हिंदी जनता का मानस प्रतिबिंबित है। सभा का उत्तरदायित्व महान् है। जिस प्रकार विष्णु की दैवी चिंतामणि क्षुद्र संकल्पों से कभी कलुषित नहीं होती उसी प्रकार सभा की मानसमणि भी शिव संकल्पों से और विजयी विचारों से सदा प्रतिफलित होती रहनी चाहिए। कभी-कभी प्रतीत होता है कि हिंदी जगत् के प्रतिनिधि गोस्वामी तुलसीदासजी स्वयं अपने शुभ्र शरीर और समस्त भाव-संशुद्धि से हिंदी साहित्य की इस मानसमणि को लिए हुए सभाभवन में प्रतिष्ठित हैं। वस्तुतः गोसाईंजी की एक शुभ्र कायपरिमाण मर्मर-प्रतिमा से सभा का द्वारालिंद अलंकृत होना चाहिए।

सभा की शक्ति का संवर्धन हिंदी [illegible] का उतना ही आवश्यक कार्य है जितना आत्मसंरक्षण के लिये दुर्ग निर[illegible] अतएव सभा की कार्य-शक्ति का अपरिमित विकास होना चाहिए। स[illegible]त्य-निर्माण और ग्रंथ-प्रकाशन— ये ही सभा के हाथ-पैर हैं। इनकी दृढ़[illegible] का संपादन सब उपायों से होना उचित है। इन दोनों कार्यों को एक नि[illegible]्रित विधि से पूरा करना आवश्यक है। उसके लिये आगामी बीस वर्षों की कार्य-परंपरा पर विचार करके कार्य में प्रवृत्त होना सभा और हिंदी जगत् दोनों के लिये हितावह होगा।

(संपादकीय)

विषय-सूची

...ाहित्य के
जन्म—
...क्य

मुद्रक—श्री अपूर्वकृष्ण बसु, इंडियन प्रेस, लिमिटेड, बनारस-ब्रांच।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ६३
संवत् २०१५
अंक २

संपादकमंडल

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
श्री करुणापति त्रिपाठी
डा० बच्चनसिंह (संयोजक)

सहायक संपादक

श्री राधाविनोद गोस्वामी

काशी नागरी प्रचारिणी सभा

विषयसूची

आवश्यक सूचना

वर्तमान वर्ष के अंक ३ – ४ का संयुक्तांक 'स्व० चंद्रबली पांडेय स्मृति अंक' के रूप में मुद्रित हो रहा है और अतिशीघ्र प्रकाशित होगा ।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ६३] संवत् २०१५ [अंक २

संदेशरासक के विचारणीय पाठ और अर्थ[1]

(परिशिष्ट)

हजारी प्रसाद द्विवेदी

१-१ जेणऽज्ज

दोनों ही टीकाकारों ने 'जेणऽज्ज' में 'अज्ज' का अर्थ शायद 'इत्यादि' समझा है, जो बहुत उपयुक्त नहीं जान पड़ता। इसको यदि 'आर्याः' (श्रेष्ठजनो) संबोधन मानकर अर्थ किया जाए तो अधिक उपयुक्त होगा। इसे बुधजन ('बुहयण') का विशेषण माना जा सकता है।

१-१९ मणुजणंमि

टिप्पणककार ने 'मणुजणंमि' का अर्थ किया है 'मनसि किमपि ज्ञात्वा' अर्थात् मन में कुछ जानकर। अवचूरिका में इसका अर्थ है : 'मनुष्यलोके'। ज्ञात होता है कि अवचूरिकाकार के संमुख 'मणुयजम्मि' पाठ रहा होगा। 'जम्म' या जन्म शब्द का अर्थ उन्होंने 'लोक' कर लिया है। हमने 'मणुयजम्मि' पाठ स्वीकार करना ज्यादा उचित समझा है। टिप्पणकार के संमुख शायद बी प्रति का 'मणु मुणेवि किंचिय पयासियउ' पाठ ही था। ज्ञात होता है दोनों टीकाकारों में से किसी ने 'मणुअजम्मि' पाठ नहीं देखा था।

१-२२ मयणमणह

दोनों टीकाकारों ने इसका अर्थ किया है 'मदनमनस्कानां' किंतु 'सी' प्रति में पाठ मिलता है 'मयणमहप्पहदीवयरो' इसका अर्थ होगा 'मदन के माहात्म्य को प्रकाशित करने

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ६२, अंक ४ (संवत् २०१४) के आगे।

वाला। ध्यान देने की बात है कि 'कामिय मण हरु' अर्थात् 'कामियों के लिये मनोहर' पहले ही कह दिया गया है, अतएव फिर से 'मदनमनस्कानां' एक प्रकार से पुनरावृत्ति होगी। इस दृष्टि से 'मयणमहप्पहदीवयरो' अधिक उचित होगा।

२-४४ कयवरहिँ, अहिणवियअइ,

इसका अर्थ दोनों टीकाकारों में से किसी ने नहीं किया है। जान पड़ता है कि यह शब्द 'कृतिकर' या 'कृतकर' से बना है जिसका अर्थ 'मायावी जादूगर' और खेल तमाशा दिखानेवाला होता है।

'अहिणवियअइ' स्वीकार करने से एक मात्रा अधिक हो जाती है। 'ज' प्रति का 'अहिणवियइ' पाठ छंद और मात्रा दोनों दृष्टियों से उचित है। इसका अर्थ 'अभिनीत किया जा रहा है' होना चाहिए। टीकाकारों ने इसका अर्थ 'अभिनीयते' किया है। टिप्पणकार ने इसका अर्थ 'अभिनूयते' किया है जो कदाचित् स्तुत्यर्थक 'अभि' पूर्वक 'नू' धातु से बना है। 'प्राकृत शब्द महार्णव' में 'अहिनु' का अर्थ स्तुति करना या 'प्रशंसना' दिया हुआ है। संभवतः यही अर्थ ध्यान में रखकर अवचूरिका के लेखक ने 'उच्चार्यते' अर्थ किया है। लेकिन 'ज' प्रति का 'अहिणवियइ' पाठ स्वीकार कर लिया जाए तो इसका अर्थ बहुत स्पष्ट हो जाएगा। 'रामायणमभिनीयते' अर्थात् रामायण का अभिनय किया जा रहा है।

२-४८ णं ससिसूर णिवेसिय

इसका अर्थ टीकाकारों ने 'मन्ये शशि सूर्यौं गंडयोर्निविष्टौ' किया है। 'रेहइ' को छोड़ ही दिया है। 'रेहइ' का अर्थ है राजते अर्थात् 'शोभित होता है'। यह एक वचन की क्रिया है, इसलिये इसका कर्ता भी एकवचन का होना चाहिए। वस्तुतः 'ससि' अलग है और प्रथमांत है। 'सूर' अलग है और द्वितीयांत है। अर्थ हुआ, मानों चंद्रमा स्वयं सूर्य को गंडतल में निवेशित करके शोभित है। यहाँ चंद्रमा मुख का उपमान है और सूर्य विमल हँसी से उद्भासित आभा का।

२-६५ इक्कणि

मुद्रित प्रति में जो पाठ स्वीकार किया गया है उसकी प्रथम दो पंक्तियों में छंदोभंग है। किंतु 'ज' प्रति का पाठ इस दोष से रहित है। अंतिम दो पंक्तियाँ मुद्रित प्रति में इस प्रकार है—

तिह हुंतउ हउं इक्कण लेहउ पेसियउ.
खंभाइत्तइं वच्चउं पहुआएसियउ॥

दोनों टीकाएँ इसका अर्थ इस प्रकार देती हैं—

"ततोऽहं लेखवाहक एकेन प्रेषितः स्तंभतीर्थे प्रभा (भ्वा) दिष्टो व्रजामि" अर्थात् वहां मैं किसी एक व्यक्ति के द्वारा प्रेषित हुआ हूँ और स्वामी का आदेश पाकर स्तंभतीर्थ को जा रहा हूँ। इसमें कई शब्द विचारणीय हैं। 'लेहउ' का अर्थ लेख या लेखक हो सकता है 'लेखवाहक' नहीं। फिर 'इक्कण' का अर्थ किया गया है किसी एक के द्वारा और 'पेसियउ' का अर्थ किया गया है 'प्रेषित'। "किसी एक के द्वारा भेजा गया हूँ" और 'प्रभु से आदिष्ट हूँ' ये दोनों बातें संगत नहीं हैं। प्रभु का जब आदेश है तब यही कहना चाहिए था कि प्रभु से भेजा गया हूँ।

फिर 'इक्खिण' शब्द अनावश्यक हो जाता है। 'इक्खिण' का कुछ और अर्थ होना चाहिए। आगे काव्य में पथिक बार बार कहता है 'मुझे जल्दी है'। इसलिये वह जिस काम से भेजा गया है वह ऐसा होना चाहिए कि उसके सिवा कोई दूसरा उसे न कर सके और जिसका किया जाना अत्यंत आवश्यक हो। टीकाओं से ऐसा कोई अर्थ प्रकट नहीं होता। 'बी' और 'ज' प्रति में 'इक्खि' पाठ है जो ठीक जान पड़ता है। 'देशी नाममाला' में 'इक्कण' शब्द का अर्थ किया गया है 'चोर' (दे० ना० मा० १।१८०)। इस प्रकार 'इक्खि' शब्द का अर्थ हुआ 'चोरी वाला' जो लेख का विशेषण हो सकता है। 'चौर्य' शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के सीक्रेट के अर्थ में संस्कृत साहित्य में प्रयुक्त हुआ है। (तु० चौर्य-रत, चौर्य-प्रेम) इसलिये 'इक्खि लेह' का अर्थ हुआ गोपनीय लेख (सीक्रेट डाक्यूमेंट)। ऐसे गोपनीय लेख सांकेतिक भाषा में लिखे जाते थे। ऊपर से उनका अर्थ और होता था लेकिन जानकार व्यक्ति उनका ठीक अर्थ समझता था 'प्राकृत' में 'उवेस' या 'उएस' शब्द 'उपदेश' के अर्थ में आता है—सरहे कियउ उवेस (सरहपा)। 'बी' प्रति और 'ज' प्रति के पाठ से अर्थ खुल जाता है 'इक्खि लेह उवेसियउ' का अर्थ हुआ 'गोपनीय लेख में उपदेशित होकर'। भाव यह हुआ कि पथिक को कोई ऐसा लेख दिया गया है जो सांकेतिक भाषा में लिखा गया है। किसी दूसरे के हाथ में अगर वह लेख पड़ भी जाए तो वह उसका अर्थ नहीं समझ सकता।

यहाँ विशेष द्रष्टव्य यह है कि यद्यपि 'इक्कण' शब्द देशी ना० मा० में देशी शब्द के रूप में आता है, किंतु वह संस्कृत के 'एकायन' शब्द से बन सकता है। एकायन ऐसे मार्ग को कहते हैं जिसमें से एक ही आदमी निकल सके। कदाचित इसी शब्द से 'एकायन लेख' का संबंध हो जिसका मतलब होगा ऐसा लेख जिसे कोई दूसरा न समझ सके बल्कि एक ही आदमी समझ सके।

२-७७ गरुअउ परिहवु किन सहउ पइ पोरिस निलएण

दोनों टीकाकारों ने 'पइ' का अर्थ 'त्वया' किया है और 'पोरिस निलयेण' का अर्थ किया है 'पौरुष निलयेऽपि सति'। 'पौरुषनिलएण' तृतीयांत पद होगा और उसे सप्तम्यंत नहीं किया जा सकता। यदि 'पोरिस निलए' से 'ण' अलग कर दिया जाए और 'पोरिस - निलए' इतने का ही अर्थ किया जाए तो ण का अर्थ अलग करना पड़ेगा 'ज' प्रति में 'किन सहउ' के स्थान पर 'किन सहउं; और बी प्रति में 'किम सहउ' पाठ है। 'परिहउ' के स्थान पर ए०, बी०, ज प्रतियों में 'परिहसु' पाठ है। इस दोहे का उचित पाठ इन प्रतियों के पाठों के अनुसार इस प्रकार होगा —

> गरुअउ परिहसु किन (किम) सहउ पइ पोरिस निलए ण
> जिहि अंगिहिं तू विलसियउ ते दद्धा विरहेण।

अर्थ होगा तुम्हारे जैसे पौरुष निलय के रहते हुए भी क्या मैं गुरुतर परिहास नहीं सह रही हूँ, कि जिन अंगों के साथ तुमने विलास किया वे विरह के द्वारा दग्ध किए जा रहे हैं।

ऐसा अर्थ करने में 'कित' या 'किम' को एक शब्द माना गया है जिसका अर्थ होता है, क्या। प्रथम पंक्ति के अंत का 'न' निषेधार्थक है। इस प्रकार के प्रयोगों की परंपरा अपभ्रंश और विहारी आदि के दोहों में मिलती है —

> गड़े बड़े छवि छाक छकि छिगुनी छोर छुटै न।
> रहे सुरँग रँग रँग उहीं नहन्दी महदी नैन॥

२-८४ **अणियत्तखणं**

दोनों टीकाकारों ने 'अणियत्तखणं' का अर्थ 'अनिवृत्तलक्षणं' किया है जो मुद्रित प्रति में स्वीकृत पाठ के अनुसार ठीक नहीं लगता। 'ल' का लोप संभव नहीं है। जब दोनों टीकाकारों ने 'लक्षणं' अर्थ दिया है तो पाठ में कहीं न कहीं 'ल' अवश्य रहा होगा। 'ज' प्रति में 'अणियत्तखलं' पाठ है जिसका संस्कृत रूपांतर होगा 'अनिवृतस्खलनं' अर्थात् जिस जलवर्षण का स्खलन कभी निवृत्त नहीं होता। ऐसा ज्ञात होता है कि टीकाकारों के सामने 'अणियत्तखलं' न होकर 'अणियतलखं' पाठ था। उन्होंने 'लखं' का 'लक्षणं' कर लिया। परंतु अर्थ की दृष्टि से 'अणियत्तखलं' पाठ ही अच्छा है।

२-९९ **इक्कइ**

'इक्कइ' का अर्थ टीकाकारों ने 'एकं' किया है। किंतु इसे या तो तृतीयांत होना चाहिए या सप्तम्यंत और इसका अर्थ भी इसी प्रकार करना चाहिए। इसलिये इसका अर्थ होना चाहिए 'अकेले में' या 'अकेले से'; क्योंकि प्राकृत में 'इक्कु' या 'एक्क' शब्द 'अकेला' के अर्थ में प्रयुक्त होता है (पा० स० म० पृ० २३८)।

*

तुलसीदासकृत रामचरितमानस के स्रोत और उनकी रचना[1]

सी० बांदवील

तुलसीदास की महत्ता और उनके काव्यों की विशेषतया रामचरितमानस की अतिशय लोकप्रियता के संबंध में जो आज तक भारत में उन्हें प्राप्त है, बहुत कुछ कहा जा चुका है। पश्चिम में महान भाषाशास्त्री और भारतीय विद्या के पंडित जार्ज ग्रियर्सन के शब्दों में वे 'भारत में उत्पन्न संभवतः सबसे महान कवि थे' (माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ हिंदुस्तान, प्रस्तावना पृष्ठ २०)। भारतीय आलोचक मिश्र बंधुओं ने अपने 'मिश्रबंधु विनोद' में तुलसीदास को पहला स्थान दिया है और वह उचित ही है। यह श्लाघा का भाव उत्तरोत्तर बढ़ा है और गत बीस वर्षों में अनेक ग्रंथ और लेख ऐसे प्रकाशित हुए हैं, जिनमें तुलसीदास की प्रतिभा और 'रामचरितमानस' के सौंदर्य की प्रशस्ति हुई है, कभी कभी अतिशयोक्ति पूर्ण शब्दों में भी।

इस विषय में अर्वाचीन साहित्य की राशि पर ध्यान रखते हुए भी यह अचरज की बात है कि वास्तविक आलोचनात्मक कार्य जो अबतक हुआ है, बहुत ही कम है। आज भी कवि के व्यक्तित्व और उनके जीवन की घटनाओं के विषय में निश्चितरूप से शायद ही हमें कुछ ज्ञात है। उनके समकालीन प्रमाण और ऐतिहासिक सामग्री के अभाव के कारण ही प्रायः यह स्थिति है। उनका जन्म संवत् भी अनिश्चित है। डा० माता प्रसाद गुप्त ग्रियर्सन से सहमत हैं कि वह सं० १५८९ या १५३२ ई० था (गोस्वामी तुलसीदास, प्रयाग १९४९)। उनकी मृत्यु की तिथि भी अविदित है। पर अनुश्रुति के अनुसार १६२३ ई० मानी जाती है। उनके जीवन के विषय में प्रचलित अधिकांश वर्णन कथानक मात्र हैं। इसी प्रकार बहुत से ग्रंथ भी जो उनके लिखे कहे जाते हैं संदिग्ध हैं तथापि ग्रियर्सन द्वारा स्थापित सूची सभी आधुनिक आलोचकों द्वारा स्वीकार कर ली गई है। इस सूची में छह छोटे और छह बड़े ग्रंथ हैं, जिनमें रामचरितमानस, जिसे हिंदी रामायण भी कहते हैं, उनका सबसे विशिष्ट ग्रंथ है। इसके चौपाई छंद में रचे जाने के कारण कभी कभी 'चौपाई रामायण' भी कहा जाता है।

तुलसीदास के ग्रंथों में केवल चार में तिथि दी हुई है। सौभाग्य से रामचरितमानस इन चारों में से एक है। उसके कथारंभ में कहा है कि यह कल संवत् १६३१ (१५७४ ई०) में अयोध्या में शुरू हुआ। उसके समाप्त होने की तिथि ज्ञात नहीं। अयोध्या की एक अनुश्रुति के अनुसार यह सं० १६३३ अर्थात् दो वर्ष बाद समाप्त हुआ। पर ग्रंथ के कलेवर को देखते हुए यह बहुत संभव नहीं जान पड़ता।

'वाल्मीकि रामायण' की भांति 'रामचरित मानस' सात खंडों में विभक्त है, जिनके नाम वाल्मीकि के कांडों के समान ही हैं। केवल छठा वाल्मीकि के 'युद्धकांड' की जगह मानस में लंका कांड कहा गया है। पर ये नाम यद्यपि लोक में प्रचलित है तो भी वही नहीं है, जो स्वयं कवि ने अपने 'रामचरितमानस' के कांडों के लिये रखे थे।

१. अंग्रेजी से अनुवाद : श्री वासुदेवशरण अग्रवाल।

यह विपुल काव्य ग्रंथ आनुपातिक परिमाण की दृष्टि से सुविहित नहीं ज्ञात होता, और रचना की दृष्टि से भी विचित्र जान पड़ता है। बालकांड नामक पहले खंड में जो सबसे बड़ा है (३६०० अर्धाली या पंक्तियों से अधिक) रामसंबंधी कथाओं के अतिरिक्त बहुत सी सामग्री है। दूसरा खंड अयोध्या कांड जो भारत में सबसे अधिक प्रशंसित है, बहुत बड़ा है। (३२०० अर्धाली से अधिक)। ये दोनों कांड मिलकर सारे काव्य के दो तिहाई के लगभग हैं। उनके बाद के अरण्य, किष्किंधा और सुंदरकांड अपेक्षाकृत बहुत छोटे हैं। अंतिम दो लंका और उत्तर मध्यम परिमाण के हैं। पर प्रायः सारा उत्तरकांड और बालकांड का पूर्वार्ध, रामकथा से बाहर के हैं।

रामचरितमानस की हस्तलिखित प्रतियाँ बहुसंख्यक हैं, पर सबसे अधिक रुचि की प्रतियाँ अक्सर पहुँच से बाहर हैं। राजापुर की सुप्रसिद्ध प्रति के विषय में जो बहुत दिन तक कवि के हाथ की लिखी मानी जाती रही, खासकर यही बात है। डा० माताप्रसाद गुप्त और पं० रामनरेश त्रिपाठी ने, जो इस प्रति की परीक्षा करने में सफल हुए, सिद्ध किया है कि यद्यपि प्रति पुरानी है, पर स्वयं कवि के हाथ की लिखी नहीं है। इस प्रति में केवल अयोध्या कांड का पाठ है। संपूर्ण काव्य की सबसे प्राचीन प्रति जिसका वर्तमान में उपयोग किया जा सकता है, काशी की प्रति है, जो महाराज बनारस के पास सुरक्षित है।[2] यह सं० १७०४ (१६४७ ई०) की प्रति है, पर तो भी आजतक उपलब्ध प्रतियों के आधार पर तैयार किया हुआ रामचरित मानस का वस्तुतः संशोधित संस्करण नहीं है। नए संस्करणों में सबसे अच्छा इंडियन प्रेस का संस्करण (श्यामसुंदरदास की टीका सहित इलाहाबाद १९२७)[3] और गीता प्रेस का मानसांक संस्करण (गोरखपुर, १९३८) है, जिनका इस अध्ययन में उद्धरण देने के लिये उपयोग किया गया है।

टीका प्रायः अच्छी नहीं हैं और उनका उपयोग सोच समझकर करना चाहिए। जैसा ग्रियर्सन ने लिखा है, 'अधिकांश टीकाकारों की यह गहरी प्रवृत्ति देखी जाती है कि वे कठिन स्थलों को बचा जाते हैं और सरलतम स्थलों का ऐसा रहस्यमय अर्थ करते हैं, जो कवि को कभी इष्ट नहीं था।' नई टीकाओं में श्यामसुन्दरदास की संभवतः सबसे अच्छी है। अभी तक किसी यूरोपीय भाषा में रामचरितमानस का पूरा अनुवाद केवल अंग्रेजी में ग्राउस कृत (१८९७) था, जो कई बार पुनर्मुद्रित हो चुका है। यह बहुत उपयोगी है, यद्यपि प्रायः मूल से हटा हुआ है और सरलता से रहित है। अंग्रेजी में हिल द्वारा किया हुआ नया अनुवाद अभी निकला है। फ्रेंच में गर्सांदितासी (१८३९ ई०) का किया हुआ एक बहुत पुराना अनुवाद सुन्दरकांड का (सर्वप्रथम) था और हाल में अयोध्याकांड का सुश्री सी० वांदवील का, भूमिका और आलोचनात्मक टिप्पणियों के साथ प्रकाशित हुआ है (पेरिस १९५४)।

जार्जग्रियर्सन ने, जिन्हें तुलसीविषयक अध्ययन का आरंभकर्ता कहा जा सकता है सर्वप्रथम इस महान् हिंदी कवि के ग्रंथों के अध्ययन में आलोचनात्मक शैली का उपयोग

२. रामचरित मानस की सबसे प्राचीन प्रति, 'हिंदुस्तानी', जनवरी १९३४।
३. तुलसीदास और उनकी कविता, प्रयाग १९३९।

किया। उनके 'तुलसीदास पर टिप्पणियाँ' (नोट्स आन तुलसदास') शीर्षक लेख ने जो १८९३ ई० में इंडियन एंटीक्वेरी में प्रकाशित हुआ था, एक प्रकार से मार्ग का परिष्कार किया। मिश्रबंधुओं ने उनका उपयोग किया। रामचरितमानस के स्रोत के प्रश्न और बाल्मीकि रामायण पर उसकी निर्भरता को इटली के विद्वान तेसीतोरी ने उठाकर उसपर लंबी समीक्षा अपने रामचरितमानस और रामायण (इल रामचरित मानस ए इल रामायण) शीर्षक लेख में की, जिसका अंग्रेजी अनुवाद इंडियन एंटीक्वेरी में प्रकाशित हुआ (१९१२ – १९१३, भाग ४१ – ४२) बालकांड के पूर्वार्ध और समस्त उत्तरकांड को जिनका बाल्मीकि की कथा से कुछ संबंध नहीं, अलग छोड़ कर तेसीतोरी ने यह दिखाने का प्रयत्न किया था कि तुलसीदास ने अपने काव्य के शेष भाग में वाल्मीकिरामायण का ही अधिक अनुगमन किया अतएव इसे ही रामचरितमानस का मुख्य आधारग्रंथ मानना चाहिए। अपनी बात सिद्ध करने के लिए तेसीतोरी ने बाल्मीकि के उन स्थलों की एक लम्बी सूची दी है जिनकी छाया उन्हें रामचरितमानस में दिखाई दी। उन्होंने यह भी निश्चय करने का दावा किया कि वाल्मीकि रामायण की तीन मुख्यधाराओं में से किस धारा का उपयोग तुलसीदास ने अपने काव्य के किस भाग में किया है। तुलसी की कथावस्तु और वाल्मीकि के कथानक में जो अनेक भेद हैं, उनका कारण तेसीतोरी के मत में हिंदी कवि की स्मृतिशक्ति की अक्षमता या अन्य कोई भ्रांति थी। तेसीतोरी ने स्वयं अपने मत को कुछ मर्यादा के साथ प्रकट किया था 'क्योंकि हमने केवल वाल्मीकिरामायण पर ही विचार किया है, इसलिए हमारी स्थापनाएँ स्वभावतः अस्थायी हो जाती हैं। हमें विदित है कि तुलसीदास ने अध्यात्मरामायण का भी उपयोग किया था, जो कि ब्रह्मांड पुराण का एक भाग है और रामायण का आध्यात्मिक पुनःसंस्कार है। जब उस स्रोत की भी परीक्षा हो लेगी, तब रामचरितमानस के स्रोतों में रामायण की प्राथमिकता का अंतिम निश्चय किया जा सकेगा। किंतु रामायण को जो प्राथमिकता यहाँ दी गई है, उसे किसी अंश में मर्यादित भी करना पड़े तो भी कुल की दृष्टि से हमारी संपूर्ण प्रमुख स्थापनाएँ बिल्कुल निश्चित पाई जाएंगी।'

हमें ज्ञात है कि तुलसी ने स्वयं अपने काव्य के आरंभिक श्लोकों में अपने स्रोतों का उल्लेख किया है जिसमें उन्होंने कहा है कि वे रामकथा को विविध पुराण, निगम और आगमों के अनुसार तथा जो रामायण में कहा है, उसके अनुसार एवम् अन्य प्रमाणों के अनुसार (क्वचिदन्यतोऽपि) वर्णन करेंगे। 'अन्यतोऽपि' के अंतर्गत टीकाकार अध्यात्मरामायण का और कुछ सम्प्रदायों में मान्य रामायणों का जिनमें भुशुंडि रामायण भी संमिलित है और महानाटक 'हनुमन्नाटक' और 'प्रसन्न राघव' जैसे नाटकों का उल्लेख करते हैं। तेसीतोरी के अध्ययन की आलोचना करते हुए ग्रियर्सन ने उनके निबंध के अल्प प्रमाणित स्थलों का निर्देश किया है और यह संमति प्रकट की है कि तेसीतोरी ने रामचरितमानस के उन स्रोतों को पर्याप्त महत्व नहीं दिया, जो बाल्मीकि रामायण से बाहर के थे। ग्रियर्सन के अनुसार, इन बाहरी स्रोतों की समीक्षा से तुलसीदास और वाल्मीकि के ग्रंथों के पारस्परिक स्रोतों की व्याख्या तेसीतोरी की अपेक्षा अधिक सरल ढंग से की जा सकेगी।[४]

सब मिलाकर ग्रियर्सन के निर्देश का अनुगमन करनेवाले भारतीय आलोचकों ने राम-

४. रायल एशियाटिक सोसाइटी पत्रिका, १९१२ ई०, पृ० १९७।

चरितमानस के स्रोतों के प्रश्न पर अधिक ध्यान नहीं दिया है। सबने कवि के विस्तृत अध्ययन की प्रशंसा की है और उनके द्वारा संस्कृत साहित्य के उपयोग पर अधिक बल दिया है। कुछ ने जैसे रामनरेश त्रिपाठी और शिवनन्दन सहाय[५] बिना अवतरणांक दिए हुए ऐसे स्थलों की सूचियाँ दी है, जिनसे संस्कृत साहित्य के प्रति गुंसाई जी का ऋण प्रकट होता है। शिवनंदन सहाय ने अपनी पुस्तक के एक अध्ययन में रामचरितमानस की एक ओर वाल्मीकि से और दूसरी ओर अध्यात्म रामायण से तुलना की है। उनका प्रयत्न रोचक है, पर उन्हें तेसीतोरी के कार्य का पता न था और उनका विश्लेषण भी पल्लवग्राही है।

रामचरितमानस के अधिकांश नवीन आलोचकों ने उसकी रचना पर अध्यात्म रामायण के प्रभाव पर बल दिया है। रामनरेश त्रिपाठी और माताप्रसाद गुप्त के अनुसार तुलसीदास ने अपने कथानक का सारा भाग अध्यात्मरामायण से लिया है। माताप्रसाद गुप्त का तो यहाँ तक कहना है कि तुलसी ने मानस के आरंभिक श्लोक में जिस रामायण का उल्लेख किया है, वह वाल्मीकि रामायण नहीं, अध्यात्मरामायण ही हैं। 'तुलसीदास के ग्रंथ और उनका जीवन-चरित' नामक अपने ग्रंथ के अंतिम अध्याय में उन्होंने दार्शनिक और धार्मिक दृष्टि से रामचरितमानस का विनयपत्रिका और अध्यात्मरामायण के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया है।

इन कारणों से हमें भी ऐसा प्रतीत हुआ कि रामचरित मानस के स्रोतों के अध्ययन के लिये रामचरितमानस और अध्यात्मरामायण की सूक्ष्म तुलना आवश्यक है। वस्तुतः हमारे कार्य का वही मूलबिंदु था। 'तुलसी ने अध्यात्म रासायण से कितनी वार और कितना लिया है,' न केवल इसकी जाँच के लिये वलिक तेसीतोरी के मतों की सत्यता जानने के लिये भी, ऐसा करना नितांत आवश्यक था। यह स्पष्ट है कि रामचरितमानस की कथा और मोटे तौर पर वाल्मीकि की कथा से मिलती है। इसके अतिरिक्त लोक में तुलसीदास वाल्मीकि के अवतार माने जाते हैं। अतएव एक अत्यंत सीमित अर्थ में कहा जा सकता है कि वाल्मीकि रामायण रामचरित मानस का उस अंश में प्रमुख स्रोतग्रंथ है जिस अंश में हिंदी रामायण वाल्मीकि की परंपरा पर निर्भर है। यह सभी मध्यकालीन रामायणों के लिये और विशेपतः अध्यात्मरामायण के लिये सत्य है। पर इस प्रश्न की खोज शेष रहती है कि क्या तुलसीदास ने सीधे वाल्मीकि से सामग्री ली और यदि हां तो कहाँ तक? वस्तुतः तेसीतोरी ने रामचरितमानस और वाल्मीकि कृत रामायण के जो सदृश स्थल संगृहीत किए थे, उनकी एक एक करके हमने परीक्षा की तो पता लगा कि उनमें से कम से कम आधे वाल्मीकि के समान ही अध्यात्मरामायण में भी हैं और अधिकांश के विषय में पूर्णतः यह निश्चय करना असंभव है कि इन दोनों ग्रंथों में से किससे तुलसी ने अपनी सामग्री उधार ली। और भी तेसीतोरी को जब रामचरितमानस के किसी अंश का सादृश्य वाल्मीकि रामायण की तीन धाराओं मे से केवल किसी एक में प्राप्त हुआ तो उन्होंने स्वतः यह परिणाम निकाला कि तुलसीदास ने रामचरितमानस के उस विशेष अंश में उस धाराविशेष का प्रयोग किया था। वस्तुतः इनमें से अधिकांश स्थलों में वही अंश अध्यात्मरामायण में भी उपलब्ध है, और यह बिल्कुल संभव है कि तुलसी ने सीधे वहीं से उसका ग्रहण किया हो।

५. श्रीगोस्वामी तुलसीदास जी का जीवन चरित्र, बांकीपुर १९१९।

प्रतीत होता है कि तुलसी ने अपने कथानक का ठाठ अध्यात्म से ही लिया है, क्योंकि रामचरितमानस के बालकांड में जो शिव-पार्वती-संवाद है वह अध्यात्म रामायण की प्रस्तावना के रूप में शिवपार्वती संवाद से मिलता है। और भी, हिंदी काव्य के कई स्थलों में और विशेषतः अंतिम पाँच कांडों में शिव, पार्वती के प्रति रामकथा के प्रमुख वक्ता है। पर जैसा हम देखेंगे, रामचरितमानस के बालकांड में शिवपार्वती संवाद ऐसे ढंग से रखा गया है कि उसे कथा का वास्तविक आरंभ नहीं मान सकते। वह एक सौ सात चौपाई में आता है और वहाँ भी रामकथा का आरंभ नहीं होता, वह तो बहुत आगे १५७ वीं चौपाई से होता है, दोनों के बीच में विभिन्न स्रोतों से आई हुई कथाओं की एक लड़ी है, जिनमें से किसी के जोड़ की वस्तु वाल्मीकि में या अध्यात्म रामायण में नहीं है। बालकांड के उत्तरार्ध में और समस्त अयोध्या-कांड में (अर्थात् संपूर्ण काव्य के एक तिहाई से अधिक अंश में) शिव वक्ता के रूप में कहीं नहीं आते। अतएव, यह मानना पड़ेगा कि रामचरितमानस में शिवपार्वती संवाद, भले ही वह अध्यात्म रामायण से लिया गया हो अथवा नहीं, रामकथा के लिये कृत्रिम और अनिश्चित सा ठाठ ज्ञात होता है। वह समस्त काव्य के साथ संगत नहीं है, जो पुराण तंत्र की विशेषताओं से रहित है।

यद्यपि रामकथा के वर्णन में अध्यात्मरामायण, वाल्मीकिरामायण की 'सी' संज्ञक पाठ परंपरा का पालन करती हैं, तो भी कथा के सूक्ष्म प्रपंच अध्यात्मरामायण में प्रायः भिन्न है। जहाँ तहाँ अध्यात्मरामायण में वाल्मीकि से बाहर के प्रसंग भी हैं, जिनमें से अधिकांश रामचरित-मानस में भी चले आए हैं और दोनों मूलग्रंथों की बारीक छानबीन से प्रायः ज्ञात होता है कि तुलसीदास ने अध्यात्म से ही अपनी सामग्री ली। साथ ही प्रायः ऐसा भी है कि रामचरित मानस में आते आते उन प्रसंगों का स्वरूप बदल जाता है और यहाँ वे नया महत्त्व प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार का स्वरूप परिवर्तन इसलिए रोचक है, क्योंकि इससे तुलसीदास के मन की प्रवृत्तियों और विशेष धार्मिक कल्पना शक्ति का परिचय प्राप्त होता है।[६]

अध्यात्मरामायण का प्रभाव रामचरितमानस के गीतिप्रधान और नीतिप्रधान भागों में अधिक स्पष्टता से लक्षित होता है। वस्तुतः अधिकांश 'स्तुतियाँ' और 'गीताएँ' जो मानस के कथाभाव में बिखरी हुई है, सीधे अध्यात्मरामायण से ली गई हैं। दोनों काव्यों में वक्ता, अवसर और उनके कथन के विषय एक समान हैं। फिर भी कभी कभी किसी कथन का सार विषय एक ग्रंथ में दूसरे से बहुत भिन्न हैं। परंतु उसमें भी स्वयं परिवर्तन से विशेष रूप में यह प्रकट हो जाता है कि हिंदी के महाकवि की धार्मिक और दार्शनिक विषयों में अभिरुचि या विमुखता किस प्रकार की थी।

अध्यात्मरामायण का प्रभाव, असमान रूप में ही सही, बालकांड के आरंभिक सौ दोहे छोड़कर और संपूर्ण उत्तरकांड को छोड़कर सारे रामचरितमानस पर है। किंतु तुलसीदास ने अपने ग्रंथ के एक या दूसरे भाग में और भी बहुत से स्रोतों से सहायता ली है। उनमें से जो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, उन्हीं का यहाँ उल्लेख किया जा सकता है।

६. एच० जैकोबी के वर्गीकरण के अनुसार ए० बी० सी० (रामायण, बॉन्, १८९३) और भी देखिए कामिल बुल्के, रामायण की तीन पाठपरंपराएँ—(दी थ्री रिसेंशंस आफ दी रामायण, जर्नल आफ ओरियंटल रिसर्च, भाग १७,१९४१)।

एक विशेष महत्त्वपूर्ण शिवपुराण है, जो कि उपपुराण है और शैवपुराण से भिन्न है (जिसकी समानता 'वायु' से की जाती है) और जिसकी गणना कभी कभी अष्टादश महापुराणों की सूची में की जाती है। इस पुराण की दूसरी संहिता से, जिसका नाम रुद्र संहिता है, बालकांड के पूर्वार्द्ध में वर्णित आख्यानों को तुलसी ने लिया प्रतीत होता है, पर उन्होंने उनका कुछ संस्कार करके उनकी संगति अपनी रामभक्ति के मत से बैठी दी है।

संस्कृत नाटकों से भी बहुत सामग्री प्राप्त हुई—विशेषतः 'महानाटक' और 'प्रसन्नराघव' से। रामचरितमानस के आरंभ के श्लोक से जिसमें हनुमान की, जो महानाटक के काल्पनिक रचयिता हैं, वाल्मीकि के साथ रामकथा के वक्ता के रूप में वंदना की गई है, विदित होता है कि तुलसी के मन में इस प्रसिद्ध नाटक के लिये कितनी आस्था थी। प्रसन्नराघव जिसका तुलसी ने बालकांड के अंतिम भाग में और सुंदरकांड में अधिक उपयोग किया है, तार्किकरत्न जयदेव की रचना है जो 'गीतगोविंद' के गायक, बंगाल के जयदेव से भिन्न थे। कीथ के अनुसार इसकी रचना १२०० ई० के लगभग हुई। अध्यात्मरामायण के अतिरिक्त तुलसीदास को संप्रदायों की परंपरा में चली आती हुई कुछ रामायणों का भी परिचय था, जिनका संभवतः उन्होंने अपने ग्रंथ में उपयोग भी किया था। इनमें योगवशिष्ठ, अद्भुत और भुशुंडि रामायण का सबसे अधिक नाम लिया जाता है।

टीकाकार रामचरितमानस के स्रोतों में प्रायः भुशुंडि रामायण का उल्लेख करते हैं। श्री प्रबोधचंद्र बागची उसे अध्यात्मरामायण के स्रोतों से गिनते हैं। ग्रियर्सन का कहना है कि उन्होंने न तो भुशुंडि रामायण देखी और न उनका इसके अस्तित्व के विषय में ज्ञान है। यद्यपि इस समय वह अप्राप्य है किंतु यह मानने के लिये पर्याप्त कारण है कि भुशुंडि रामायण नामक ग्रंथ का अस्तित्व है, अथवा कम से कम वह तुलसीदास के समय में अवश्य थी। भुशुंडि नामक काग जो कि राम का महान भक्त है रहस्यात्मक व्यक्ति है। योगवशिष्ठरामायण में भी उसका प्रयोग है। योगवशिष्ठरामायण और मराठी की एकनाथीभागवत में तथा भक्तमाल में भी इसका उल्लेख है, पर आख्यान के विषय में उसके सिवाय जो तुलसी ने उत्तरकांड में बताया है, हम और कुछ नहीं जानते।

रामचरितमानस के आमुख भाग में एक स्थल में जो, जैसा कि हम देखेंगे, बाद में जोड़ा गया रामकथा के वक्ताओं में भुशुंडि का उल्लेख है जो कि पक्षिराज गरुड़ के सामने कथा सुनाते हैं। किंतु तथ्य यह है कि भक्त कागभुशुंडि वक्ता के रूप में तृतीय कांड से पहले दिखाई नहीं देते, अर्थात् रामचरित मानस के अंतिम एक तिहाई अंश में ही वे दर्शन देते हैं। तीसरे से छठे कांड तक प्रायः शिव ही वक्ता हैं, यद्यपि भुशुंडि कभी कभी दिखाई पड़ते हैं। इसके प्रतिकूल सातवें कांड में शिव भुशुंडि से भी बढ़ जाते हैं और वे रामचरितमानस संज्ञक राम कथा के प्रमुख वक्ता कहे जाते हैं। उत्तरकांड का अंतिम भाग भुशुंडि - कथा - परक है और वहीं रामभक्ति के संबंध में गरुड़ के साथ उनका संवाद दिया हुआ है। हमें लगता है कि उत्तरकांड का वह अंतिम भाग कुछ परिशिष्ट जैसा है, जो मूलकाव्य में पैवंद के समान जुड़ा हुआ है। उसके सामान्य भाव और स्वरूप से, तथा उसमें निर्दिष्ट सिद्धांतों की दृष्टि से भी उसका शेष ग्रंथ के साथ मेल नहीं बैठता। दूसरे और तीसरे से छठे कांड तक के कुछ स्थलों में जहाँ भुशुंडि वक्ता हैं, रामचरितमानस के इस अंतिम भाग के साथ कुछ सादृश्य दिखाई पड़ता है, जिससे अनुमान होता है कि वे भी उसी स्रोत से लिए गए हैं, जो भागवतपुराण से प्रभावित किसी सांप्रदायिक रामायण का था। यह संभाव्य प्रतीत होता है कि यह संप्रदायगत रामायण

भुशुंडि रामायण ही थी, जिसका टीकाकारों ने उल्लेख किया है। इस ग्रंथ की विषयवस्तु के संबंध में जानकारी नहीं है, इसलिये और भी शोचनीय है क्योंकि रामचरितमानस की रचना की कुछ विशेषताओं की और खासकर अंतिम कांड की संगति बैठाने के लिये इस प्रकार के ग्रंथ का अस्तित्व मानना ही पड़ता है।

भागवतपुराण का रामचरितमानस पर बहुत प्रभाव है, उससे कहीं अधिक प्रायः स्वीकार किया जाता है और उस पर बल देने की आवश्यकता है। तुलसी ने इस ग्रंथ से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से जितनी अधिक सामग्री ग्रहण की, वह इस प्रसिद्ध पुराण को रामचरितमानस के मुख्य स्रोतग्रंथों में स्थान दिलाने के लिये पर्याप्त है। पर बात इससे भी अधिक है। इस प्रसिद्ध ग्रंथ ने विशेष रूप से रामचरितमानस की समस्त रचना को प्रभावित किया ज्ञात होता है। मानस ने बहुत अधिक अंश में उसकी भावात्मकता को आत्मसात् कर लिया है।

इन मुख्य स्रोत ग्रंथों के अतिरिक्त और भी कितनी पुस्तकों से तुलसीदास को सामग्री मिली होगी। कुछ आलोचकों ने इस प्रकार के ऋणग्रहण की लंबी सूची दी है, किंतु अधिकांशतः उनके कथन का प्रमाण नहीं दिया जा सकता। और हमारा यह अध्ययन कुछ इस विषय में निःशेषीकृत भी नहीं है कि हम संपूर्ण रामचरितमानस की शल्यक्रिया करके यह निश्चित करने का प्रयत्न करें कि कवि ने किस पूर्ववर्ती ग्रंथ से कौन कौन से भाव या शब्द लिए हैं; ऐसा करना असंभव और व्यर्थ है। प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य दूसरी दिशा में है, इससे रामचरित मानस को और भी अधिक अच्छी प्रकार समझने में सहायता मिलनी चाहिए, विशेषतः इस काव्य के उद्भव, स्वरूप, उद्देश्य और अन्य विशेषताओं को जानने में।

यह जानना अवश्य ही महत्त्वपूर्ण है कि तुलसीदास ने अपनी प्रेरणा कहाँ से ली, किंतु स्रोतों के साथ रामचरितमानस के तुलनात्मक अध्ययन का अधिक मूल्य इस बात में है कि उससे कवि की विशेष प्रतिभा और लेखक, विचारक एवं अनुभवकर्ता संत के रूप में उनकी मौलिकता प्रकट होती है। जिस विशेष विधि से तुलसीदास कुछ तथ्य और कुछ मतों और सिद्धांतों को स्वीकार करके उन्हें गौरव देते हैं और साथ ही साथ कुछ दूसरे सिद्धांतों को या तो वे परिवर्तित कर लेते हैं या बिलकुल छोड़ देते हैं, उससे उनके अंतःकरण की निगूढ़तम प्रवृत्तियों का परिचय प्राप्त होता है।

स्रोतों का पृथक् पृथक् विवेचन किसी प्रकार महत्त्वपूर्ण नहीं है। हम पाते हैं कि कभी तुलसी एक स्रोत से प्रभावित होते हैं और कभी दूसरे से, और हम यह भी देखते हैं कि इस प्रकार की विविधता से उनके भाव, कथावर्णन, और कभी कभी शब्दावली और वाक्यविन्यास के चुनाव में भी पर्याप्त भेद हो जाता है। प्रायः उनके कारण वक्ता के चुनाव में और छंदों के चुनाव में भी भेद पड़ जाता है। स्रोतों के अनुकूल कभी स्वयं कवि वक्ता के रूप में आते हैं और कभी पौराणिक पात्र वक्ता बनता है। इस प्रकार के संयोग रामचरितमानस की रचना विधि के संबंध में मूल्यवान सूचना देते हैं। वे प्रकट करते हैं कि काव्य की रचना लगातार रूप में नहीं हुई, वल्कि उसे कई अवस्थाओं में से पार होना पड़ा होगा। हिंदी रामायण का जितना अधिक अध्ययन किया जाता है, उतना ही अधिक उसका रचनागत पार्थक्य सामने आता है, यद्यपि उसके कर्ता ने जोड़ों को छिपाने के लिये बड़े कौशल से काम लिया है, जिससे पाठकों पर उसकी एकसूत्रता की छाप पड़े। अतएव यह अनुभव होता है कि रामचरितमानस के स्रोतों का अध्ययन और उसकी रचना का अध्ययन एक संमिलित समस्या है, जिसपर अलग अलग विचार नहीं किया जा सकता।

रामचरितमानस के स्रोत और रचना के अध्ययन से तुलसीदास के निजी दार्शनिक मत का विवादास्पद प्रश्न अनिवार्यतः उठ खड़ा होता है, जिसे तुलसी मत कहा जाता है। वस्तुतः तुलसीदास को 'द्वैत' 'अद्वैत' 'विशिष्टाद्वैत' इन परंपराप्राप्त संप्रदायों में वर्गीकृत करना नितांत असंभव है, क्योंकि अपने रामचरितमानस के विभिन्न भागों में उन्होंने विविध मतों का प्रतिपादन किया है, तर्क द्वारा जिनकी परस्पर संगति नहीं बैठती। फलतः प्रत्येक आलोचक समस्या को पृथक् पृथक् रीति से प्रायः अपनी निजी रुचि के अनुसार सुलझाने का प्रयत्न करता रहता है। रामचरितमानस की दार्शनिक व्याख्या असमाधेय समस्या या अनबूझ पहेली रहती है, यदि हम इस ग्रंथ के स्रोतों पर विशेषतः अध्यात्मरामायण पर ध्यान नहीं देते, और यदि हम यह स्वीकार नहीं करते कि अमुक अमुक पात्र ने कथा प्रसंग में जो कुछ कहा है, वह उस विषय में ग्रंथलेखक की निजी संमति निश्चय नहीं है—यदि यह मान भी लिया जाय कि उनका कोई निजी सिद्धांत था। जैसा श्री माताप्रसाद गुप्त ने ठीक ही कहा है, कवि ने कितना जानबूझ कर अन्यत्र से लिया और कितना प्रासंगिक रूप से आ गया, इन दोनों में भेद करना प्रायः कठिन है। अतएव रामचरितमानस के किसी स्थल को पृथक् रूप से आधार मानकर उसके स्रोत का बिना विचार किए, मानस की दार्शनिक व्याख्या करना असंभव है। अधिकांश आलोचकों ने ठीक यही किया है और इसलिये कुछ आश्चर्य नहीं कि वे परस्पर नितांत विरुद्ध परिणामों पर पहुँचे हैं। रामचरितमानस की किसी भी व्याख्या में इस बात का ध्यान रखना भी आवश्यक है कि इसका निर्माण पृथक् भागों के पारस्परिक संघटन से हुआ और वह क्रम अनेक वर्षों तक जारी रहा। जैसा हम देखेंगे, काव्य के प्राचीनतम भाग में जो अयोध्या में लिखा गया विषय और स्वरूप की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो काशी में लिखे गए बाद के भागों में नहीं मिलतीं। अतएव यह मानने का कुछ आधार है कि कवि के विचारों में विकास हुआ था।

रामचरितमानस के कथानक में पाए जाने वाले बहुत से प्रयोगों का कारण यह था कि कवि ने विरोधी मतों का समन्वय करना चाहा। उन्होंने ग्रंथ की प्रस्तावना में इस इच्छा का स्पष्ट उल्लेख किया है। रामानंदी और भागवत इन दो अर्द्धरूढ़ी धाराओं के संगम पर खड़े होकर तुलसीदास ने यह प्रयत्न किया कि उनके संमिलन से ठीक ऐसा शास्त्रानुमोदित धर्ममार्ग निर्मित हो, जो ब्राह्मणीय पुराण-धर्म और वेदांत के सर्वब्रह्मवाद इन दोनों आस्थाओं की रक्षा करे, और ऐसा करते हुए उन्होंने राम पर आश्रित अपने एकेश्वरवादपरक विश्वास से कोई बाधा नहीं आने दी। समन्वय, जो हिंदू का विशेष स्वाभाविक गुण है, तुलसीदास की वास्तविक विशेषता थी। उनकी यह समन्वयात्मक प्रवृत्ति और साथ में महती काव्यप्रतिभा ही हिंदी रामचरितमानस की बृहत् सफलता और उसके अद्भुत प्रभाव का कारण है, जो उत्तर भारत की समस्त हिंदू जनता के मन पर मोहिनी की तरह पड़ा हुआ है।

तुलसीदास का अपना मत क्या था और अपने समकालीन अन्य दार्शनिक विचारों और धार्मिक मतों के साथ उसका क्या संबंध था इस प्रश्न का उत्तर विशेष कठिन है और उसके लिये एक पृथक् अध्ययन आवश्यक है। यहाँ हमने उसे सुलझाने का प्रयत्न नहीं किया क्योंकि हमारे विचार से रामचरितमानस के स्रोत और रचना का नियमित अध्ययन उस मार्ग का परिष्कार करेगा और जो समस्या अभीतक ठीक प्रकार से सामने नहीं आई है उसकी उद्भावना के संबंध की सामग्री प्रस्तुत करेगा। हम समझते हैं कि हमारा उद्देश्य भली प्रकार पूरा हो जायगा यदि हम यह दिखा सकें कि रामचरितमानस के लेखक ने अपनी प्रेरणा कहाँ से

प्राप्त की, किस प्रकार का ग्रंथ उन्होंने लिखने का विचार किया था, और वे वस्तुतः क्या लिख सके।

अब हम रामचरितमानस के आमुख भाग पर इस दृष्टिकोण से समीक्षा प्रस्तुत करते हैं।

रामचरित मानस का बालकांड, कथारंभ—

रामचरितमानस का प्रथम बालकांड परिमाण में बहुत विपुल है। इसमें ३६१ दोहे (लगभग ३७०० अर्धालियाँ) हैं अर्थात् समग्र ग्रंथ के एक तिहाई भाग से लगभग अधिक। न केवल उसका परिमाण वरन् उसकी रचना की जटिलता और उसमें एक सूत्रता का अभाव और भी ध्यान देने योग्य हैं। अतएव एक इकाई के समान समझकर उसपर विचार करना संभव नहीं। अपने विश्लेषण को स्पष्टतर बनाने के लिये हमने उसे कुछ भागों में बांटा है और प्रत्येक भाग पर अलग विचार करना आवश्यक होगा।

अध्याय एक — आमुख — बालकांड, दोहा १ - ४३।
अध्याय दो — शिवचरित — बालकांड — दोहा ४४ - १०४।
अध्याय तीन — शिवपार्वती संवाद — बालकांड दोहा १०५ - १२०।
अध्याय चार — अवतार के हेतु — बालकांड दोहा १२१ - १८४।
अध्याय पाँच — रामजन्म और बालचरित — बालकांड दोहा १८४ - २०५।
अध्याय छह — राम का यौवन और विवाह — बालकांड दोहा २०६ - ३६१।

आमुख (१ - ४३)

रामचरितमानस के पहले ४३ दोहे उसकी कथा के आमुख भाग हैं, जिसमें तुलसीदास ने अपने नाम की भणिति डालकर अपने काव्य का परिचय दिया है। जैसा कि ग्रियर्सन ने लिखा है, 'यह संपूर्ण ग्रंथ के अति विशिष्ट भागों में से एक है' (वर्नाक्यूलर लिटरेचर पृ० १८७)। इस भाग में समस्त काव्य के विषय में मूल्यवान सूचना पाई जाती है, जैसे उसकी रचनातिथि, उसके स्रोत, उसका उद्देश्य, उसके लिखने की भावना, ग्रंथलेखक का धार्मिक अभिप्राय और अपने एवं अपनी कला के विषय में उसके विचार। इस भाग में लगभग ४५० अर्द्धालियाँ हैं। यहाँ उसका संक्षिप्त विश्लेषण किया जाता है।

श्लोक	१ से ५	— वंदना, सरस्वती, गणेश, भवानी, शंकर, गुरु, वाल्मीकि, हनुमान, सीता।
श्लोक	६	— ईश्वरस्वरूप राम की वंदना।
श्लोक	७	— कवि का कथन कि भाषा में होते हुए भी उसका निबंध नाना पुराण निगमागम संमत है।
सोरठा	१ से ५	— वंदना का विकास। कवि गणेश, सरस्वती, विष्णु, शिव और गुरु से प्रार्थना करता है।
दोहा	१ - २	— गुरुप्रशंसा, उनकी चरणरज की महिमा। रामचरितमानस को समझने के लिये गुरु - पद - रज का प्रभाव।
दोहा	२ - ३	— ब्राह्मण और संतों की वंदना। संतसमाज में होनेवाला आनंद और फलदायक होने के कारण उसकी प्रयाग से तुलना।

दोहा ४ - ७ — खलों की वंदना, जो सज्जनों से विपरीत होते हैं, जैसे दोष गुणों के प्रतिरूप हैं। दोष और गुण विधाता की सृष्टि में एक दूसरे के पूरक हैं। कवि सारे जगत को राममय जानता हुआ उसकी वंदना करता है।

दोहा ८ - १० — कवि अपने आपको अपने कर्म के अनुपयुक्त समझता है और अपनी अयोग्यता के लिये क्षमा माँगता है। दुष्ट उसके काव्य पर हँसेंगे, पर सज्जन इसमें राम का भक्तिपूर्ण यश सुनकर प्रसन्न होंगे। उसके काव्य का मूल्य विषय की महिमा से है, जिससे ग्राम्यभाषा की त्रुटि का परिहार हो सकेगा।

दोहा ११ - १४ — तुलसीदास कवि की प्रेरणा के स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं। कविता का जन्म ईश्वरोपासना से होता है और काव्य का मूल्य बहुत कुछ उसके विषय पर निर्भर है। कवि पुनः अपने अवगुण स्वीकार करता है और अपने पूर्ववर्ती महान कवियों से प्रार्थना करता है कि वे प्रसन्न होकर उसे वरदान दें।

दोहा १४ (सोरठा १ - २) — तुलसी रामायण के निर्माता वाल्मीकि मुनि की, राम का यश गान करनेवाले चारो वेदों की और भवसागर के रचयिता ब्रह्मा की एवं सब देवता, ब्राह्मण और विद्वानों की वंदना करते हैं।

दोहा १५ -१८ — सरस्वती और गंगा की वंदना, राम के भक्त शिव पार्वती की पुनः वंदना, शाबर मंत्रों के निर्माता शिव का यशकथन, तुलसी को शिवकृपा की प्राप्ति और अपनी सचाई का आश्वासन।

राम कथा के सब पात्रों की वंदना—कौशल्या, दशरथ, जनक, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, हनुमान, सुग्रीव, जाम्बवंत, अंगद रावण, पशुपक्षि, मनुष्य, असुर, देवता, आदि राम के सब उपासकों की वंदना, सनत्कुमार, नारद आदि सब मुनियों की वंदना और अंत में राम सीता की वंदना, जो 'कहियत भिन्न न भिन्न' हैं।

दोहा १९ - २७ — कवि द्वारा रामनाम की महिमा का कथन। वह उन कथाओं का उल्लेख करते हैं। जिनसे राम नाम की महिमा प्रकट होती है। भगवान के नाम की बड़ाई और उसके गुण वर्णन स्वरूप विषयांतर। ब्रह्म के निर्गुण सगुण दो स्वरूपों से भी नाम बड़ा है। राम नाम की पावन शक्ति का कथाओं द्वारा निदर्शन। कलियुग में रामनाम की विशेष महिमा, वही कलिकाल में एक मात्र मोक्ष का अवलंबन है।

दोहा २८ - २९ — कवि की राम में अगाध निष्ठा। राम ही हृदय का भाव पहचान कर उसपर कृपा करेंगे।

दोहा ३० - ३१ — रामकथा की उत्पत्ति।

दोहा ३२ - ३३ — रामकथा की महिमा और उसकी पापनाशिनी एवं पावन शक्ति का कथन। राम कथा का जन्म शिव-पार्वती संवाद से हुआ। इस कथा का विस्तार अपरिमित है।

दोहा ३४ — काव्य की तिथि का उल्लेख। इसका आरंभ अयोध्या में हुआ। रामचरितमानस नाम की व्याख्या जो शिव के द्वारा रखा गया था।

दोहा ३५ - ४३ — रामचरितमानस काव्य का परिचय और मानसरोवर से उसकी तुलना। उसके अंतर्गत विभिन्न कथा विभागों का उल्लेख, उनमें से प्रत्येक की मानसरोवर के रूपक के विविध अंगों से तुलना।

यह आमुख अनियत संख्या से युक्त चौपाइयों में लिखा गया है, जिनमें १० से १८ तक अर्धालियां हैं। चौपाइयों के अंत में एक की जगह दो दोहे हैं। १४वाँ छंद लंबाई में अपवाद रूप है। उसमें २६ अर्धालियां हैं। छंद १९ से २७ तक जिनमें रामनाम की महिमा है, समान विशेषताओं से युक्त इकाई है जिसमें चार चौपाइयों के बाद एक दोहा नियत रूप से आता है।

संस्कृत वंदना को अलग रखते हुए आमुख के दो प्रधान भाग पहचाने जा सकते हैं। पहलेमें १ से २९ तक कवि मनुष्यों और देवों में अनेक व्यक्तियों की वंदना करता है और उनकी कृपा चाहता है। वह अपने काव्य में त्रुटियाँ मानते हुए क्षमा याचना करता है। दूसरे भाग में ३० से ४३ तक वह रामकथा के उद्भव का कथन करके उसके नाम की व्याख्या करता है और उसकी महिमा का गुणगान करता है।

वंदना

काव्य के आरंभ के संस्कृत श्लोकों में तुलसीदास ने प्रथा के अनुसार सरस्वती, गणेश, भवानी और शंकर की वंदना की है। पुनः वे गुरु की वंदना करते हैं जो शंकर के अवतार है। और फिर कवियों के कवीश्वर अर्थात् वाल्मीकि और कपीश्वर हनुमान की वंदना करते हैं जो क्रमशः संस्कृत रामायण और महानाटक या हनुन्नाटक के रचयिता थे। इन दोनों को सीता और राम के गुणसमूह रूपी पवित्र अरण्य में विहार करनेवाला कहा गया है। इसके अनंतर राम की वल्लभा सीता की वंदना है जो संसार के उद्भव, स्थिति और नाश का कारण हैं। और सबसे अंत में राम की अथवा राम कहलाने वाले ईश्वर हरि की वंदना हैं। वे उस माया के अधिपति हैं जो विधाता ब्रह्मा और अन्य देवताओं के साथ अखिल विश्व को वश में रखती है।

छठे और अंतिम श्लोक में काव्य के स्रोतों का सीधा उल्लेख है —

> नाना पुराण निगमागमसम्मतं यद्,
> रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
> स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा,
> भाषानिबंधमतिमंजुलमातनोति।

इससे हम मान सकते हैं कि तुलसी का उद्देश्य राम की पवित्र कथा को इस रूप में प्रस्तुत करना था जो सुनने में अच्छी लगे और सबकी समझ में आ सके। इस कार्य का बीड़ा

उन्होंने किसी दूसरे पत्त समर्थन के उद्देश्य से नहीं बल्कि अपनी ही. अंतारात्मा को प्रसन्न करने की आस्था से उठाया था। इसी कथन के साथ वे अपनी निष्ठा की भी घोषणा करते हैं। उनका काव्य श्रुतिसंमत है जिसमें कवि ने तंत्र (आगम) और पुराणों को संमिलित किया है। तुलसी का पुराणों को श्रुति के अंतर्गत मानना मध्यकालीन हिंदूधर्म के अनुसार ही था, जिसके धार्मिक विश्वास अधिकतः विभिन्न सांप्रदायिक पुराणों पर आश्रित थे। आगमों से तात्पर्य न केवल शाक्त से वरन् समस्त तांत्रिक साहित्य से था। रामचरितमानस में निगम और आगम का बराबर एक साथ उल्लेख आता है। निगम और आगम को एक दूसरे का पूरक कहा गया है (निगमागम गुण दोष विभागा, ११६।५)। ज्ञात होता है कि शिव ने पार्वती से जिस ज्ञान का प्रकाश किया उसे तुलसी एक प्रकार से 'दूसरा वेद' ही मानते हैं।

पुराण, आगम और निगम, ये श्रुति के प्रतिनिधि थे। दूसरी ओर 'कवि' पद स्मृति या अनुश्रुति का सूचक है। तुलसी इस परंपरा की खोज में रामायण तक जाते हैं अर्थात् उस प्रसिद्ध काव्य तक जो मुनि वाल्मीकि रचित कहा जाता है। ये वही वाल्मीकि हैं जिन्हें कवीश्वर कहकर आरंभ के श्लोक में तुलसी ने वंदना की है। संदर्भ से साफ प्रकट होता है कि यहाँ तुलसीका तात्पर्य और किसी दूसरी रामायण से नहीं हैं। अध्यात्मरामायण तुलसी की दृष्टि में श्रुति थी। क्योंकि सूत कथित होने के कारण उसमें पुराण के लक्षण हैं और शिव द्वारा पार्वती से कथित होने के कारण उसमें तंत्र के लक्षण हैं। यही बात उन सांप्रदायिक रामायणों के विषय में कही जा सकती है जिनका उपयोग रामचरितमानस के लेखक ने किया होगा। वे चाहे कितनी ही बाद की हों, रहस्यार्थ का गंभीर प्रतिपादन करनेवाली श्रुति के सदृश मान्य थीं।

वाल्मीकि रामायण पर अपने को निर्भर मानते हुए तुलसी ने यह स्वीकार किया है कि उन्हें कुछ सामग्री 'अन्यत्र' से भी मिली। हम समझते हैं कि इनमें मनु और भर्तृहरि की गिनती होनी चाहिए, क्योंकि काव्य भर में उनके उद्धरण पाए जाते हैं। इसी प्रकार रामकथा पर आश्रित हनुमन्नाटक और प्रसन्नराघव नामक नाटक 'क्वचिदन्यतोऽपि' की पृष्ठभूमि थे।

आरंभ के सात संस्कृत श्लोकों के बाद फिर पांच सोरठे आते हैं, जिनमें वंदना के विषय का ही विस्तार किया गया है। पहला सोरठा विघ्ननाशक गणेश के लिये है। दूसरा और तीसरा 'भगवान्' के लिये—

मूक होइ बाचाल पंगु चढ़इ गिरिवर गहन।
जासु कृपा सो दयाल द्रवउ सकल कलिमल दहन॥
नील सरोरुह स्याम तरुन अरुन बारिज नयन।
करउ सो मम उर धाम सदा छीर सागर सयन॥

यहां तुलसी एक भागवत के रूप में बोल रहे हैं। उन्होंने यहाँ राम का नाम नहीं लिया, किंतु उनका एकात्म्य भगवान् से किया है, जो कि भागवतों के परम देवता विष्णु के एकात्मरूप हैं।

चौथा सोरठा शिव परक और पांचवां गुरु परक है—

बंदउ गुरु पदपंकज कृपासिंधु नर रूप हरि।
महामोहतम पुंज जासु बचन रविकरनिकर॥

रामचरितमानस के प्रधान हस्तलेखों में और सब अर्वाचीन संस्करणों में 'पं० विजयानंद

त्रिपाठी का संस्करण छोड़कर) पहली अर्धाली के अंत में 'हरि' पाठ है। इसी आधार पर तुलसीदास ने गुरु का नाम प्रायः 'नरहरि' बताया जाता है।[७]

पर 'हरि' पाठ निश्चय रूप से अशुद्ध है। कुछ प्रतियों में दिया हुआ 'हर' पाठ तुक मिलाने के लिये (हर - निकर) आवश्यक है। इसके अतिरिक्त अभी अभी शंकर का उल्लेख आ चुका है और पहले भी तीसरे श्लोक में तुलसीदास ने गुरु को शंकररूप कहा है (वंदे बोधमयं नित्य गुरु शंकर रुपिणम्)।

अंत में जैसा कि माताप्रसाद गुप्त ने कहा है — सोरठे का दूसरा पाद (महामोह-तमपुंज आदि) विनयपत्रिका के कुछ पदों का स्मरण दिलाता है। जहां निश्चित रूप से शंकर का वर्णन है।[८] अतएव इसमें संदेह नहीं कि तुलसीदास शिव को ही अलौकिक गुरु मानते थे।

किंतु शंकर के अवतार रूप में वर्णित ये मानवी गुरु कौन थे? आमुख के अन्य स्थल में तुलसी ने 'निज गुरु' का उल्लेख किया है (छंद ३० – दोहा १)। किंतु पाँचवें सोरठे में तीसरे श्लोक के जैसे संबंधवाची शब्द का अभाव है। पर यह निश्चित है कि दोनों स्थलों का एक ही व्यक्ति होना चाहिए जिसके वर्णन के लिये नित्य, बोधमय और 'नररूप हर' पद प्रयुक्त हुए हैं। अतएव संदर्भ में जिस व्यक्ति से तात्पर्य है, वे तुलसी के निज गुरु नहीं हो सकते। वरन् कुछ अंश तक पौराणिक कोई अन्य व्यक्ति हैं, जो मनुष्य होते हुए भी देवता रूप में वर्णित हुए हैं। हो सकता है रामानंद से[९] तात्पर्य हो जो रामानंदी संप्रदाय के संस्थापक और उसके आदि गुरु थे। वे जो कुछ भी हों इस सोरठे से तुलसीदास के गुरु की पहचान के बारे में कोई सूचना नहीं मिलती, और इस पर आश्रित विवाद निरर्थक है।

मानस के पहले छंद में सोरठे के ही भाव का विस्तार हुआ है। इसमें गुरु के चरणकमलों के रज की महिमा का वर्णन है, जिसकी उपमा विवेक की दृष्टि उत्पन्न करनेवाले अंजन से दी गई है। उसी प्रकार अपने ज्ञानचक्षु को पवित्र करके तुलसी रामकथा वर्णन करने चलते हैं। यहीं वंदन वाला अंश समाप्त हो जाता है और एक लंबा विषयांतर आरंभ होता है जिसमें आमुख का पूर्वभाग संमिलित है (१, २ – २९)।

आमुख का प्रथम भाग (२ – २९)

रामचरितमानस के आमुख का प्रथम भाग कुछ उसी प्रकार की निजी क्षमायाचना है, जैसी कालिदास के रघुवंश के प्रथम सर्ग में पाई जाती है (रघुवंश, १।१०)।

७. ग्रियर्सन (इंडियन एंटिक्वेरी २२, १८९३ पृ० २६६) दो गुरु परंपराए देते हैं, किंतु उनकी विश्वसनीयता संदिग्ध है। देखिए श्री माताप्रसाद गुप्त, गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १४४ आदि।

८. श्री माताप्रसाद गुप्त, तुलसीसंदर्भ में विनयपत्रिका के ९, १०, १२, १३ पद का प्रमाण देते हैं।

९. गुरु की भगवान के रूप में पूजा कबीर पंथी और नानक के सिख धर्म की विशेषता थी। कबीर के वचनों में गुरु शब्द के दोनों अर्थ है, कभी सत्पुरुष के लिये और कभी वह कबीर के लिये प्रयुक्त होता है, पर जान पड़ता है कि उसी अंश में जिसमें कि ईश्वर की उसमें और उसके द्वारा अभिव्यक्ति हुई है। ऐसे ही नानक में भी गुरु ईश्वर ही हैं। (देखिए मैकोलिफ सिखधर्म १।५४) कबीर और नानक में गुरु मनुष्य न होकर ईश्वर का रूप है।

सत और असत् का भेद करनेवाले सज्जन मेरे इस काव्य को सुनें क्योंकि सोने का खरा या खोटापन आग में परखे जाने से ही प्रकट होता है।

तुलसी भी सज्जनों की प्रशंसा करते हुए उनके गुणों का परिगणन करते हैं। उनकी संगति में सबसे बड़ा लाभ है और नैतिक गुणों की परिपूर्णता है। पर हिंदी कवि साथ ही असाधुओं को नहीं भूलता (१।४।१) —

> बहुरि बंदि खल गन सति भाएं, जे बिनु काज दाहिनेहु बाएँ।
> पर हित हानि लाभ जिन केरे, उजरे हरप विषाद बसेरे।

इस प्रकार असाधुओं का स्वभाव वर्णन कर तुलसी साधु और असाधु को एक दूसरे का पूरक मानते हैं (१।६।२)—

> भलेउ पोच सब बिधि उपजाए, गनि गुन दोष बेद बिलगाए।

दोनों के बीच में कोई बहुत निश्चित सीमा रेखा नहीं है। भाग्यवश सज्जन भी बुरा कर डालते हैं, असाधु भी कभी कभी भले काम कर देते हैं। भला बुरा, पाप पुण्य, परिस्थिति और संगति के वश होता है और वे एक दूसरे के पूरक हैं। अतएव भक्त तुलसीदास सब प्राणियों को प्रणाम करते हैं (१७ दोहा ३ – ४)—

> जड़ चेतन जग जीव जत, सकल राम मय जानि।
> बंदउँ सबके पद कमल, सदा जोरि जुग पानि॥
> देव दनुज नर नाग खग, प्रेत पितर गंधर्व।
> बंदउँ किन्नर रजनिचर, कृपा करहु अब सर्व॥

यह कम संभव है कि तुलसीदास यहाँ किसी विशेष वर्ग के लोगों पर लक्ष्य कर रहे हैं। किंतु इन असाधुओं के प्रतिरूप जिनके अवगुण उन्होंने गिनाए हैं स्वयं उनके ही शत्रु हो सकते थे जो अकारण ही भलाई करनेवाले के साथ शत्रुता का व्यवहार करते हैं। क्योंकि खलों को दुश्चरित्र रूप और अनैतिक मर्यादाओं का उल्लंघन करने वाले और 'हरिहर' के विरोधी कहा गया है अतः यह अनुमान हो सकता है कि इस प्रकार के दुष्ट लोग भक्त तुलसीदास का विरोध करते रहे होंगे। कुछ यह भी ध्वनि निकलती है कि उनमें से कुछ तुलसी के प्रति द्वेष-भावना से प्रेरित थे। (१।८।५ - ६) —

> हँसिहहिं कूर कुटिल कुविचारी। जे पर दूषन भूषन धारी।
> निज कवित्त केहि लाग न नीका। सरस होउ अथवा अति फीका।
> जे पर भनिति सुनत हरषाहीं। ते बर पुरुष बहुत जग नाहीं।

इस पर भी तुलसी अपने दोषों को स्वीकार करते हैं, और सच्ची विनय प्रकट करते हैं। रघुवंश के प्रथम सर्ग में कालिदास की विनयपरिपाटी के अनुसार है, पर तुलसी की विनय अधिक सच्ची है (१।८।२-५)—

> निज बुधि बल भरोस मोहि नाहीं। ताते बिनय करउँ सब पाहीं।
> करन चहउं रघुपति गुनगाहा। लघु मति मोरि चरित अवगाहा।
> सूझ न एकउ अंग उपाऊ। मन मति रंक मनोरथ राऊ।
> मति अति नीचि ऊंचि रुचि आछी। चहिय अमिय जग जुरइ न छाछी।

छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई। सुनिहहिं बाल बचन मन लाई।
जो बालक कह तोतरि बाता। सुनहिं मुदित मन पितु अरु माता॥

रामचरितमानस के लेखक के मन में इस बात की बहुत ग्लानि है कि उनकी बुद्धि की क्षमता बहुत थोड़ी है और उनके विषय का प्रकर्ष महान् है। किंतु उनकी संमति में विषय की यह उच्चता ही उनके काव्य को मूल्यवान बनाती है। राम का यशवर्णन ही इसका उद्देश्य है और इसलिये सज्जन राम नाम के यश को इसमें देखकर प्रसन्न होंगे। जो असज्जन हैं, वे भले ही हँसें, तुलसी को उसकी चिंता नहीं (१।९।३ - दोहा १०।१)—

प्रभुपद प्रीति न सामुझि नीकी। तिन्हई कथा सुनि लागिहि फीकी॥
हरिहर पद रति मति न कुतरकी। तिन्ह कहुँ मधुर कथा रघुबर की॥ ३॥
राम भगति भूषित जियँ जानी। सुनिहहिं सुजन सराहि सुबानी॥
कवि न होउँ नहिं बचन प्रबीनू। सकल कला सब बिद्या हीनू॥ ४॥
भाव भेद रस भेद अपारा। कवित दोष गुन बिबिध प्रकारा॥ ५॥
कवित बिबेक एक नहिं मोरे। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे॥ ६॥
भनिति मोरि सब गुन रहित बिस्व बिदित गुन एक।
सो बिचारि सुनिहहिं सुमति जिन्ह के बिमल बिबेक॥ ९॥
एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा॥

इस कथन में भक्ति से उत्पन्न होनेवाली काव्य प्रतिभा के संबंध में कुछ विचित्र विचार पाए जाते हैं। कवि उसे भगवान को समर्पित कर देना चाहता है, अथवा वह अपनी कृति को बिलकुल ही व्यर्थ मानता।

तुलसी ऐसे कुटिलता भरे युग में लिख रहे हैं, जब लोग बाहर से हंस और भीतर से कौवे के समान आचरण करते हैं। सच्ची भक्ति विरल है, सब जगह द्वेष फैला हुआ है। और तुलसी अपने आप को भी उस युग के प्रभाव से बाहर नहीं समझते (१।१२।४ - ६)—

तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी। धींग धरमध्वज धंधक धोरी॥ २॥
जो अपने अवगुन सब कहऊं। बाढ़इ कथा पार नहिं लहऊं॥
ताते मैं अति अलप बखाने। थोरे महुँ जानिहहिं सयाने॥ ३॥
समुझि बिबिध बिधि बिनती मोरी। कोउ न कथा सुनि देइहि खोरी।
एतेहु पर करिहहिं जे असंका। मोहि ते अधिक ते जड़ मतिरंका॥ ४॥
कवि न होउं नहिं चतुर कहावउँ। मति अनुरूप राम गुन गावउँ।

इसमें केवल लकीर पीटने की बात नहीं है, वरन् कहीं अधिक गंभीरता है। निश्चय ही सच्ची भक्ति और भगवान् की सर्वोपरि महिमा की जाग्रत अनुभूति से ही इस प्रकार की अतिशय नम्रता की व्याख्या किसी अंश में की जा सकती है। किंतु उसका कारण लेखक का आत्मनिरीक्षण भी हो सकता है, जिसका यश अभी तक स्थिर न हुआ था और जो लोगों की संमति को चुनौती देने की तैयारी कर रहा था। ऐसा अनुभव होता है जैसे तुलसी निंदा के लिये तैयार कितने ही शत्रुओं से घिरे हों—अथवा कट्टरपन में प्रसन्न होनेवाले ब्राह्मण, भाषा कविता से द्वेष करनेवाले पंडित, धर्म अर्थात भक्ति के शत्रु जिन्हें राम कथा में कोई रस न था ऐसे लेखक, और आलंकारिक जो संस्कृत काव्यशास्त्र की जटिलताओं से गर्वित थे, जिनके विषय में तुलसी अपना अज्ञान स्वीकार करते हैं, और अंत में उस प्रकार के तुक्कड़ जो सच्चे कवि को देखते

ही उसकी टांग लेने के लिए लपकते हैं। इस प्रकार के व्यक्तियों ने जैसे उन्हें घेर रखा था। अतएव तुलसी सब ओर से अपनी रक्षा का प्रबंध करते हैं, कुछ को समझाकर और कुछ को प्रसन्न करके। और सबसे ऊपर वे अपने प्रयत्न का अपनी सच्ची नम्रता द्वारा समर्थन करते हैं, इस नम्रता में आत्मसंमान को छोड़ा नहीं गया है, और इसमें उन द्वेष करनेवालों के प्रति कुछ व्यंग्य भी है, जो दूसरों के दोषों को अपना भूषण मान लेते हैं।

अपनी इस क्षमायाचना में तुलसी कहते हैं कि मैं न कवि हूँ (कवि न होउँ) और न चतुर प्रसिद्ध हूँ (नहिं चतुर कहावउँ) और कविता के विभिन्न नियमों से भी अनभिज्ञ हूँ।[१०] ये कथन बहुत ही अपूर्व है। यह संभव नहीं कि वे इतने अज्ञ थे जितना कहते हैं। जिस ढंग से वे काव्य के अंगों की चर्चा करते हैं, उससे ही उनका कथन विपरीत सिद्ध हो जाता है। उनकी यह असत्यता रामचरितमानस के उन स्थलों से, जिनमें बढ़ा हुआ सौंदर्य और पर्याप्त मात्रा में अलंकारादि भी हैं, अन्यथा प्रमाणित होता है। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि तुलसी उस कथन से यह सूचित कर रहे थे कि वे अपने काव्य को साहित्य के पचड़ों में नहीं बांधना चाहते। क्योंकि यह काव्य जनता के लिये था, जिसका उद्देश्य बुद्धि का कुतूहल नहीं, वरन् रामभक्तों के चित्त को संतुष्ट करना था। दूसरे शब्दों में इस आमुख के पूर्वार्द्ध में तुलसी ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि वे उसी विषय पर दूसरा काव्य रचकर अपने से पूर्वकाल के महाकवि वाल्मीकि के साथ स्पर्धा करना नहीं चाहते थे। जब वे अपना कवि होना अस्वीकार करते हैं, तो संभवतः वे 'कवि' शब्द का सीमित अर्थ 'विद्वान या काव्य विशेषज्ञ' लेते हैं जो कि संस्कृत के विशेषण कवि शब्द (क्रांतदर्शी, प्रज्ञावान) का अर्थ था। वे अपने ग्रंथ को कभी काव्य नहीं कहते वरन् उसके लिये अपेक्षाकृत कम गौरवपूर्ण एक साधारण सा शब्द कवित्त या कविता, प्रयुक्त करते हैं। उदाहरण के लिये दसवें दोहे के छंद में तुलसी का कथन है कि राम की महिमा ने उनकी भद्दी कविता की नदी को (क्रूर कविता) को पवित्र गंगा के समान बना दिया है।

अपने विरोधियों से इस प्रकार अपने ग्रंथ की रक्षा करके फिर अपने से पूर्ववर्ती महाकवियों का ऋण स्वीकार करते हैं, जिससे उनका कार्य सरल हो गया है—

मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई। तेहिं मग चलत सुगम मोहि भाई।
अति अपार जे सरितवर जौं नृप सेतु कराहिं।
चढि पिपीलिकउ परम लघु बिनु श्रम पारहि जाहिं।

एहि प्रकार बल मनहिं देखाई। करिहउँ रघुपति कथा सुहाई॥
ब्यास आदि कवि पुंगव नाना। जिन्ह सादर हरि सुजस बखाना॥
चरन कमल बंदउँ तिन्ह केरे। पुरवहुं सकल मनोरथ मेरे॥

वेद, महाभारत और पुराणों के कल्पित कर्ता व्यास एवं वाल्मीकि महान और देवकल्प पूर्वज थे, जिन्होंने तुलसी के समान लघु पिपीलिका के लिये मार्ग बनाया था। उनके बाद रामचरितमानस के कर्ता ने अपने से तुरत पूर्व में होनेवाले कलियुग के कवियों का उल्लेख किया है—

१०. इसी प्रकार की बात पार्वती मंगल की भूमिका में कही गई है।

कलि के कबिन्ह करउँ परनामा। जिन्ह बरने रघुपति गुन ग्रामा॥
जे प्राकृत कवि परम सयाने। भाषा जिन्ह हरि चरित बखाने॥
भए जे अहहिं जे होइहहिं आगें। प्रनवउं सबहिं कपट सब त्यागें॥
होहु प्रसन्न देहु बरदानू। साधु समाज भनिति सनमानू॥

वे प्राकृत अर्थात् केवल मानवीय कवि जिन्होंने भाषा में हरिचरित का बखान किया था, तुलसी से तुरंत पूर्व में हुए थे या उनके समकालीन ही थे, यह उल्लेख इतना अनिश्चित है कि उनकी पहचान के विषय में इससे कल्पना करना उचित नहीं। यह भी ज्ञात नहीं कि उन्होंने किस भाषा में लिखा था और उनका भी संबंध राम से था या नहीं। 'हरि' विष्णु का ही पर्याय है, और हरि का गुणगान करने वालों में कृष्णचरित के कवि भी आ जाते हैं, जिनमें तुलसी के समसामयिक सूर सबसे प्रसिद्ध हैं। यदि तुलसी ने उन प्राकृत कवियों के समूह का उल्लेख करने की सावधानी बरती है, तो इसीलिये कि वे किसी को भी विस्मृत करना नहीं चाहते थे। किंतु वे उनका कोई ऋण स्वीकार नहीं करते, केवल उनके प्रति संमान और प्रेम प्रकट करते हैं और उनकी श्रेणी में संमिलित होना चाहते हैं, जिससे उनकी कविता को भी, यद्यपि वह भद्दी है, साधुसमाज में अर्थात् हरिभक्तों में संमान प्राप्त हो—

करहु कृपा हरि जस कहउँ पुनि पुनि करउँ निहोर। (१४ ख)।

प्राकृत कवियों के विषय का कथन १४ वें छंद के दूसरे दोहे पर समाप्त हो जाता है। पर वह छंद बहुत ही लंबा है। उसमें ९ चौपाई, ३ दोहे और ३ सोरठे और एक और दोहा अर्थात् कुल ३६ अर्धाली हैं जब कि आमुख के दूसरे अधिकतया लंबे छंदों में ३६ अर्धालियों से अधिक नहीं हैं।

इस छंद के तीसरे दोहे से विचारधारा कुछ विच्छिन्न जान पड़ती है। तुलसी पुनः कवि और मुनियों के विषय में कहने लगते हैं और राम के चरित्ररूपी मानसरोवर के सुंदर हंसों से उनकी तुलना करते हैं। यह संकेत 'रामचरितमानस', इस नाम की ओर जान पड़ता पड़ता है, यद्यपि इस नाम का उल्लेख और व्याख्या अब तक कहीं आई नहीं है। इसका उल्लेख और व्याख्या तो छंद २४ में आमुख के उत्तरार्ध में आएगी।

१४वें छंद के पहले सोरठे में वाल्मीकि की पुनः वंदना है—

बंदउँ मुनिपद कंज रामायन जेहिं निरमयउ।
सखर सुकोमल मंजु दोष रहित दूषन सहित॥ (१४ घ)॥

यह भी अप्रत्याशित है, क्योंकि वाल्मीकि और रामायण का उल्लेख पहले ही वंदनाप्रसंग में आ चुका है। और वाल्मीकि की गणना तो उन प्रसिद्ध 'मुनियों' और 'कविपुंगवों' में हो ही जाएगी जिन्होंने हरिचरित का गान किया है और जिनका उल्लेख १३ वें छंद में और १४ वें छंद की पहली चौपाई में अभी हो चुका है। वाल्मीकि के पुनः उल्लेख का तुलसी के पास कोई कारण ज्ञात नहीं होता, सिवाय इसके कि उन्होंने आशा के विपरीत रामायण के संबंध में अपनी सूक्ष्म कल्पना के अनुसार ढाली हुई एक पंक्ति से परिचित कराना आवश्यक समझा हो। इस पंक्ति में उन्होंने कहा है कि रामायण सुकोमल (करुण रस से पूर्ण) और सखर (कठोर, भयंकर और खर नामक राक्षस के सहित) है एवं साथ ही 'दोष रहित' और 'दूषन सहित' (दोष से मुक्त

क्योंकि राम कथा के आरंभ में ही राम के अन्यायपूर्ण वनगमन की कथा आती है)।[११] यहाँ तुलसी ने सच्चे कवि की वाक्चातुरी का परिचय दिया है। ऐसे वैदग्ध्यपूर्ण स्थलों से तुलसी के पहले कथन का खंडन होता है और आमुख के इस भाग की सीधी सरल शैली से उसका मेल भी नहीं बैठता।

चौदहवें छंद का दूसरा सोरठा वेदों की वंदना करता है, जो संसार सागर से तरने के लिये बोहित के समान है। तीसरे सोरठे में तुलसी ने ब्रह्मा का स्मरण किया है, जो भवसागर का निर्माण करने वाले हैं और जिनसे अमृत, चंद्रमा और कामधेनु के समान एवम् विष और वारुणी के समान रत्न उत्पन्न हुए हैं। ब्रह्मा का उल्लेख वंदना के प्रसंगों में नहीं आया। किंतु छंद संख्या छह में प्रसंग से जड़-चेतन और गुण-दोषों के कर्ता के रूप में उनका उल्लेख आ गया है। यदि कवि उनकी वंदना करना चाहता, तो इतनी देर तक ठहरने की क्या आवश्यकता थी। शायद जो बात वे पहले भूल गए थे, उसका वे सुधार यहाँ कर रहे हैं। किंतु अनुमानतः यह एक नए अलंकार से काव्य को सजाने के लिये ही है जिसमें संसार रूपी सागर की तुलना सुविदित क्षीरसागर के मंथन के साथ की गई है। इसके विपरीत इसी छंद के अंतिम दोहे में श्लेष या अलंकार नहीं है। किंतु उसमें पूर्वकथित दूसरे छंद के दूसरे दोहे में सीधे सादे ढंग से कही गई प्रार्थना की ही पुनरावृत्ति है।

इस विश्लेषण से विदित होता है कि चौदहवें छंद की अंतिम दस अर्धालियाँ प्रस्तुत छंद से ठीक मेल नहीं खातीं। जिन विशेषताओं की ओर हमने अभी ध्यान दिलाया है वे इस कल्पना को जन्म देती हैं कि ये दस पंक्तियाँ छंद की रचना के बाद उसमें जोड़ी गईं। संभवतः उसी समय जब कथामुख का उत्तरार्ध रचा गया। मूल में चौदहवें छंद में छह चौपाई और दो दोहों से अधिक न थे।

कथामुख का पूर्वार्ध जैसा कि हम देख चुके हैं मुख्यतः क्षमायाचनापरक है। फिर भी धार्मिक कल्पनाओं का उसमें अभाव नहीं है। कवि ने अपने धार्मिक विचार विषयांतर के रूप में परंतु बहुत ही स्वाभाविक रीति से आत्मीय शैली में व्यक्त किए हैं—

सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहे बिनु रहा न कोई॥
तहाँ बेद अस कारन राखा। भजन प्रभाउ भाँति बहु भाखा॥
एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा॥
व्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहिं धरि देह चरित कृत नाना॥
सो केवल भगतन्ह हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी॥
जेहि जन पर ममता अति छोहू। जेहि करुना करि कीन्ह न कोहू॥
गई बहोर गरीब नेवाजू। सरल सबल साहिब रघुराजू॥

इस प्रकार का शक्तिशाली ईश्वरवाद भक्तिमार्ग के अनुयायी के सर्वथा योग्य है। भागवतों के समान तुलसीदास उस ईश्वर की उपासना करते हैं जो पुरुष रूप में सगुण और निर्गुण रूप रूप में अगम अगोचर हैं, जिसने अपने भक्तों की प्रीति से मानव शरीर धारण किया है और जिसका सबसे बड़ा गुण दया है।

११. दूषन सहित का अर्थ 'दूषण' नामक राक्षस से युक्त भी है।

ऐसे ईश्वर को वे राम कहते हैं और उसे दशरथ के पुत्र रामकथा वाले राम से अभिन्न मानते हैं। किंतु यह रोचक है कि इस स्थल में तुलसी ने अरबी फारसी के शब्दों को वेदांत और भागवत की शब्दावली के साथ कितने सहज रूप में मिला दिया है। गरीब नेवाज़ू, साहिब, ये शब्द रामचरितमानस में बहुत कम प्रयुक्त हुए हैं। ये कथामुख के इस भाग में और अयोध्या कांड में आए हैं, अन्य कांडों में नहीं[१२]। यहाँ इनका प्रयोग निश्चित उद्देश्य से किया गया है। वे लेखक के मन की समन्वयात्मक प्रवृत्ति के सूचक हैं। और राम भक्ति के मत को व्यापक स्वरूप में ढालने की आकांक्षा को व्यक्त करते हैं।

मानव शरीर में अवतार लेनेवाले ईश्वर राम की वेदांत के विश्वव्यापी ब्रह्म से अभिन्नता दार्शनिक प्रश्नों से संबंधित है, जिनपर तुलसी ने आमुख में विचार नहीं किया। फिर भी उसमें सगुण और निर्गुण ब्रह्म के मानने वालों के विवाद की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। सब संदेहों की निवृत्ति और आपत्तियों के निराकरण की इच्छा से तुलसी ने इन दो विरोधी मतों में एक प्रकार का समन्वय बैठाने का प्रयत्न किया है, जिसमें उन्होंने राम के नाम को ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों रूपों से ऊपर रखा है।

राम नाम की महिमा में आठ छंद कहे गए हैं, जिनमें दोहे चौपाइयों की संख्या और क्रम व्यवस्थित है। सबसे पहले नाम को मंत्रों का राजा (महामंत्र) कहा गया है। कवि ने उस मंत्र के चमत्कारों का उल्लेख किया है और उसके चमत्कारी अक्षरों के पुण्य प्रभाव का वर्णन किया है, जिन्हें कवि ने वेदों का सार कहा है। उसके बाद कवि नाम और रूप की वेदांतगत मान्यता के विषय में अपनी व्याख्या देते हैं। उनका कहना है कि रूप नाम से छोटा है, क्योंकि नाम के द्वारा ही रूप का परिचय होता है, उसके विपरीत नहीं। पर इस रहस्यात्मक प्रक्रिया पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया—

> नाम रूप गति अकथ कहानी, समुझत सुखद न परति बखानी।
> अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी, उभय प्रबोधक चतुर दुभाखी।
>
> राम नाम मनि दीप धरु, जीह देहरी द्वार।
> तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजियार॥

पुनः राम के नाम की सहायता से ही योगी अपना लक्ष्य प्राप्त करता है और नाम रूप से अतीत परब्रह्म के साथ एक हो जाता है। नाम के द्वारा ही वह सिद्धि और गंभीर रहस्यों का ज्ञान प्राप्त करता है। सब भक्तों में नाम का जप करनेवाले राम को प्यारे हैं। नाम की अद्भुत महिमा तो है ही, यह भी कहा गया है कि राम नाम विभिन्न दार्शनिक मतों में समन्वय स्थापित कर सकता है (१।२३।१)—

> अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा।
> मोरे मत बड़ नाम दुहूँ ते। किए जेहिं जुग निज बस निज बूते॥

१२. गरीब (अरबी - गरीब) कथामुख में तीन बार, अन्यत्र रामचरित मानस में कहीं नहीं।
नेवाज़ू (फारसी नेवाज़) कथामुख में दो बार और अयोध्याकांड में दो बार।
साहिब (अरबी साहिब) कथामुख में दो बार और अयोध्याकांड में कई बार और शेष काव्य में कहीं नहीं।

प्रौढ़ि सुजन जनि जानहिं जन की। कहउँ प्रतीति प्रीति रुचि मन की।
एकु दारुगत देखिअ एकू। पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू।
उभय अगम जुग सुगम नाम तें। कहेऊ नामु बड़ ब्रह्म राम तें।
ब्यापकु एकु ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँद रासी।
अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी।
नाम निरूपन नाम जतन तें। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें।

निरगुन तें एहि भाँति बड़ नाम प्रभाउ अपार।
कहौं नामु बड़ राम तें निज बिचार अनुसार॥

यह एक विचित्र प्रकार का विषयांतर है। इसमें तुलसी ईश्वर के विविध रूपों की समस्या पर विचार कर रहे हैं और उसे इस प्रकार सुलझाने का प्रयत्न कर रहे हैं, जो कि उनका व्यक्तिगत दृष्टिकोण ज्ञात होता है। निर्गुण और सगुण की खाई को पाटने के लिये राम का नाम सेतु के समान कल्पित किया गया है, पर यह कुछ कमजोर कड़ी है और हम कवि को अपना मत प्रकट करते हुए कुछ सावधान सा पाते हैं। वे 'मोरे मत' कहकर उसे निजी संमति के रूप में आगे रखते हैं। तुलसी के मत में नाम सब जीवों के लिये और विशेषतः मानव के लिये ईश्वरी तत्त्व की अभिव्यक्ति है। इस कलियुग में नाम ही वह तत्त्व है जिसे मनुष्य ईश्वर के ग्राह्य अंश के रूप में आत्मसात्कर सकते हैं। अतएव उनके लिये केवल नाम ही मुक्ति का साधन है और उसीका उनके लिये मूल्य है। रामकथा जिसमें राम की महिमा कही गई है, राम के अवतार का कलियुग में वर्णन करती है और मोक्ष के साधन को आगे बढ़ाती है।

इस महिमावर्णन का विषय केवल राम का नाम ज्ञात होता है। किंतु जैसा आगे आता है, यह कहा गया है कि राम को केवल दशरथ का पुत्र ही नहीं समझना चाहिए। छंद २५ के अंतिम दोहे में नाम को राम या ब्रह्म से भी बड़ा कहा गया है। उसके बाद के छंद में तुलसी ने शिव एवं शुकदेव, सनत्कुमार एवं नारद आदि ऋषियों का उनमें परिगणन किया है, जिन्होंने नाम के द्वारा परम सुख प्राप्त किया। उन्होंने प्रहलाद, ध्रुव और अजामिल जैसे निष्ठावान् साधुओं का भी उल्लेख किया है (१।२६।२-४)—

नाम जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भगत सिरोमनि भे प्रहलादू।
ध्रुवँ सगलानि जपेउ हरि नाऊं। पायउ अचल अनूपम ठाऊं।
सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू।
अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ। भए मुकुत हरिनाम प्रभाऊ।
कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई।

सब युगों में नाम मुक्ति का निश्चित साधन है, पर कलियुग में तो एक मात्र नाम ही है-

नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू॥ (१।२७।४)

तुलसी की युक्ति का सार इस प्रकार है। ब्रह्म का सच्चा स्वरूप जैसा कि सब वेदों में कहा है, अगम अगोचर है। राम स्वयं जो ईश्वर के अवतार और सब जीवों के लिये भक्ति के विषय हैं, उसी प्रकार दुष्प्राप्य हैं, क्योंकि वे प्रत्येक त्रेतायुग में अवतार लेते हैं, अतएव कलियुग में अर्थात् इस समय के मनुष्य जिसे प्राप्त कर सकते हैं, वह उनका नाम और कथा ही है। अतएव राम का नाम और रामकथा ही वर्तमान युग में मनुष्यों के लिये मुक्ति का एकमात्र साधन रह जाता है। अतः राम नाम के जप या रामकथा के श्रवण का सबसे अधिक महत्त्व

है। इस विषय में दृढ़ोक्ति के साथ तुलसी का मत शाक्तों के दृष्टिकोण से कुछ कुछ मिलता है जो केवल मात्र ब्रह्म या परमतत्व की शक्ति में विश्वास करते हैं और उस तत्त्व को निष्क्रिय और निर्गुण मानकर अलग छोड़ देते हैं।

इसी प्रकार जब तुलसी राम के नाम को निर्गुण ब्रह्म से भी ऊपर अधिक महान् और स्वयं राम से भी अधिक मानते हैं, तो इसका कारण नाम की विलक्षण सक्रियता ही है। तुलसी की दृष्टि में नाम राम की शक्ति है।

और भी कुछ बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। तुलसीदास की दृष्टि में ब्रह्म, उपनिषदों का परमतत्व, निर्गुण है और ईश्वर अवतार रूप में सगुण है। किंतु ईश्वर का सगुणरूप जो भक्ति के योग्य है दशरथ के पुत्र राम तक ही सीमित नहीं है। विष्णु या हरि के अवतार कृष्ण का भी वही रूप है। एक सीमित अर्थ में राम दशरथ के पुत्र का नाम है जो रामायण के नायक हैं। किंतु व्यापक अर्थ में राम परब्रह्म के सगुण रूप या अवतार हैं जिन्हें भगवान् या देहधारी ईश्वर माना जाता है। इसी कारण इस प्रसंग में प्रह्लाद, ध्रुव, अजामिल, गज का उल्लेख है, जो विष्णु या कृष्ण के भक्त थे और जिनकी कथाएँ भागवत पुराण में दी हुई है।[८] कहा गया है कि इन व्यक्तियों को भगवान के नाम या हरि के नाम से मुक्ति मिली। हरि में राम और कृष्ण दोनों का अंतर्भाव है। आमुख में राम नाम की महिमा के प्रकरणों में कृष्ण का भी नाम आया है जो कि रामचरितमानस में बहुत ही कम स्थानों में आता है। तुलसी का कथन है कि राम - नाम के दो अक्षर रा - म जिह्वा को ऐसे प्रिय हैं जैसे यशोदा को हरि (कृष्ण) और बलराम। किंतु संपूर्ण आमुख में, जैसे अयोध्याकांड में, हरि से तात्पर्य ब्रह्म के सगुण रूप से है, अर्थात् वह देहधारी ईश्वर जो भक्तों का पूज्य है और जो ब्रह्मा, विष्णु और शिव, इन तीनों से ऊपर है। अतएव हरि और भी व्यापक अर्थ में राम का ही पर्याय है। इन दोनों को इस प्रकार पर्याय मानने का कारण स्पष्ट है। तुलसी की इच्छा थी कि राम - भक्ति - धारा का क्षेत्र विस्तृत हो और राममत में कृष्णमत का भी समावेश किया जा सके।

रामनाम की महिमा का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है (१।२५।१)—

राम सुकंठ बिभीषन दोऊ, राखे सरन जान सब कोऊ।
राम गरीब अनेक निवाजे, लोक वेद बर बिरिद बिराजे।

अरबी गरीब और पारसी निवाज (हिंदी रूप में) यहाँ जान कर रखे गए हैं। इस प्रकार के अनार्य प्राणी अधम और आर्य क्षेत्र से बहिर्भूत हैं जिन्हें राम कथा में बंदर या राक्षसों का रूप दिया गया है। जिस प्रकार राम के दर्शन से कपीश्वर सुग्रीव और राक्षस योनि में उत्पन्न विभीषण पवित्र हो गए वैसे ही राम के नाम ने उन जैसे सब जीवों को पवित्र कर दिया जो दुर्भाग्य से द्विज कोटि से बाहर उत्पन्न हुए हैं।

इस दृष्टि से इन दोनों विदेशी शब्दों का यहाँ प्रयोग विशेष अर्थ रखता है। नाम - धर्म की व्यापक महिमा ने भक्तिधर्म के उस उदार दृष्टिकोण में जो सामान्यतः उसकी विशेषता है और चार चाँद लगा दिए हैं।

८. प्रह्लाद ७।४ - ५ - ६, गज ८।२ - ३ - ४, ध्रुव ४।८ - ६ - १२, अजामिल ६।१ - २ - ३, पिंगला ११।८। इन्हीं व्यक्तियों का रामचरितमानस में कांड० ७।१३० छंद १ में पुनः वर्णन है।

आमुख से यह भी प्रकट होता है कि तुलसी की दृष्टि में शिव का कितना उच्च स्थान था। शिव को अन्य सब देवताओं से ऊपर संमान दिया गया है। आरंभ के श्लोक में कहा गया है कि शिव और उनकी शक्ति के बिना सिद्ध लोग अपने अंतःकरण में स्थित भगवान का दर्शन नहीं कर सकते। गुरु को भी, जिन्हें तुलसी इतना पूजनीय समझते हैं, शिव का अवतार माना गया है। हरिहर के रूप में विष्णु और शिव दोनों का साहचर्य है, और साधु लोग दोनों की ही उपासना करते हैं, जब कि राम कथा से द्वेष करने वाले खल हरि - हर - रूपी चंद्रमा के लिये राहु के समान कहे गए हैं।

आमुख में जैसा कि रामचरितमानस में अन्यत्र भी, शिव और पार्वती को राम का महान भक्त कहा गया है — दोनों ही राम के नाम का जप करते हैं। यही वह महामंत्र है जिसका शिव, काशी में मृत्यु को प्राप्त होनेवालों के कान में तारक या मोक्षदायक मंत्र की तरह उच्चारण करते हैं। शिव स्वयं ही इस मंत्र के कर्ता हैं, क्योंकि मूलरामायण के शतकोटि श्लोकों में से इसी दो अक्षर के मंत्र को उन्होंने चुन लिया था।

राम के परम भक्त होने के अतिरिक्त शिव आगमों के प्रकट करनेवाले हैं। आगमों का अर्थ तंत्र है जिन्हें तुलसी 'श्रुति' रूप में अत्यंत प्रमाण मानते हैं। आमुख में उनका उल्लेख किया गया है (१।१५।२-३)—

गुरु पितु मातु महेस भवानी। प्रनवउँ दीन बंधु दिन दानी।
सेवक स्वामि सखा सिय पी के। हित निरुपधि सब विधि तुलसी के।
कलि बिलोकि जग हित हर गिरिजा। साबर मंत्र जाल जिन्ह सिरजा।
अनमिल आखर अरथ न जापू। प्रगट प्रभाउ महेस प्रतापू।

अतएव तुलसी को तंत्र साहित्य का पता था और वे उनके मंत्रों की अद्भुत शक्ति को भी मानते थे। किंतु इतने ही से यह न समझना चाहिए कि तुलसी ने रामचरितमानस के निर्माण में उस प्रकार के साहित्य से कोई सीधी सहायता ली थी, अथवा उन्हें वाम मार्ग के शाक्त मतों से कोई सहानुभूति थी, जिनमें एकमात्र इस प्रकार के साहित्य का उल्लेख आता है। तथ्य तो यह है कि रामचरितमानस के कुछ स्थलों में तुलसी ने शाक्तों के आचारों के विषय में अरुचि प्रकट की है। कोई इतना मान सकता है कि तुलसी ने अपने कथानक को शिव - पार्वती के संवाद रूप में बाँधने का भाव तंत्रों से ग्रहण किया। किंतु कथाबंध की यह प्रणाली अध्यात्म रामायण और दूसरे सांप्रदायिक ग्रंथों में भी पहले से थी, जहाँ से तुलसी ने उसे लिया होगा।

शिव - पार्वती संवाद का कोई उल्लेख आमुख के पूर्वार्द्ध में नहीं है, यद्यपि रामचरितमानस का एक अंश इस संवाद की पृष्ठभूमि में कहा गया है। तुलसी ने शिव की बड़ाई करते हुए उन्हें राम का परम भक्त माना है। उन्होंने अपने आपको शिव की शरण में रखते हुए राम कथा के वर्णन में सफलता की प्राप्ति के लिये उनके वरदान या कृपा की प्रार्थना की है। पर वे यह कहीं नहीं कहते कि शिव ही राम कथा के आदि कर्ता या प्रथम वक्ता हैं। इसके विपरीत सब प्रकार से यही प्रतीत होता है कि अपनी कथा की रचना का सारा दायित्व स्वयं तुलसी का ही है। यह तो इस बात से ही प्रकट है कि कितने श्रम से कवि ने क्षमायाचना द्वारा अपनी रक्षा का प्रयत्न किया है और यह कहा है कि यह कथा श्रुति और स्मृति दोनों से संमत है।

कोई कह सकता है कि शिव पार्वती संवाद एक साहित्यिक युक्ति मात्र है। चाहे शिव का नाम इसमें आवे या न आवे, पाठक को कोई भ्रांति नहीं हो सकती, क्योंकि रामचरितमानस किसी अज्ञात रचयिता का ग्रंथ नहीं है। किंतु यदि यह मान लिया जाय कि रामकथा के वक्ता के रूप में शिव का कोई विशेष महत्त्व नहीं है तो भी यह तो ज्ञात होता ही है कि आरंभ से ही शिव को इस कथा में यह स्थान प्राप्त था। किंतु आमुख के पूर्वार्द्ध में एक ओर जहाँ शिव का कई बार नाम लिया गया है और उन्हें कथा का कर्त्ता या वक्ता नहीं कहा गया वहाँ तुलसी ने स्वयं अपने लिये यह घोषणा की है कि वे रामकथा कहने जा रहे हैं जिसमें वे शिव पार्वती संवाद की कोई चर्चा नहीं करते।

कथामुख के प्रथम भाग में रामचरितमानस, इस नाम के विषय में भी कुछ नहीं कहा गया। छंद चौदह के दोहा तीन में जो बाद में जोड़ा गया जान पड़ता है, कवि ने अन्य कोविदों को रामचरित रूपी मानसरोवर का हंस कहा है, पर वहाँ तक काव्य का यह नाम कहीं नहीं आया। सर्वत्र उसे भणिति, गाथा या चरित कहा है। आमुख के उत्तरार्द्ध में छंद पैंतीस तक पहुँचकर ग्रंथ का विशेष नाम रामचरितमानस और उसके पौराणिक उद्भव की कुछ व्याख्या की गई है।

आमुख का उत्तरार्द्ध

छंद ३० – ४३

आमुख के पूर्वार्द्ध में जिसका ऊपर विश्लेषण किया गया है, तुलसी ने चार बार कथा के आरंभ करने का उल्लेख किया है —

१ - वर्तमान काल में	संस्कृत वंदना में	आतनोति
२ - वर्तमान काल में	बरनति रामचरित	(२।१)
३ - भविष्यत् काल में	करिहऊँ रघुपति कथा	(१४।१)
४ - वर्तमान काल में	बरनउँ रघुवर बिसद जसु	(२६ दोहा ३)

अंतिम वर्तमान काल आसन्न भविष्य के लिये है, अर्थात् मैं राम के विशद यश का वर्णन करने ही वाला हूँ।

अतएव कथा का आरंभ तुरंत बाद तीसवें छंद में होने की आशा थी। पर वस्तुतः वह बहुत बाद में चौवालिसवें छंद में होता है। २६ और ४४वें छंद के बीच में एक लंबा व्यवधान है जो ऊपर कहे हुए संदर्भ से बिलकुल नहीं मिलता। उस अंश में एक प्रकार का दूसरा आमुख पाया जाता है, जो पहले से बहुत बातों में भिन्न है।

छंद तीस में एक दम से ऋषि याज्ञवल्क्य और उनके श्रोता ऋषि भारद्वाज का परिचय मिलता है—

जागबलिक जो कथा सुहाई, भरद्वाज मुनिबरहिं सुनाई।
कहिहउँ सोइ संवाद बखानी, सुनहुँ सकल सज्जन सुखु मानी।

इसमें क्रिया का काल बदल गया है। इसमें वह वर्तमान (अर्थात् आसन्न भविष्य) नहीं है, जैसा पहली पंक्तियों में है, वरन् भविष्य है। वस्तुतः दोनों ऋषियों का संवाद छंद ४७ से आरंभ होगा। इस बीच में तुलसी अपनी कथा की उत्पत्ति बताने लगते हैं (१।३०।२ दोहा १)—

संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा।
सोइ शिव कागभुसुंडिहि दीन्हा। रामभगत अधिकारी चीन्हा।
तेहि सन जागबलिक पुनि पावा। तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा।
ते श्रोता बकता समसीला। सब दरसी जानहिं हरि लीला।
जानहिं तीनि काल निज ग्याना। करतल गत आमलक समाना।
औरउ जे हरि भगत सुजाना। कहहिं सुनहिं समुझहिं बिधि नाना।

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत।

यहाँ तुलसी ने राम कथा के काल्पनिक वक्ताओं का उल्लेख किया है। क्रमानुसार उनके नाम ये हैं–शिव, भुशुंडि और याज्ञवल्क्य। स्पष्ट ही शिव को इस चरित का कर्ता कहा गया है।

तथ्य यह है, जैसा हम देखेंगे, कि ग्रंथके अधिकांश भाग में अर्थात् बालकांड के अंतिम भाग और संपूर्ण अयोध्याकांड में इन तीनों में से एक भी वक्ता का उल्लेख नहीं आता, और कवि स्वयं अपनी कथा के वक्ता हैं। किंतु रामचरितमानस के अवशिष्ट भाग में इनमें से किसी न किसी वक्ता का नाम ठहर ठहर कर आता रहता है।

इस स्थल से यह अनुमान करना सुसंगत है कि यह कथा चार संवादों के रूप में चली आती थी, अर्थात् शिव - पार्वती, शिव - भुशुंडि, भुशुंडि - याज्ञवल्क्य और अंत में याज्ञवल्क्य - भारद्वाज। किंतु इन चार संवादोंमें से केवल पहले दो और चौथे का ही रामचरितमानसमें वर्णन आया है। आमुख में इस स्थल के अतिरिक्त और कहीं भी न तो यह कहा गया है और न इसकी कोई ध्वनि है कि शिव ने इस कथा को भुशुंडि से कहा था या भुशुंडि ने याज्ञवल्क्य से। वक्ता के रूप में भुशुंडि और याज्ञवल्क्य परस्पर स्वतंत्र विदित होते हैं, शिव और भुशुंडि पर निर्भर नहीं। कांड ३ से ६ तक शिव और भुशुंडि क्रम से वक्ता के रूप में आते हैं, किंतु उनमें से कोई दूसरे की बात नहीं दोहराता। केवल सातवें कांड के अंत में शिव ने भुशुंडि का उल्लेख किया है, भुशुंडि ने शिव का कहीं नहीं। अतएव आमुख का उक्त उल्लेख समस्त ग्रंथ से अन्यथा सिद्ध हो जाता है और ग्रंथ के तथ्यों से मेल नहीं खाता।

तुलसी अपने पाठकों को सूचित करते हैं कि उन्होंने यह कथा अपने गुरु से सूकरखेत में सुनी थी, पर पहले उनकी समझ में नहीं आई, क्योंकि वे उस समय इतने मूढ़ और विषयासक्त थे कि उस गूढ़ रामकथा का जिसके श्रोता वक्ता ज्ञाननिधि थे। समझ पाना उनके लिए संभव न था। तुलसी ने जो कथा सूकर खेत में सुनी थी वह वाल्मीकि कृत कथा नहीं हो सकती थी। वह कोई ऐसी रामायण थी, जिसके रचयिता शिव कहे जाते थे और जिसके वक्ता पौराणिक पुरुष थे और जिसके द्वारा किसी अध्यात्म तत्त्व का उपदेश देने का दावा था। संभवतः यह कथा संस्कृत में थी, क्योंकि तुलसी उसे भाषा में करना चाहते हैं (१।३१।१)—

भाषाबद्ध करब मैं सोई।

रामकथा की उत्पत्ति के विषय में इस प्रकार की व्याख्या की उससे संगति नहीं बैठती जो आमुख के पूर्वार्द्ध में कहा गया है। क्योंकि यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि इस काव्य का उद्भव इसी स्रोत से हुआ था, तो तुलसी का दायित्व बहुत कुछ कम हो जाता है और उनकी लंबी क्षमायाचना अर्थहीन हो जाती है।

छंद तीस में एक नया विचार रामकथा की अनंतता के विषय में है। शिव को अग्रस्थान देने पर भी यह कहा गया है कि सब वक्ता समान हैं, और कवि का यह भी कहना है कि कुछ

और भी ऋषि हैं, जिन्होंने इसी कथा को 'अनेक प्रकार से' (विधि नाना) कहा है। रामकथा के वर्तमान रूपों और अन्य रूपों में जो भेद पाए जाएं, उन्हें परस्पर विरोधी नहीं मानना चाहिए। वे सभी रूप एक समान 'सत्य' हैं, क्योंकि ऐसे मुनियों ने उन्हें कहा है जो सब एक समान हरि लीला के विज्ञ और सूक्ष्म दृष्टि युक्त थे। आगे तुलसी ने अपने पाठकों को यह चेतावनी दी है (१।३३।२ दोहा — ३४।१)—

जेहिं यह कथा सुनी नहिं होई। जनि आचरजु करै सुनि सोई॥
कथा अलौकिक सुनहिं जे ग्यानी। नहिं आचरजु करहिं अस जानी॥
रामकथा कै मिति जग नाहीं। असि प्रतीति तिन्ह के मनमाहीं॥
नाना भाँति राम अवतारा। रामायन सत कोटि अपारा॥
कलप भेद हरि चरित सुहाए। भांति अनेक मुनीसन्ह गाए॥
करिअ न संसय अस उर आनी। सुनिअ कथा सादर रतिमानी॥

राम अनंत अनंत गुन, अमित कथा विस्तार।
सुनि आचरजु न मानिहहिं, जिन्ह कें विमल विचार॥

एहि विधि सब संसय करि दूरी। सिर धरि गुरुपद पंकज धूरी॥
पुनि सबहीं विनवउँ कर जोरी। करत कथा जेहि लाग न खोरी॥

राम के अवतारों की अनेकता और उसके कारण रामायण की अमितता का भाव रामावत संप्रदाय में भागवत धर्म से लिया गया जान पड़ता है। भागवत के अनुसार कृष्ण प्रत्येक कल्प में अवतार लेते हैं और नरचरित करते हैं जो उनकी माया को लीला या क्रीड़ा है। रामकथा की अनंतता में विश्वास अधिकांश मध्यकालीन रामायणों में पाया जाता है। जैसे योगवाशिष्ठ, अध्यात्मरामायण, अद्भुतरामायण, आनंदरामायण, संभवतः भुशुंडिरामायण में भी। अद्भुतरामायण वाल्मीकिरामायण की परिशिष्ट या आठवाँ कांड कही जाती है। कहा जाता है कि महर्षि वाल्मीकि ने दो रामायणें बनाई थीं। एक देवताओं के लिये सौ करोड़ श्लोकों की, दूसरी चौबीस हजार श्लोकों की मनुष्यों के लिये, जो कि वर्तमानवाल्मीकि रामायण है। अद्भुतरामायण पहली का एक अंश होने का दावा करती है, जैसा कि उसमें लिखा है।

अध्यात्मरामायण को भी किसी अपरिमित समग्र ग्रंथ का एक छोटा सा अंश कहा जाता है। पहले अध्याय में ब्रह्मा नारद से कहते हैं (प्रस्तावना श्लोक ४६ - ४७) —

'रामगीता की महिमा का पूरा ज्ञान केवल शंकर को है, पार्वती केवल उसका आधा भाग जानती हैं और मैं उस आधे का आधा जानता हूँ। मैं तुम्हें उसका एक अंश सुनाऊँगा, पूरे का वर्णन नहीं हो सकता।'

रामकथा की अनंतता और रामअवतारों की अनेकता एक दूसरे से पृथक नहीं की जा सकती, अतएव अध्यात्मरामायण में सीता राम से बन चलने का आग्रह करती हुई यह अकाट्य युक्ति देती हैं (२।४।७६) —

'मैं तुमसे और भी यह कहूँगी, जिसे जानकर तुम्हें मुझे वन में ले चलना चाहिए। बहुत से ब्राह्मणों ने अनेकों रामायणें सुनी हैं। कब और कहाँ राम सीता के बिना वन में गए हैं, मुझे बताइए।'

अतएव हम देखते हैं कि तुलसी ने आमुख के इस भाग में भागवतपुराण और सांप्रदायिक रामायणों का दृष्टिकोण ग्रहण किया है। बालकांड के पूर्वार्ध में और उत्तरकांड में राम-

कथा और राम के अवतारों की अनंतता के विषय में उसी प्रकार के कथन हैं। पर शेष काव्य में कहीं ऐसा नहीं मिलता। उन्हीं भागों में हम देखते हैं कि राम के चरित को लीला कहा गया है और संप्रदायप्राप्त रामायणों का उन पर स्पष्ट प्रभाव है।

अपने पाठकों को इस प्रकार आश्वस्त करके और पहले से ही उनकी शंकाओं का निराकरण करके तुलसी ने अपने काव्य की निश्चित तिथि और समय बताया है (१।३४।२ - ३)।

संवत सोरह सै एकतीसा। करउँ कथा हरिपद धरि सीसा।
नौमी भौमवार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा।
जेहि दिन रामजनम श्रुति गावहिं। तीरथ सकल तहाँ चलि आवहिं।

उस शुभ दिन सब संत तथा देवता अयोध्या में आते हैं, जिससे उसकी पवित्रता और भी बढ़ जाती है (१।३५।३)।

सब विधि पुरी मनोहर जानी। सकल सिद्धिप्रद मंगल खानी।
विमल कथा कर कीन्ह अरंभा। सुनत नसाहिं काम मद दंभा।

अपने काव्य के नाम की इस प्रकार व्याख्या करके तुलसी कहते हैं —

कहउँ कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई॥ —(१,३५,७)

यह चौपाई जिसमें 'रामचरितमानस' की रचना के संबंध में निश्चित सूचना दी हुई है, अपनी व्याख्या के विषय में एक समस्या उत्पन्न करती है। यदि सब टीकाकारों के साथ हम भी यह मानें कि छंद ३४ की अर्धाली ३, ४ मिलकर एक तिथि सूचित करती है, तो मानना पड़ेगा कि तुलसी ने अपना काव्य सं० १६३१ (१५७४ ई०) में चैत महीना की नवमी को जिस दिन मंगल था, लिखना शुरू किया था। पर जैकोबी और ग्रियर्सन की गणना के अनुसार सं० १६३१ में चैत की नवमी के दिन बुधवार था, मंगल नहीं।

इस विरोध को मिटाने के लिये ग्रियर्सन का सुझाव है कि चांद्रगणना और दूसरी प्रचलित गणना में अंतर था।[९]

माताप्रसाद गुप्त ने इस कठिनाई का दूसरा हल सुझाया है।[१०] उनका कहना है कि छंद के पहले अनुच्छेद में (छंद ३४ अर्धाली १–४) क्रिताएँ वर्तमान काल की हैं। (बरनउ करउ)। इसके विरुद्ध दूसरे अनुच्छेद में क्रियाएँ भूतकाल की हैं (प्रकासा, कीन्हा)। तीसरे अनुच्छेद में (छंद ३५ अर्धाली ७ - १३) क्रिया फिर वर्तमान काल में है (कहउ)। इससे वे यह यथार्थ परिणाम निकालते हैं कि दूसरा अनुच्छेद (छंद १४, अर्धाली १ - ६) राम नवमी को नहीं लिखा गया होगा, क्योंकि उस दशा में छंद ३४ अर्धाली ६ में 'जेहि दिन' के स्थान पर 'आज' होना चाहिए था। इसी प्रकार वह दूसरा अनुच्छेद अयोध्या में नहीं लिखा गया होगा, क्योंकि उसका संकेत निकटवाची 'यहाँ' से न करके दूरवाची 'वहाँ' से किया गया है।

इस कठिनाई को सुलझाने के लिये उन्होंने एक सुझाव दिया है। उनका कहना है कि दूसरा अनुच्छेद उस समय नहीं लिखा गया जब पहले और तीसरे लिखे गए, वरन् बहुत

९. नोट्स आन तुलसीदास, इंडियन एंटिक्वेरी २२।८६।
१०. रायल एसियाटिक सोसाइटी की पत्रिका, १९३५, ४।७७७।

बाद में लिखा गया जब कवि अयोध्या से चले आए थे और उनके ग्रंथ का अधिकांश भाग लिखा जा चुका था। वैसी हालत में दिन की गड़बड़ी (बुद्ध की जगह मंगल) कवि की विस्मृति के कारण हुई होगी, क्योंकि उस घटना को बहुत समय बीत चुका था। संक्षेप में माताप्रसाद जी का मत इस प्रकार है —

'तुलसीदास ने पहला और तीसरा अनुच्छेद अयोध्या में सं० १६३१ की रामनवमी को लिखा। उसी समय उन्होंने संवत् का उल्लेख कर दिया था, पर मास और दिन या स्थान का उल्लेख नहीं किया। कुछ वर्ष बाद उन्होंने महीने की तिथि और स्थान का उल्लेख जोड़ कर उस भूल का सुधार कर दिया। पर अब उन्हें उस विषय में ठीक स्मृति न रही थी इसीलिये दिन लिखने में भूल हुई।'

यह कल्पना संभाव्य नहीं जान पड़ती। इस प्रकार तिथि और दिन का छूट जाना बहुत कम संभव है। इसके अतिरिक्त उक्त चौपाइयों में घटाने बढ़ाने का कोई चिह्न नहीं मिलता। सारा अंश एक साथ लिखा गया जान पड़ता है। यदि हम मूल की और गहराई से समीक्षा करें तो पता चलता है कि छंद ३४ की अर्धाली ४ - ५ जो दो अलग अलग चौपाइयों के अंतर्गत हैं मिलकर एक ही तिथि सूचित नहीं करतीं, क्योंकि दोनों पंक्तियों में क्रिया के काल भिन्न भिन्न है। अतएव संवत् १६३१ जिसमें कवि ने आमुख का वह अंश लिखा है और रामचरितमानस नामक ग्रंथ के आरंभ करने की सूचना दी है, वही वर्ष नहीं था जब उसने रामकथा लिखना आरंभ किया था। हमारी संमति में रामचरितमानस ग्रंथ और कवि द्वारा रामकथा के आरंभ करने के वर्ष भिन्न भिन्न थे। तुलसी ने उक्त अर्धालियों वाला अंश सं० १६३१ में लिखा, पर अयोध्या और रामनौमी वाले अंश का स्मरण तब किया जब पहले पहल रामकथा लिखना आरंभ किया था। इसमें आश्चर्य नहीं कि वह स्थान और वह दिन उनकी स्मृति में छप गया था, उन्हें सप्ताह का दिन मंगल भी याद था। पर उस पहले वर्ष का उल्लेख उन्होंने नहीं किया, अन्यथा उन्हें दो तारीखें देनी पड़तीं जो कि कुछ अटपटा लगता। अतएव हम निम्नलिखित परिणाम पर पहुँचते हैं। तुलसी ने अयोध्या में राम का चरित सं० १६३१ से पहले किसी वर्ष में लिखना शुरू कर दिया था। पर संवत् १६३१ में उन्होंने रामचरितमानस अर्थात् शिव के मानस में जो रहस्यात्मक कथा थी उसे आरंभ किया। उस समय रामचरित का महत्वपूर्ण भाग वे लिख चुके थे, और प्रथम लिखित अंश को उन्होंने अपने बड़े ग्रंथ में संमिलित कर लिया। जब वे अपने काव्य के लिये प्रस्तावना लिखने लगे (आमुख का उत्तरार्ध) तो तुलसी ने सावधानी से इस बात का स्मरण किया कि किस शुभ स्थान और किस शुभ दिन में उन्होंने रामचरित लिखा था जो संवत् १६३१ में संघटित किए जानेवाले रामचरितमानस का अंश बन गया। इस कल्पना की संभावना इस बात से और भी बढ़ जाती है कि काव्य का बीच का भाग जिसमें तुलसी ही वक्ता हैं पहले लिखा जा चुका था। और ग्रंथ का अवशिष्ट अंश एवन् आमुख का उत्तरार्ध बाद में लिखा गया।[११] संवत् के साथ काव्य का भी इस प्रकार उल्लेख किया गया है —

रामचरितमानस एहि नामा। सुनत स्रवन पाइय विश्रामा॥
मन करि विषय अनल बन जरई। होई सुखी जो यहिं सर परई॥ (१।३५।५ - ७)

तुलसी ने उस नाम के कारण और महत्व पर भी प्रकाश डाला है।

११. परिच्छेद ७ – ४ अयोध्याकांड का पूर्व लेखन।

रामचरितमानस मुनि भावन। बिरचेउ संभु सुहावन पावन।
त्रिविध दोष दुख दारिद दावन। कलि कुचालि कुल धनुष नसावन।
रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाखा।
ताते रामचरित मानस वर। धरेउँ नाम हियँ हेरि हरषि हर।
कहौं कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई।

यहाँ नाम रामचरित के कर्ता के रूप में शिव की करनी से संबंधित बताया गया है। उसका आधार मानस के श्लेषपरक दो अर्थों पर है। एक मन और दूसरा मानसरोवर। अतएव मानसरोवर का अर्थ समझा जा सकता है 'राम के चरित का मानस अर्थात् मानसरोवर' या अंतरात्मा। मानस शब्द पर इस प्रकार का श्लेष तीसरे कांड में दो बार [12] और सातवें कांड में कई बार आया है पर वहां काव्य के नाम का संकेत नहीं है। इसी प्रकार (१।१४६) में स्वायंभुव मनु ने राम की स्तुति करते हुए उन्हें भुशुंडि के मनरूपी मानसरोवर का हंस कहा है (जो भुसुंडि मन मानस हंसा)। वस्तुतः हिंदी रामायण में 'रामचरितमानस' नाम का उल्लेख आश्चर्यजनक रूप से विरल है। आमुख के ऊपर लिखे स्थल के अतिरिक्त वह केवल दो बार और आया है। एक तो बालकांड के छंद १२० के एक अतिरिक्त सोरठे में जहाँ भुशुंडि को रामचरितमानस का वक्ता कहा गया है, और दूसरे सातवें कांड के भुशुंडिचरित में जहां लोमश ऋषि कागभुशुंडि को रामचरितमानस सुनाते हैं। हो सकता है कि तुलसी ने यह नाम वहीं से लिया हो जहां से सातवें कांड के भुशुंडिचरित की सामग्री ली थी। कुछ भी हो वह नाम रामकथा के वक्ता भुशुंडि से जान पड़ता है। यह संभव है कि अपने ग्रंथ का यह नाम रखने का विचार तुलसी को कुछ बाद में आया हो। [13]

इस प्रकार रामचरित मानस की दिव्य उत्पत्ति और नाम की सार्थकता बताकर कवि पुनः वर्तमानकाल में (कहउं) अपनी कथा के आरंभ की घोषणा करता है, जिससे यह आशा हुई थी कि शिव-पार्वती-संवाद का आरंभ होगा। पर वस्तुतः वह संवाद बहुत बाद में छंद १०५ पर आता है। एक दूसरे आकस्मिक विचार को बीच में रखते हुए तुलसी बताते है कि उनके काव्य के साथ रामचरितमानस नाम की संगति किस प्रकार है। पर जो कुछ कहा गया है उसमें नाम की व्याख्या कम है और ग्रंथ की मानसरोवर के साथ अलंकारात्मक और प्रतीकात्मक तुलना हम अधिक देखते हैं। यहाँ कवि में आमुख के पूर्वार्ध की अपेक्षा आत्मविश्वास की मात्रा कहीं अधिक है (११३६।१)—

संभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी। रामचरितमानस कवि तुलसी।

शिव की कृपा से तुलसी के हृदय में सुमति (काव्य स्फूर्ति) जाग्रत हुई है और वह रामचरितमानस का कवि हो गया।

पर दूसरा अर्थ भी संभव है और हम समझते हैं वही अधिक संभाव्य है—

शिव की कृपा धन्य है जिससे तुलसी के हृदय में स्फूर्ति उत्पन्न हुई और रामचरितमानस धन्य है, जिससे तुलसी कवि बन गया।

१२. ३।८।१ ११।४।
१३. परिच्छेद १४, २ रामचरितमानस की रचना।

उस मानस के वर्णन में आमुख का शेषांश अर्थात् आठ छंद प्रयुक्त हुए हैं। इस विचित्र वर्णन को ठीक ठीक सारांश कहना उपयुक्त नहीं होगा। फिर भी यह निश्चित है कि बाद में लिखकर कवि ने अपने ग्रंथ की सौंदर्यपरक विशेषताओं और उससे मिलनेवाले आध्यात्मिक लाभों की ओर संकेत किया है (१।३६।२ दोहा ३७।१ – ४)—

सुमति भूमि थल हृदय अगाधू, बेद पुरान उदधि घन साधू।
बरषहिं राम सुजस बर बारी, मधुर मनोहर मंगलकारी।
लीला सगुण जो कहहिं बखानी, सोइ स्वच्छता करइ मल हानी।
प्रेम भगति जो बरनि न जाई, सोइ मधुरता सुसीतलताई।
सो जल सुकृत सालि हित होई, राम भगत जन जीवन सोई।
मेघा महि गत सो जल पावन, सकिलि स्रवन मग चलेउ सुहावन।
भरेउ सुमानस सुथल थिराना, सुखद सीत रुचि चारु चिराना।

सुठि संदर संबाद बर बिरचे बुद्धि विचारु।
तेइ एहि पावन सुभग सर घाट मनोहर चारु॥

सप्त प्रबंध सुभग सोपाना। ज्ञान नयन निरषत मनमाना॥
रघुपति महिमा अगुन अबाधा। बरनव सोई बर बारि अगाधा॥
राम सीय जस सलिल सुधा सम। उपमा बीचि बिलास मनोरम॥
पुरइन सघन चारु चौपाई। जुगुति मंजु मनि सीप सुहाई॥
छंद सोरठा सुंदर दोहा। सोइ बहुरंग कमल कुल सोहा॥
अरथ अनूप सुभाव सुभासा। सोइ पराग मकरंद सुबासा॥
सुकृत पुंज मंजुल अलि माला। ज्ञान बिराग विचार मराला॥
धुनि अवरेव कवित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहु भांती॥

कवि ने कुछ भी विवरण पाठकों के सोचने के लिये नहीं छोड़ा। सुकृती साधुओं और रामनाम के गुणों की जलपक्षियों से तुलना की गई है। भक्ति के अनेक विधान वृक्षों के समान कहे गए हैं, जिनमें शम, दम और नियम के फूल फूलते हैं और ज्ञान के फल लगते हैं। एवम् अनेक प्रसंग और उपकथाएँ उन वृक्षों पर कलरव करनेवाले 'शुकपिक' के समान हैं, जो इस कथा को गाते या सुनते हैं। वे इस मानस के रखवाले अधिकारी हैं। उसके विपरीत जो विषयों में डूबे हुए हैं वे उन बगुलों और कौवों के समान हैं जो इस सर के निकट नहीं आते (१।३९।५ – ६)—

अस मानस मानस चप चाही। भइ कवि बुद्धि विमल अवगाही॥
भएउ हृदय आनंद उछाहू। उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रवाहू॥
चली सुमग कविता सरिता सो। राम विमल जस जल भरिता सो॥

कथा के प्रत्येक भाग की तुलना उस मानस के किसी न किसी भाग से की गई है। काव्य के मुख्य भागों को छह ऋतुओं के समान माना है। शिव-पार्वती-विवाह हेमंत है। राम के जन्म का आनंद शिशिर है। राम का विवाह वसंत है। राम का वन गमन निर्मम ग्रीष्म है। राक्षसों से घोर युद्ध वर्षा है। राम का सुखी राज्य सुंदर शरद ऋतु है। यह विचित्र है कि कवि अपनी विनय और दीनता का भी उल्लेख करता है जो कि आमुख के पूर्वार्ध में वर्णित है। उसका कहना है कि मेरी यह दीनता ही उस मानस के जल का हल्कापन (ललित लघुता) है।

उस स्थल के अंत में भूतकाल का प्रयोग इस वर्णन के बाद की रचना होने का समर्थन करता है (१।४३। दोहा १)—

मति अनुहारि सुबारि गुन गन गनि मन अन्हवाइ।
सुमिरि भवानी संकरहिं कह कवि कथा सुहाइ ॥

यह लंबा संदर्भ कई कारणों से आश्चर्यजनक है। इसमें रामचरितमानस का वर्णन ग्रंथ के रूप में उतना नहीं जितना नीति या धर्मप्रधान काव्य के रूप में है जिसमें गंभीर संवाद, दार्शनिक विचार ही मुख्य विषय हैं। कथात्मक भाग के बीच की उपकथा और आख्यानों को शुकपिक के समान कहा गया है। इस प्रकार का वर्णन सांप्रदायिक रामायणों के सदृश ज्ञान या अध्यात्मप्रधान ग्रंथों के लिये अधिक चरितार्थ होता है। संपूर्ण हिंदी रामायण के लिये यह इतना उपयुक्त नहीं है जितना केवल उसके कुछ अंशों के लिये, विशेषतः सातवें कांड के लिये जिसका अंतिम भाग (कागभुशुंडिसंवाद) सांप्रदायिक रामायण के ढंग पर निर्मित हुआ है।

उन संवादों का उल्लेख जो उस मानस के चार घाट हैं, स्पष्ट नहीं है। वे कौन से संवाद हैं ? रामकथा के पात्रों में जो पारस्परिक संवाद हुए हैं उनसे तो तात्पर्य हो नहीं सकता क्योंकि इस प्रकार के कथनोपकथन बहुत से हैं और उन्हें उस प्रकार के घाट नहीं माना जा सकता जिनसे रामचरितमानस तक पहुँचा जाता है। स्पष्टतः इनका संकेत उन संवादों से होना चाहिए जो कथा के विभिन्न वक्ता-श्रोताओं के बीच हुए हैं। सब टीकाकारों ने संवादों को उसी अर्थ में समझा है पर उनकी पहचान करने में सबको कठिनता पड़ती है। शिव - पार्वती, याज्ञवल्क्य - भारद्वाज और भुशुंडि-गरुड़, इन तीनों संवादों के विषय में सब एक मत है, पर चौथा संवाद कौनसा लिया जाय ? किसी ने तुलसी और संतों के बीच में एक संवाद माना है, दूसरे ने राम और उनके भक्तों के बीच में, पर ऐसे सुझावों का कोई आधार नहीं है।

हमारी संमति में इस प्रश्न का समाधान हो सकता है, यदि हम सातवें कांड की विशेष रचना पर ध्यान दें। वस्तुतः रामचरितमानस में दो शिव-पार्वती-संवाद हैं, एक बालकांड में, दूसरा उत्तरकांड में। जैसा आगे विचार करेंगे तुलसी ने उन दोनों संवादों के संमिश्रण का प्रयत्न किया है जिससे वे भुशुंडि द्वारा कही रामायण को शिव द्वारा वर्णित रामायण के समकक्ष ला सकें।[१४] पर वस्तुतः बालकांड में शिव की वही स्थिति है जो प्रथम कांड में याज्ञवल्क्य की। पहले कांड में कथा के प्रथम वक्ता शिव हैं, सातवें कांड में वे भुशुंडि की अपेक्षा गौण हो जाते हैं। कांड एक और सात की रचना समान ढंग से हुई है। दोनों में एक संवाद और एक-एक उपसंवाद को नीचे ऊपर रखकर कांड का रूप खड़ा किया गया है। अतएव आमुख में चार संवादों का संकेत ग्रंथ के तथ्यों से पूर्णतः समन्वित होता है।

रामचरितमानस के आलंकारिक वर्णन में तुलसी ने अपने ग्रंथ के काव्यात्मक गुणों पर बल दिया है और यह बात कुछ आश्चर्यजनक है। क्योंकि आमुख के पूर्वार्ध में वे इससे कुछ अन्यथा कह चुके हैं। अब हम देखते हैं कि हिंदी रामायण का रचयिता अपने कवि होने की घोषणा करता है और उसका विचार है कि इस ग्रंथ में काव्य की सब आवश्यकताओं का

१४. परिच्छेद १३ ३, भुशुंडि द्वारा कथित रामायण।

निर्वाह किया गया है। विज्ञजन इसके छंद, चौपाई और दोहों के कारण एवम् ध्वनिवक्रोक्ति आदि कवित्वगुणों के कारण इसका रसपान करेंगे। तुलसी ने अपने ग्रंथ और अपनी शक्ति के बारे में पूर्व की अपेक्षा बिलकुल ही दूसरे प्रकार का विचार व्यक्त किया है। जो पहले भक्ति-प्रधान ग्रंथ था और सुखदायक होने पर भी काव्यगुणों के विषय में जिसका दावा न था, अब इस प्रकार का काव्य बन गया है जिसके विषय में उसके लेखक को गर्व है।

अंतिम विश्लेषण करते हुए प्रतीत होता है कि ऊपर के इस वर्णन का कोई अर्थ नहीं है, यदि हम सातवें कांड की रचना और विषय पर ध्यान दें जिसमें शिव नहीं वरन् भुशुंडि राम-कथा या रामचरितमानस के साक्षात् वक्ता हैं। उसी कांड में यह बताया गया है कि भुशुंडि की रामकथा का आरंभ रामचरित रूपी मानस के वर्णन से किया गया है—

रामचरित सर कहेसि बखानी, ७।६४।४।

भुशुंडि का वह वर्णन उसी प्रकार का रहा होगा जैसा तुलसी ने आमुख के उत्तरार्ध में दिया है। यहां और वहाँ दोनों का स्रोत एक ही रहा होगा।

रामचरितमानस के आमुख पर व्यापक दृष्टि

रामचरितमानस का आमुख विशेष रूप से जटिल है जैसा हमने अभी देखा, क्योंकि इसमें ग्रंथ की जटिलता का प्रतिनिधित्व है। उसका पूर्वार्ध (१ – २१) भाव सरलता के कारण विशिष्ट है , जिसमें कवि के निजी विचार और कहीं कहीं कथानक भी हैं और किसी प्रकार का काव्यात्मक ठाठ नहीं है। इसके द्वारा जिस वस्तु का आरंभ किया गया है वह स्वांतः सुखाय और सर्वशास्त्रसंमत तुलसी की विरचित रामकथा है।

उसमें रामचरित रूपी मानस या कथा के काल्पनिक वक्ताओं का कोई उल्लेख नहीं है। और न कथा की अनंतता या शिव-पार्वती-संवाद का उल्लेख है।

आमुख के पूर्वार्ध में कुछ शब्दगत विशेषताएँ भी हैं। 'हरि' शब्द का अर्थ कभी विष्णु लिया जाता है, जैसे हरिहर (विष्णु और शिव या विधि हरिहर — ब्रह्मा , विष्णु और शिव) शब्दों में। जब हरि शब्द का अकेले प्रयोग होता है तब वह राम का पर्यायवाची है और उसका अर्थ भगवान परब्रह्म या उपनिषदों का ब्रह्म आत्मतत्व है, जो कि ब्रह्मा, विष्णु और शिव से भी महान है। केवल एक स्थल में (२०–४) उसका अर्थ कृष्ण है। हरि· संज्ञक राम के मानवीय कर्मों को 'चरित' कहा गया है 'लीला' नहीं। अंत में धार्मिक शब्दावली के अंतर्गत 'गरीब नेवाजु' 'साहिब' जैसे अरबी फारसी के शब्द हैं जो कि आमुख के उस भाग में और अयोध्याकांड में ही आए है, शेष काव्य में अन्यत्र नहीं। इसमें धार्मिक अभिमत कुछ अस्पष्ट सा है। उसकी मुख्य विशेषता एक प्रकार का समन्वय है जो भागवत पुराण से लिया गया है पर जो उससे आगे बढ़कर कबीरपंथी कोटि तक पहुँच जाता है। जैसा विदित है गुरु की ईश्वररूप में कल्पना, ईश्वर के नामउच्चारण या जप की महिमा उसी पंथ की विशेषताएँ हैं। और भी, यद्यपि कबीर अवतारवाद को नहीं मानते, पर वे अपने ईश्वर को राम या हरि कहते हैं।

आमुख का उत्तरार्ध, पूर्वार्ध से भाव और रचना में भिन्न है और कई बातों में विरुद्ध भी। अब रामचरितमानस अर्थात् राम के चरितरूपी सरोवर का कवि परिचय देते हैं, जिसे मूलतः शिव ने पार्वती से कहा था और जो कई संवादों की परंपरा से तुलसी को प्राप्त हुआ है जैसे शिव, कागभुशुंडि, याज्ञवल्क्य-भारद्वाज की शृंखला, जिनकी शरण कवि ग्रहण करता है।

यह मानस अनेक कथाओं का भंडार है जो सब सत्य हैं और उस नित्यरामायण से उत्पन्न है जो शिव के मुख से प्रकट हुई थी। क्योंकि राम के अवतार अनेक हैं, उनकी कथा भी अनंत है। उनके नरचरित भागवत पुराण के कृष्ण के चरितों के समान उनकी माया की लीला या क्रीड़ा है।

ग्रंथ के इस भाग को समझने में कठिनाई होती है। संपूर्ण काव्य के साथ मिलान करने से और विशेषतः सातवें कांड से तुलना करने पर ही, जो यहाँ अवश्य विवक्षित है, इस प्रसंग को समझा जा सकता है। अतएव यह भाग सबसे अंत में लिखा गया होगा। वस्तुतः इसमें ग्रंथकर्ता ने अपने काव्य के विभिन्न भागों के पारस्परिक विरोधों को मिटाने का और उसे एकात्मकता का रूप प्रदान करने का भारी प्रयत्न किया है।

*

गुजरात की हिंदीसेवा

अंबाशंकर नागर

गुजरात शब्द का प्रयोग दो विभिन्न अर्थों में किया जाता है। एक अर्थ में आबू से दमणगंगा तक के प्रदेश को और दूसरे अर्थ में इससे भी अधिक विस्तृत और व्यापक सीमावाले गुजरातीभाषी प्रदेश को गुजरात कहा जाता है।

गुजरात की राजनीतिक सीमाएँ समय समय पर बदलती रही हैं। वर्तमान समय में उत्तर में आबू से लेकर दक्षिण में दमण गंगा तक और पश्चिम में द्वारका से लेकर पूर्व में दाहोद तक फैला हुआ प्रदेश गुजरात कहलाता है। इस प्रदेश की भाषा और लिपि गुजराती है। इस गुजरातीभाषी प्रदेश ने हिंदी भाषा और साहित्य के विकास में भी कुछ योग दिया है अथवा नहीं, इसका अनुसंधान और उद्घाटन ही इस निबंध का उद्देश्य है।

यहाँ हिंदीसाहित्य में 'हिंदी' शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में होता आया है। अपभ्रंश, डिंगल, अवहट्ट, व्रज, अवधी और खड़ी बोली आदि भाषाओं और उनके साहित्यों का समावेश हिंदी के अंतर्गत हो जाता है। हेमचंद्राचार्य, चंदवरदायी, विद्यापति, सूर, तुलसी और कबीर, क्रमशः उपर्युक्त विभिन्न भाषाओं के कवि हैं, फिर भी इन सबको हम हिंदी के कवि मानते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही कहा है कि 'हिंदी शब्द उतना एकरूपा भाषा के अर्थ में व्यवहृत नहीं होता जितना परंपरा के अर्थ में होता है।"[1]

इसलिये इस निबंध में भी हिंदी का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया गया है। सुविधा के लिये गुजराती कवियों द्वारा प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी, डिंगल, व्रज, अवधी और खड़ी बोली में लिखे ग्रंथों को हिंदी ग्रंथ माना गया है। वैसे कवि अथवा ग्रंथ का विवेचन करते समय भाषा विशेष का भी यथास्थान स्पष्ट निर्देश कर दिया गया है।

गुजरात एक अहिंदीभाषी प्रदेश है। हिंदीभाषी प्रदेश का विस्तार राजस्थान की पश्चिमी सीमा से लेकर विहार की पूर्वी सीमा तक और उत्तर प्रदेश की उत्तरी सीमा से मध्यप्रदेश के मध्य भाग तक माना जाता है।[2] इसके अतिरिक्त पंजाब, बंगाल, असम, गुजरात, महाराष्ट्र और दक्षिण भारत आदि शेष सभी प्रदेश अहिंदीभाषी प्रदेश कहे जाएँगे।

अब तक हिंदी भाषा और साहित्य का क्षेत्र हिंदीभाषी प्रदेश तक ही सीमित माना जाता रहा है। पर आगे चलकर जब अहिंदीभाषी प्रदेशों में प्रांतीय भाषाओं के अंचल में छिपे हुए हिंदी साहित्य की खोज की जायगी तब अनेक आश्चर्यजनक तथ्य प्रकाश में आएँगे और यह स्पष्ट हो जायगा कि हिंदी का प्रचार और प्रसार केवल हिंदीभाषी प्रदेश तक ही सीमित नहीं

१. हिंदी साहित्य, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रथम संस्करण, पृ० २।
२. वही, पृ० २।

था। हिंदी प्रारंभ से ही आंतरभाषा के रूप में विकसित हुई थी और उसका प्रचार और प्रसार भारतव्यापी था। महाराष्ट्र, पंजाब, बंगाल, गुजरात और दक्षिण भारत में आज से शताब्दियों पहले हिंदी का पर्याप्त प्रचार था। इन सभी प्रदेशों के सिद्धों, नाथों और संत कवियों ने हिंदी के चरणों में श्रद्धा और भक्ति के साथ काव्यप्रसून चढ़ाए हैं।

महाराष्ट्र—मराठी भाषा के आदिकवि ज्ञानेश्वर (सन् १२७६) की हिंदी रचनाएँ प्राप्त हैं। इनके अतिरिक्त निवृत्तिनाथ, सोपानदेव, भानुदास, सोहिरोबा, बयाबाई, दयाबाई, मुक्ताबाई, नामदेव, तुकाराम, एकनाथ, जनीजनार्दन, देवनाथ, देवदास आदि महाराष्ट्र के संतों ने भी मराठी में लिखने के साथ साथ हिंदी में कविता की है। महाराष्ट्र के राजाओं के आश्रय में भी हिंदी को फलने फूलने का पर्याप्त अवसर मिला। शिवाजी के पिता शाहूजी से लेकर बड़ौदा के श्रीमंत सयाजीराव गायकवाड़ पर्यंत मराठा राज्यों में हिंदी को सदैव संरक्षण प्राप्त रहा। शाहूजी, शिवाजी, महादजी सिंधिया और दौलतराव सिंधिया के दरबार में हिंदी के अनेक कवि रहते थे। महादजी और दौलतराव सिंधिया स्वयं भी हिंदी में अच्छी कविता कर लेते थे। आधुनिक युग में डा० भांडारकर, संगीतज्ञ पं० विष्णु दिगंबर तथा श्री भातखंडे, माधवराव सप्रे, बाबूराव पराड़कर, दत्तोवामन पोद्दार, प्रभाकर माचवे तथा श्री नेने जी के हाथों हिंदी की अच्छी सेवा हुई है।

पंजाब—हिंदी की व्यापकता के चिह्न पंजाब में स्पष्टतया देखे जा सकते हैं। सिक्ख गुरुओं ने हिंदी को जिस प्रेम से अपनाया, उसकी जितनी सराहना की जाए कम है। गुरुनानक, गुरु अंगद, गुरु अमरदास, गुरु रामदास, गुरु अर्जुनदेव, गुरु तेगबहादुर और गुरु गोविंदसिंह ने हिंदी की अनन्य सेवा की है। गुरु गोविंदसिंह संस्कृत, फारसी और हिंदी के अच्छे जानकार थे। उनके आश्रय में लगभग ५० वेतनभोगी हिंदीकवि रहते थे और उनके आदेशानुसार हिंदी में रचनाएँ करते थे। गुरु गोविंदसिंह ने स्वयं भी हिंदी में अनेक रचनाएँ की हैं। गोविंदसिंह जी के पश्चात आधुनिक युग में संतोषसिंह, संत गुलाबसिंह और ज्ञानी ज्ञानसिंह ने हिंदी में रचनाएँ करके पंजाब में हिंदी की परंपरा को जीवित रखा है।

बंगाल—भारत के पूर्वी छोर पर स्थित बंगाल और असम में भी हिंदी की परंपरा खोजी जा सकती है। विद्यापति, जयदेव, उमापति आदि की भाषा में हिंदी के प्राचीन रूप विद्यमान हैं। बंगाल और असम में वैष्णव भक्तों ने ब्रजबुलि (ब्रजभाषा) में कृष्णभक्ति की सुंदर रचनाएँ की हैं। राधावल्लभ, कृष्णदास, गोपाल भट्ट, परमानंद, माधो रघुनाथदास इत्यादि १६वीं शती ई० के बंगाली कवियों ने 'ब्रजबुलि' में सुंदर पद रचे हैं। वैष्णव कवियों के अतिरिक्त बंगाल के मुसलमान कवियों ने भी हिंदी की परंपरा को आगे बढ़ाया।

दक्षिण भारत—उत्तर भारत की भाषाओं में आपस में बहुत समानता है। बंगाल, गुजरात महाराष्ट्र, और पंजाब, के निवासियों द्वारा हिंदी आसानी से समझी जा सकती है। क्योंकि इनकी स्वभाषाओं में और हिंदी में बहुत साम्य है। दक्षिण भारत की भाषाएँ द्रविड परिवार की हैं। अतएव द्रविड भाषाभाषी क्षेत्रों में हिंदी आसानी से नहीं समझी जा सकती। इस भिन्नता के होते हुए भी दक्षिण भारत में हिंदी की परंपरा प्रचलित रही है। बीजापुर की आदिलशाही, गोलकुंडा की कुतुबशाही, बीदर की बरीदशाही, बरार की इमामशाही और अहमद नगर की निजामशाही रियासतों में हिंदी को अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। कुछ विद्वानों के मतानुसार इन रियासतों की भाषा उर्दू थी, पर बाबूराम सक्सेना ने इसे दक्खिनी

हिंदी कहा है और यह सिद्ध किया है कि हिंदीभाषा का विकास और उसमें साहित्यरचना का कार्य केवल उत्तरी भारत में नहीं हुआ है। दक्षिणभारत की रियासतों, उनके शासकों और साहित्यिकों का भी इसके निर्माण और विकास में महत्वपूर्ण हाथ रहा है।[3]

दक्खिनी के कवियों में हुसेनी, निजामी, कुली कुतुबशाह, इब्राहीम आदिलशाह, इब्न-निशाती गुलामअली, मुकीमी, नशरती, इशरती, इत्यादि कवियों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। न केवल इन मुसलमानी रियासतों में वरन् सुदूर दक्षिण में भी हिंदी की परंपरा के प्रमाण प्राप्त होते हैं। त्रावणकोर राज्य के महाराज 'गर्भश्रीमान' की हिंदी कविताएँ त्रावणकोर तक हिंदी के व्याप्त होने का प्रमाण हैं।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिंदी का प्रचार और प्रसार केवल हिंदी-भाषी क्षेत्रतक ही सीमित नहीं था। राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित होने से कितनी ही शताब्दियों पूर्व हिंदी समस्त भारत में समझी और बोली जाती थी। अहिंदीभाषी प्रदेशों में हिंदी की इस व्यापकता को देखकर आश्चर्य होना स्वाभाविक है।

अहिंदीभाषी प्रदेशों में हिंदी की व्यापकता के निम्नलिखित कारण हैं —

१. सांस्कृतिक, २. धार्मिक, ३. राजनैतिक, ४. साहित्यिक, ५. व्यापारिक तथा ६. राष्ट्रीय।

१. सांस्कृतिक

सांस्कृतिक दृष्टि से सारा भारत एक है। इस एकता को स्थापित करने में हमारे तीर्थ-स्थानों का विशेष हाथ रहा है। उत्तर में बदरीविशाल, दक्षिण में रामेश्वरम्, पश्चिम में द्वारका और पूर्व में कामाक्षा तक सारे देश में तीर्थों का जाल सा बिछा हुआ है। इन तीर्थों ने जाति, धर्म और प्रांतों की दूरी और पृथकता को हटाकर जहाँ विभिन्न धर्मों और प्रांतों के लोगों को एक दूसरे के निकट लाने में अभूतपूर्व योग दिया है, वहाँ विचारविनिमय के लिये एक सामान्य भाषा को भी पनपने का सुअवसर प्रदान किया है। देश के एक छोर से दूसरे छोर तक की यात्रा करनेवाले यात्रियों को विचारविनिमय और लेनदेन के लिये किसी एक भाषा का सहारा लेना ही पड़ता था और वह भाषा 'मध्यप्रदेश' की भाषा हिंदी थी। सर जार्ज ग्रियर्सन ने ठीक ही कहा है कि 'यह भाषा प्रारंभ से ही आंतरभाषा के रूप में विकसित हुई।'[४]

२. धार्मिक

धार्मिक आंदोलनों ने भी हिंदी के विकास में प्रशंसनीय योग दिया है। निर्गुण संतमत के कारण सधुक्कड़ी हिंदी और वल्लभ संप्रदाय के कारण ब्रजभाषा का जो प्रचार हुआ वह सुविदित है।

निर्गुण संतमत के प्रचारकों ने संस्कृत भाषासरणि को त्यागकर लोकभाषा हिंदी को अपनाया। कबीर ने संस्कृत को 'कूपजल' और भाषा को 'बहता नीर' कहा है। संत कवियों द्वारा हिंदी को अपनाने का कारण यह भी था कि उनका कार्यक्षेत्र किसी एक प्रांत तक सीमित

३. देखिए — दक्खिनी हिंदी, बाबूराम सक्सेना, प्रथम संस्करण, भूमिका।
४. लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया, खंड ६, पृ० ४४।

न होकर सार्वदेशिक था। इन रमते रामों ने अपनी वाणी में सभी प्रांतों की भाषाओं के व्यंजक और अनूठे शब्दों को स्थान दिया हैं। यही कारण हैं कि संतों की वाणी अपरिमार्जित होते हुए भी प्रभावोत्पादक और हृदय पर सीधा प्रभाव करनेवाली है।

संतसमागम से अहिंदीभाषी प्रदेशों में हिंदी का पर्याप्त प्रचार हुआ है। पंजाब के नानक और महाराष्ट्र के नामदेव इसी परंपरा की कड़ियाँ हैं। यदि हम इन संतों को हिंदी का आदि-प्रचारक कहें तो अत्युक्ति न होगी।

वल्लभ संप्रदाय के कारण ब्रजभाषा को जो महत्व प्राप्त हुआ वह सर्वविदित है। वैष्णव धर्म के साथ साथ ब्रजभाषा का कितना अटूट संबंध स्थापित हो गया था यह देशरत्न डा० राजेंद्रप्रसाद की निम्नलिखित पंक्तियों से स्पष्ट हो जायगा—

'ब्रजभाषा का तो उनको लीला के साथ इतना तादात्म्य स्थापित हो गया है कि इनके लीलागान से पृथक् भी इसका कोई अस्तित्व है, इसका ज्ञान केवल कुछ इनेगिने लोगों को ही होगा।'[५]

कृष्णभक्त कवि, चाहे किसी भी प्रांत के क्यों न हों, उन्हें अपने आराध्य का गुणगान ब्रजभाषा में किये बिना संतोष ही नहीं होता था। यही कारण है कि बंगाल, गुजरात, महाराष्ट्र आदि प्रदेशों के कवि भी स्वभाषा में रचनाएँ करने के साथ साथ ब्रजभाषा में भी रचनाएँ करते थे।

इसी प्रकार रामभक्त कवियों ने अवधी भाषा में अपने आराध्य का गुणगान किया है। पर अहिंदीभाषी प्रदेशों में ब्रजभाषा की तुलना में अवधी का प्रचार नहीं के बराबर रहा।

सूफी कवियों ने भी हिंदी के विकास में पर्याप्त योग दिया है। अपने धार्मिक सिद्धांतों का प्रचार करने के लिये सूफी संतों ने लोकभाषा को ही अपनाया था। हिंदी के सूफी संतों की अधिकतर रचनाएँ अवधी में हैं। पर गुजरात तथा दक्षिण भारत के सूफी संतों की वाणी सीधी-सादी खड़ी बोली में है। गुजरात तथा अन्य अहिंदीभाषी प्रदेशों में सूफीसंतों के कारण हिंदी का पर्याप्त प्रचार हुआ है। इस संबंध में गुजरात के सुप्रसिद्ध विद्वान स्व० डार का यह कथन उल्लेखनीय है — 'दरबार और लश्कर के मुकाबले में उर्दू (अर्थात् हिंदी) जबान का ताल्लुक ज्यादातर खानकाह से रहा है और इसकी तरक्की में बड़ा हिस्सा औलियाये करीम और सूफियों का है।'

३. राजनीतिक

राजनीतिक कारणों से भी भाषा का विकास या ह्रास होता है — यह तथ्य सुविदित है। राजाश्रय तथा अन्य अनुकूल परिस्थितियाँ पाकर भाषाएँ फलती-फूलती और समृद्ध होती हैं तथा विपरीत परिस्थितियों में पड़कर वे अपनी सौरभ - सुगंध गँवा बैठती हैं और शनैः शनैः मृतप्राय हो जाती हैं।

हिंदी का जन्म ही विपरीत परिस्थितियों में हुआ था। दिल्ली, कन्नौज और महोबा, ये तीन ऐसे हिंदू राज्य थे जिनके आश्रय में हिंदी जन्मी थी। पर सन् १२०० तक हिंदी के ये

५. साहित्य, शिक्षा और संस्कृति — डा० राजेंद्रप्रसाद।

संरक्षक राज्य हिंदू राजाओं के हाथ से निकल गए और हिंदी एक प्रकार से अनाथ बनकर रह गई। इसके पश्चात् ३०० वर्ष तक भारतवर्ष में तुर्कों का राज्य रहा। ये हिंदी के लिये दुर्दिन थे। मुगलों के हाथ में शासन की बागडोर आने पर हिंदी को एक बार फिर सजने संवरने और दरबारों में बैठने का अवसर मिला। मुगल दरबारों और राजाओं के रजवाड़ों में पुनः हिंदी-कवि संमानित होने लगे। मुगल शासक जहाँ भी गए राज्यभाषा के रूप में फारसी और बोलचाल के लिये हिंदी को साथ लेते गए। गुजरात और दक्षिण की मुसलिम रियासतों में हिंदीप्रचार का बहुत कुछ श्रेय इन मुगल शासकों को भी है।

४. साहित्यिक

हिंदी की व्यापकता का श्रेय उसके प्राणवान साहित्य को भी है। ब्रजभाषा और अवधी के लक्ष्य ग्रंथों की ओर अहिंदीभाषी लोगों का स्वाभाविक आकर्षण था। सूरसागर, रामचरितमानस और रीतिकाल के कवियों के रीतिग्रंथ सबके आकर्षण के केंद्र बने हुए थे। अहिंदीभाषी प्रदेश के लोग इन ग्रंथों का श्रद्धा और भक्ति के साथ अध्ययन और स्वभाषा में इस प्रकार के साहित्य का निर्माण करने का प्रयत्न भी करते थे।

ब्रजभाषा को अभी कुछ समय पहले तक साहित्यभाषा का पद प्राप्त था। सरलता, सुमधुरता, सुघड़ता और संगीतात्मकता इस भाषा की निजी विशेषताएँ थीं। यह भाषा काव्य और संगीत के लिए अत्यंत उपयुक्त थी। अहिंदीभाषी प्रदेश के कवि इस कारण भी अपनी प्रांतीय भाषाओं में रचनाएँ न करके ब्रजभाषा में रचना करने के लिये आकर्षित हुए थे।

५. व्यापारिक

लेनदेन और व्यापारव्यवहार के लिये एक सामान्य भाषा का होना अत्यंत आवश्यक है। उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक चारो धाम की यात्रा करनेवाले यात्रियों और उनसे व्यापार करनेवाले व्यापारियों को निःसंदेह किसी एक भाषा का सहारा लेना पड़ता होगा। कल्पना की जा सकती है कि वह भाषा हिंदी ही रही होगी। व्यापार के निमित्त भाषाएँ कैसे जन्म लेती हैं, इसका अच्छा उदाहरण उर्दू है। तुर्की भाषा में उर्दू 'छावनी' को कहते हैं। छावनी के निकट बोली जाने के कारण विदेशी सैनिकों और देशी दुकानदारों के बीच की मिलीजुली भाषा 'छावनीभाषा' या उर्दू कहलाई। वस्तुतः यह खड़ी बोली ही थी। इस खड़ी बोली का प्रचार मुगल शासन में उत्तर से दक्षिण तक हो गया था और लोग प्रायः इसके द्वारा लेनदेन और व्यापारव्यवहार करने लगे थे। विदेशों से व्यापार के लिये भारत का सिंहद्वार गुजरात था। सूरत और भड़ौच बड़े बंदरगाह थे। पाश्चात्य देशों से समस्त देश का व्यापार गुजरात के इन बंदरगाहों के द्वारा होता था। इन बंदरगाहों और व्यापार की मंडियों पर सामान्य भाषा के रूप में अवश्य ही कोई एक भाषा काम में ली जाती होगी। बहुत संभव है वह भाषा हिंदी ही रही हो। अंग्रेजों ने भी भारत आनेपर यहाँ की भाषा को सीखा, क्योंकि वे व्यापार के निमित्त आए थे। उनके कारण भी हिंदी की प्रगति हुई, इससे इनकार नहीं किया जा सकता।

६. राष्ट्रीय

आधुनिक युग में राष्ट्रीय भावनाओं के उदय के साथ हिंदी का पुनः भाग्योदय हुआ। सन् १८५७ के स्वाधीनता संग्राम के विफल हो जाने के पश्चात् विभिन्न प्रांतों के विचारकों को देश की एकता सुदृढ़ करने के लिये एक सामान्य भाषा की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। देश

के चोटी के विचारकों ने एकमत होकर हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने का निश्चय किया। परिणामस्वरूप हिंदीभाषा और नागरीलिपि का प्रचार करने के लिये 'नागरी प्रचारिणीसभा' (सन् १८९३) और हिंदी साहित्य संमेलन (१९१०) जैसी संस्थाओं का जन्म हुआ। गांधी जी के प्रयत्नों से सन् १९१८ में मद्रास में दक्षिण भारत हिंदीप्रचारसभा, १९२० में, अहमदाबाद में गुजरात विद्यापीठ और १९३६ में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा की स्थापना हुई। इन संस्थाओं ने तथा ऐसी अन्य संस्थाओं ने अहिंदीभाषी प्रदेशों में हिंदी का प्राणपण से प्रचार किया। परिणामस्वरूप भारतवर्ष के स्वतंत्र होने पर १४ सितंबर १९४९ को भारतीय संविधान ने नागरी लिपि में लिखी जानेवाली हिंदी को भारतीय संघ की राजभाषा घोषित किया।

अहिंदी भाषी प्रदेशों में हिंदी की व्यापकता और परंपरा का विहंगावलोकन तथा उसके कारणों पर विचार कर चुकने के पश्चात् अब हम इस परंपरा में गुजरात के योग पर विस्तार से विचार करेंगे।

गुजरातियों के हाथों हिंदी की विपुल सेवा हुई है। गुजरातियों ने एक ओर जहाँ हिंदी में ग्रंथ लिखकर हिंदी भाषा और साहित्य के विकास में योग दिया है वहाँ दूसरी ओर उन्होंने हिंदी का प्रचार करके उसे राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करने के लिये उत्कट प्रयत्न किए हैं। गुजरातियों की इस सेवा को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं — १. सर्जनात्मक और २. प्रचारात्मक।

गुजरात के जैन, वैष्णव, स्वामीनारायणी, संतमतावलंबी और सूफी कवियों ने हिंदी में रचनाएँ की हैं। इनके अतिरिक्त गुजरात के राजाओं, राजाश्रित कवियों और भाट-चारणों ने भी हिंदी में कविता की है। इन विभिन्न संप्रदायों के अनुयायियों तथा राजाश्रित कवियों की इस साहित्यसेवा को हम सर्जनात्मक कह सकते हैं।

राष्ट्रीय जागरण के साथ इस शताब्दी के प्रथम चरण में अन्य प्रांतों की भाँति गुजरात में भी राष्ट्रभाषा का प्रचारकार्य प्रारंभ हुआ। गुजरात में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा, हिंदुस्तानी प्रचार सभा वर्धा, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद और बंबई विद्यापीठ जैसी संस्थाओं ने हिंदीप्रचार का कार्य किया। इन संस्थाओं और इनके प्रचारकों द्वारा की गई हिंदी की सेवा को हम प्रचारात्मक सेवा कह सकते हैं।

अध्ययन की सुविधा के लिये सर्जनात्मक पक्ष को हम क्रमशः आठ भागों में विभाजित करेंगे।

१. प्राग्नरसिंह युग की भाषा और साहित्य

गुजराती भाषा और साहित्य के कितने ही इतिहास लेखकों ने नरसिंह मेहता (१६वीं शती ई०) को गुजराती का आदि कवि माना है। आज गुजराती भाषा जिस रूप में बोली या लिखी जाती है उस रूप का उच्चारणगत आदि रूप तो नरसिंह मेहता के समय से ही मिलता है, पर गुजराती भाषा का मूल रूप हेमचंद्राचार्य (१२वीं शती ई०) के समय के अपभ्रंशों में झलकने लगता है। इसलिये पंडित बेचरदास, केशवराम का० शास्त्री तथा अन्य गुजराती विद्वानों ने गुजराती भाषा का प्रारंभ हेमचंद्राचार्य से माना है।

हेमचंद्राचार्य से लेकर नरसिंह मेहता तक का साहित्य वस्तुतः अपभ्रंश साहित्य है। विद्वानों ने इस काल के साहित्य की भाषा को विभिन्न नाम दिए हैं। इस भाषा के लिये डा०

टेसीटरी ने 'प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी', श्री नरसिंह राव दिवेटिया ने 'गुर्जर अपभ्रंश', श्री केशवलाल ध्रुव ने 'प्राचीन गुजराती' तथा श्री उमाशंकर जोशी ने 'मरुगुर्जर' नाम सूचित किए हैं। आश्चर्य की बात तो यह है कि इसी साहित्य में से कुछ का समावेश राजस्थानी के अंतर्गत करके श्रीयुत मोतीलाल मेनारिया ने इसकी भाषा को 'प्राचीन राजस्थानी' और रामचंद्र शुक्ल और मिश्रबंधुओं ने 'प्राचीन हिंदी' कहा है।

वस्तुतः प्राग्नरसिंहयुग का साहित्य हिंदी, राजस्थानी और गुजराती का आदि साहित्य है। डा० टेसीटरी के कथनानुसार १६वीं शताब्दी तक गुजरात तथा राजस्थान में एक ही सामान्य भाषा का प्रचार था। इस भाषा से ही आगे चलकर गुजराती, राजस्थानी और पश्चिमी हिंदी का विकास हुआ।

१२वीं से १६वीं शती तक के गुजराती, राजस्थानी और हिंदी के इस सामान्य साहित्य का संक्षेप में विहंगावलोकन करके फिर हम नरसिंह मेहता से लेकर आज तक के गुजराती कवियों की हिंदी सेवा का विस्तार सहित वर्णन करेंगे।

प्राग्नरसिंह युग के साहित्य में हेमचंद्राचार्य से पूर्व का समस्त साहित्य अपभ्रंश साहित्य है। पाटण निवासी हेमचंद्राचार्य ने अपने 'सिद्ध हेमशब्दानुशासन' में जो लोकसाहित्य के उदाहरण दिए हैं उनसे ११वीं शती के आसपास बोली जानेवाली लोकभाषा के स्वरूप का पता चलता है। भाषा और साहित्य दोनों दृष्टियों से हेमचंद्राचार्य की साहित्यसाधना प्रशंसनीय है।

हेमचंद्राचार्य के अतिरिक्त वढवाण के जैनाचार्य मेरुतुंग ने १३०५ ई० में प्रबंधचिंतामणि की रचना की। इस कृति में भी मुंज, मृणाल और राणकदेवी से संबंधित अनेक अपभ्रंश दोहे हैं।

हेमचंद्राचार्य और मेरुतुंग के पश्चात् गुजरात के अनेक जैन कवियों ने रास, फाग और बारमासी साहित्य का निर्माण किया है।

रास—हिंदी का 'रासो' और गुजराती का 'रास' एक ही काव्यप्रकार है। गुजराती विद्वानों ने इसकी उत्पत्ति गेय उपरूपक 'रासक' से मानी है। मूल रूप में 'रासक', 'रासु' या 'रासो' संगीतप्रधान काव्य था, पर कालांतर में अपना स्वरूप बदलकर वह वार्ताप्रधान बन बैठा।

हिंदी साहित्य में भी इस युग में रासो लिखे जा रहे थे। गुजराती राससाहित्य की यह विशिष्टता रही कि उसके प्रणेता मुख्यतया जैन रहे और उन्होंने रासग्रंथों में राजाओं का गुणगान न करके धर्मपुरुषों और श्रावकों का चरित्रचित्रण किया। गुजरात के जैन कवियों ने विपुल रास साहित्य की रचना की है। इन रचनाओं में सालिभद्र सूरि कृत भरतेश्वर बाहुबलिरास (११८५ ई०), धर्म सूरि कृत जंबु सामिचरिय (१२१० ई०), जिनदत्त सूरिकृत रेवंत गिरि रासु और किसी अज्ञात कवि का १२७१ ई० में रचित सप्तक्षेत्रि रास साहित्यिक दृष्टि से महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं। इनके अतिरिक्त पेथडरास, कछुलीरास और समरारास भी ऐतिहासिक तथ्यों और भाषा की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है।

फागु(सं० फल्गु > प्रा० फग्गु > गुज० फागु > ब्रज फगुवा)—'फाग' या 'फागुकाव्य' रास का ही एक विशिष्ट प्रकार है, भेद केवल इतना है कि रास का आकार जहाँ महाकाव्य के जैसा होता है वहाँ फागुकाव्य एक छोटे खंडकाव्य या गीतिकाव्य के

सदृश होता है। फागुकाव्य में ऋतुवर्णन और नायिका के विरहवर्णन को प्रधानता दी जाती है। जैन कवियों ने नेमराजुल और स्थूलभद्र कोश्या को नायक नायिका के रूप में मानकर अनेक फागु काव्य रचे हैं। गुजराती फागुकाव्यों में जिनपद्मसूरिकृत सिरिथूलिभद्द फागु (१३३४ ई०) राजशेखर सूरिकृत नेमिनाथ फागु (१३४४ ई०) और जैनेतर फागुकाव्यों में वसंतविलास फागु, नारायणफागु और भ्रमरसंदेश फागु विशेष उल्लेखनीय हैं।

बारमासी—गुजराती साहित्य में 'बारमासी' काव्य का एक स्वतंत्र रूप है। हिंदी कविता में जायसी तथा अन्य कवियों ने बारहमासे लिखे हैं, पर उनकी गणना काव्य के स्वतंत्र रूपों में नहीं होती। बारामासी में बारह महीनों का क्रमिक ऋतुवर्णन रहता है। वर्णन करनेवाली प्रायः विरहिणी नायिका स्वयं होती हैं। बारमासों की परंपरा में बीसलदेव रासो प्रथम बारहमासा है। इस काव्य के अतिरिक्त ई० सन् १२४४ में रचित 'नेमिनाथ चतुष्पदिका' भी एक सुंदर बारहमासा काव्य है।

दो वीर काव्य—प्राग्नरसिंहयुग के साहित्य में श्रीधर कृत रणमल्लछंद (१३९८) और पद्मनाभकृत कान्हड दे प्रबंध (१४५६ ई०) का उल्लेख भी अनिवार्य प्रतीत होता है। इन दोनों कृतियों को राजस्थान के विद्वान् राजस्थानी का, गुजरात के विद्वान गुजराती का और हिंदीवाले हिंदी का मानते हैं। इस प्रकार हिंदी, राजस्थानी और गुजराती भाषा के तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से ये काव्य अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

२. गुजरात के वैष्णव कवियों की हिंदीसेवा

गुजरात में वैष्णवधर्म का प्रचार — भक्तियोग के मूल उपदेशक भगवान श्री कृष्ण के मथुरा छोड़कर यादवों के साथ द्वारका जाबसने का उल्लेख महाभारत, हरिवंश और भागवत आदि ग्रंथों में मिलता है। पर ५वीं शती ई० तक गुजरात में वैष्णव धर्म के प्रचार का कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। ५वीं से १५वीं शताब्दी तक पौराणिक भागवत-वैष्णव-भक्ति गुजरात में प्रचलित रही। १५वीं शताब्दी के पश्चात वैष्णव धर्म का प्रवाह गुजरात में विभिन्न रूपों में प्रकट हुआ।

गुजरात में वैष्णव भक्ति के प्रचार का श्रेय वल्लभाचार्य और उनके पुत्र विठ्ठलनाथ जी को है। इन्होंने १६वीं शताब्दी में वैष्णवधर्म के प्रचारार्थ गुजरात में अनेक यात्राएँ की थीं। वल्लभीय विचारधारा से प्रभावित होकर गुजरात के अनेक कवियों ने व्रजभाषा में भावभक्ति की कविता की है। गुजरात में वल्लभ संप्रदाय का इतना अधिक प्रभाव रहा है कि यहाँ वैष्णवधर्म का अर्थ ही प्रायः वल्लभ संप्रदाय समझा जाता है।

गुजरात के वैष्णव भक्तों और कवियों की परंपरा भालण और नरसिंह के समय से ही चल पड़ी थी, पर ये कवि असांप्रदायिक थे। वल्लभाचार्य जी के गुजरात आगमन के पश्चात गुजरात के कवि वल्लभीय विचारधारा की ओर आकर्षित हुए और अन्य वैष्णव कवियों की भाँति व्रजभाषा में काव्यरचना करने लगे। इन कवियों के हृदय में अपने आराध्य श्रीकृष्ण के प्रति अनन्य अनुराग था। श्रीकृष्ण की मातृभूमि (व्रज) और वहाँ की भाषा (व्रजभाषा) भी इन्हें अपने आराध्य की ही भाँति प्रिय थी। इसी श्रद्धा और प्रेम से प्रेरित होकर इन गुजराती कवियों ने स्वभाषा को छोड़कर व्रजभाषा में रचनाएँ की हैं।

व्रजभाषा की परंपरा—गुजरात में व्रजभाषा की काव्यपरंपरा संभवतः सूरदास से भी पहले प्रचलित हो चुकी थी। यदि गुजराती साहित्यकारों द्वारा भालण, केशवराम और नरसिंह

महेता का जो काल निर्धारित किया गया है, वह सही है और इन कवियों की जो हिंदी कृतियाँ प्राप्त हुई हैं वे प्रक्षिप्त नहीं हैं, तो इसे स्वीकार करने से इनकार नहीं किया जा सकता कि १५वीं शती ई० के अंत तक गुजरात में ब्रजभाषा का पर्याप्त प्रचार हो चुका था। गुजराती साहित्य के सुप्रसिद्ध विद्वान श्रीयुत केशवराम का० शास्त्री ने भालण को ब्रजभाषा का आदि कवि कहा है।[६]

गुजरात के मध्यकालीन वैष्णव कवियों में से लगभग सभी ने कुछ काव्य ब्रजभाषा में लिखे हैं। ब्रजभाषा में काव्यरचना करना उन दिनों गौरव की बात मानी जाती थी। इसलिये गुजरात के अनेक कवियों ने गुजराती में न लिखकर ब्रजभाषा में काव्यरचना की है।

गुजरातियों द्वारा प्रयुक्त ब्रजभाषा — गुजराती कवियों द्वारा प्रयुक्त ब्रजभाषा शुद्ध और परिमार्जित नहीं है। ब्रजमंडल से दूर रहने और इस भाषा को सीखने के साधनों के अभाव के कारण गुजराती कवि ब्रजभाषा में पूर्णतया दक्ष नहीं हो पाते थे। साथ ही इनकी भाषा प्रांतीय भाषा (गुजराती) के प्रभाव से भी मुक्त नहीं हो पाती थी। बंगाल के वैष्णव कवियों की 'ब्रजबुली' जिस प्रकार ब्रजभाषा और बँगला का मिला जुला रूप है, उसी प्रकार गुजरात के वैष्णव कवियों की ब्रजभाषा भी ब्रज और गुजराती का मिलाजुला रूप है। गुजरात के कृष्णदास, हर्षदास, दयाराम आदि जिन कवियों को ब्रजमंडल में यात्रा के निमित्त आने-जाने और रहने का अवसर मिला, उन कवियों की भाषा अन्य गुजराती कवियों की अपेक्षा प्रांतीय प्रभाव से अपेक्षाकृत मुक्त है।

गुजरात के प्रमुख वैष्णव कवि—गुजरातके वैष्णव कवियों में भालण, केशवराम, नरसिंह मेहता, संगीताचार्य बैजू बावरा, मीरां, कृष्णदास अधिकारी, विश्वनाथ जानी, मुकुंद गुगली, त्रिकमदास, हरखदास, दयाराम और गिरधर विशेष उल्लेखनीय हैं। गुजरात के इन हिंदीसेवी वैष्णव कवियों में रामभक्त कवि नहीं के बराबर हे। अधिकतर कवि कृष्णोपासक हैं। इन्होंने ब्रजभाषा में कृष्णलीला के गेय पदों की रचना की है। संगीतात्मकता इनके काव्यों की प्रमुख विशेषता है। चरितकाव्यों की परंपरा में द्वारका के कवि मुकुंद (१६५२ ई०) ने 'कबीरचरित्र' की, त्रिकमदास (१७३४ से १७९९ ई०) ने 'डाकोरलीला' और 'रुक्मिणी विवाह' तथा गिरधर (१७८७ से १८५२ ई०) ने 'दाणलीला' और 'श्रीकृष्ण जन्म वर्णन' आदि ग्रंथों की ब्रजभाषा में रचना की है।

मीरां—गुजरात के हिंदीसेवी वैष्णव कवियों में मीरां का उल्लेख अनिवार्य प्रतीत होता है। इस कवयित्री का जन्म यद्यपि राजस्थान में हुआ था, पर जैसा कि अब सिद्ध हो चुका है, इसके जीवन के अंतिम १५ वर्ष गुजरात में बीते थे।[७] मीरां की गणना गुजराती भाषा के आदि कवियों में की जाती है और उसके लगभग १०० पद गुजराती भाषा और साहित्य की संपत्ति बने हुए हैं। मीरां के कारण हिंदी और गुजराती भाषाओं में निकटता स्थापित हुई है। उसकी कविताओं में आए हुए गुजराती, राजस्थानी और ब्रज के शब्द सभी प्रदेशों में व्यापक बने हैं। इस प्रकार मीरा की रचनाओं ने एक ओर गुजरात में हिंदी को व्यापक बनाया और दूसरी ओर गुजराती शब्दों और मुहावरों से हिंदी के भंडार को समृद्ध किया।

६. गुजराती साहित्य नुं रेखादर्शन, पृ० ६२, प्र० सं०।
७. देखिए, कविचरित – केशवराम का० शास्त्री।

बैजू बावरा—सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ बैजू बावरा (१६वीं शती ई०) गुजरात के चाँपानेर का निवासी था। संगीतज्ञ होने के साथ वह कवि भी था और व्रजभाषा में कृष्णभक्ति की सुंदर रचनाएँ करता था। इसके अनेक पद कृष्णानंद व्यास द्वारा संपादित 'संगीत रागकल्पद्रुम' में मिलते हैं, यथा—

राग टोड़ी (स्वर फाख्ता)
पक्षीमणि गरुड़, गजमणि ऐरावत
दिनमणि दिवाकर।
गीतमणि संगीत, वनमणि वृंदावन
तरुमणि कल्पतर॥
नरमणि नारायण, तारामणि ध्रुव
तीर्थमणि गंगा, देवमणि शंकर॥
नारिमणि उरवशी, पुष्पमणि कमल
दास बैजू मुख मुरलीधर॥

कृष्णदास—अष्टछाप के आठ कवियों में से एक कृष्णदास अधिकारी (१४६६ से १५७६ ई०) गुजरात में चरोतर के पाटीदार थे। ये इतने समर्थ थे कि एक बार इन्होंने गोसाईं विट्ठलनाथजी को भी श्रीनाथजी की सेवा से च्युत कर दिया था। ये पुष्टिमार्गीय सिद्धांतों के गूढ़ ज्ञाता और राधाकृष्ण के युगल स्वरूप के अनन्य उपासक थे। इन्होंने राधा को ब्रह्म की रसरूप शक्ति के रूप में माना है और शृंगारभक्ति के सुंदर पदों की रचना की है। इनकी रचनाओं से हिंदीसंसार परिचित है।

दयाराम—हिंदीसेवी गुजराती कवियों में दयाराम सर्वश्रेष्ठ हैं। इनका जन्म सन् १७८७ में और मृत्यु १८५२ ई० में हुई। इन्होंने व्रजभाषा में ५० के लगभग छोटे बड़े ग्रंथों और हजारों स्फुट पदों की रचना की है। दयाराम पुष्टिमार्ग के अनुयायी थे। इनके आधे से अधिक ग्रंथों में पुष्टिमार्ग के सिद्धांतों का विवेचन है। शेष रचनाएँ उपदेशात्मक और शृंगारिक हैं। इनकी हिंदी रचनाओं में 'सतसैया' सर्वोत्कृष्ट है। यह कृति बिहारी सतसई के टक्कर की रचना है।[८] इसके अतिरिक्त 'रसिक रंजन', 'क्लेश कुठार', 'वस्तुवृंद दीपिका' आदि भी कवि की सुंदर रचनाएँ हैं।

'सतसैया' से दयाराम की रचना के कुछ उदाहरण देखिए—

रसिक नैन नाराच की, यही अनौखी रीत।
दुसमन को परसे नहीं, मारें अपनो मीत॥ १२०॥
रूप भूप के राज में, यह महान अन्याय।
नाम न ले को मूढ़ को, चातुर मारे जाय॥ १२१॥
प्रीति जुरी प्रकृति न मिलि, वह दुहुपख दुखपाय।
रोटी गंडेरी चवी, क्यो डारे क्यों खाय॥ ६४२॥

८. विशेष परिचय के लिये देखिए नागरी प्रचारिणी पत्रिका संवत् २०१३, अंक १ में लेखक का 'दयाराम कृत सतसैया' शीर्षक लेख।

इन कवियों के अतिरिक्त शामल, प्रेमानंद, हरपदास महेता, गिरधर और संगीताचार्य आदि कवियों ने भी व्रजभाषा में सुंदर कविता की है।

३. स्वामीनारायण संप्रदाय के कवि

१८वीं शती ई०के अंतिम चरण में गुजरात में स्वामिनारायण के उद्धव नामक एक नए संप्रदाय का जन्म हुआ। इस संप्रदाय के संस्थापक सहजानंद स्वामी माने जाते हैं।

जिन दिनों गुजरात में इस संप्रदाय की स्थापना हुई, उन दिनों गुजरात की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक स्थिति बड़ी दयनीय थी। श्री कन्हैयालाल मुंशी के शब्दों में 'मारे उसकी तलवार और जीते उसका देश तथा बरे उसकी नहीं पर हरे उसकी स्त्री'[१], यह प्रवृत्ति उस समय के समाज में व्याप्त थी। जैन और वल्लभ संप्रदायों पर से जनता की श्रद्धा उठ चुकी थी। समाज में शूद्रों का स्थान अत्यंत दयनीय था। ऐसी परिस्थितियों में स्वामिनारायण संप्रदाय का प्रादुर्भाव गुजरात में हुआ। इस संप्रदाय ने सभी सामाजिक और धार्मिक कुरीतियों से मोर्चा लिया और व्यसनों में फँसे हुए अछूतों और शूद्रों का उद्धार किया। गुजरात में अछूतोद्धार के काम का श्रीगणेश करनेवालों में सहजानंद सर्वप्रथम व्यक्ति थे।

न केवल समाज सुधारक और संप्रदाय के संस्थापक रूप में बल्कि साहित्य और कला के उद्धारक के रूप में भी सहजानंद स्वामी की जितनी प्रशंसा की जाय कम है। इन्होंने अपने अनुयायियों को साहित्य और संगीत के अध्ययन की ओर प्रवृत्त किया। सहजानंद स्वामी से प्रेरणा प्राप्त करके गुजरात में अनेक कवि गुजराती और हिंदी में कविता करने लगे। इनके अनुयायियों में मुक्तानंद, ब्रह्मानंद, प्रेमानंद, निष्कुलानंद आदि कवियों ने व्रजभाषा मारवाड़ी और चारणी भाषा में सुंदर रचनाएँ की है। ये सभी कवि संगीत के जानकार थे और इन सभी ने हिंदी में नीति, वैराग्य और कृष्णभक्ति-विषयक सुंदर गेय पदों की रचना की है।

मुक्तानंद स्वामी (१७६१ से १८३० ई०)—इनका जन्म 'धांगध्रा' में और मृत्यु गढड़ा में हुई। ये स्वामीनारायण संप्रदाय के संस्थापक सहजानंद स्वामी के गुरु भाई थे। इन्होंने कृष्णभक्ति तथा ज्ञानवैराग्य विषयक पदों की रचना की है। इनकी कविता अत्यंत सरल, सुमधुर और बोधप्रद है। विवेक चिंतामणि और सत्संग शिरोमणि इनकी हिंदी रचनाएँ हैं। इनकी रचनाओं में कृष्ण के प्रति अनन्य प्रेम है। एक उदाहरण —

छाँड़ के घनश्याम और को धरूं जो ध्यान।
फाड़ डारो छाती मोरी, कठिन कुठार सों॥

ब्रह्मानंद स्वामी (१७७२ से १८३२ ई०)—ये स्वामीनाराण संप्रदाय के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। इनका जन्म डुंगरपुर परगने के खाण नामक गाँव में चारण कुल में हुआ, शिक्षा दीक्षा भुज (कच्छ) की पाठशाला में हुई और जीवन काठियावाड़ में बीता। इनका बचपन का नाम लाडू बारोट था। बड़े होकर स्वामीनारायण संप्रदाय में दीक्षित होने पर ये श्री रंग और ब्रह्मानंद स्वामी के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन तीनों ही नामों से उन्होंने कविता की है। गुजराती के अतिरिक्त इन्होंने, मारवाड़ी, चारणी और व्रजभाषा में भी अनेक ग्रंथों तथा

९. मध्यकालनां साहित्यप्रवाह, पृ० २१२।

संगीतात्मक पदों की रचना की है। संप्रदायप्रदीप, सुमतिप्रकाश, उपदेशचिंतामणि और व्रजविलास इनकी हिंदी रचनाएँ हैं। ये संगीत और पिंगल के अच्छे जानकार थे। भाव और भाषा की दृष्टि से इनकी रचनाएँ अत्यंत उत्कृष्ट हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है —

वहान कुँवर मन भाये, आलीरी मेरे वहान कुँवर मन भाये।
मैं ज्युँ खड़ी थी अपने भुवन में, चलके अचानक आये॥
कोमलगात न जात बखाने, छैल छगन रंग छाये।
ब्रह्मानंद जोर दृग मो सों, मंद मंद मुसकाये॥

प्रेमानंद स्वामी (१७७६ से १८४५ ई०)—ये 'प्रेम सखी' के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। इनका निवासस्थान गढड़ा था और ये गाने बजाने में अत्यंत पटु थे। इनकी कविता में भक्ति, आत्मदैन्य और प्रेम की प्रमुखता है। इन्होंने संगीतात्मक पदों में श्रीकृष्ण तथा सहजानंद स्वामी का गुणगान किया है। इन्होंने व्रजभाषा और मारवाड़ी में ७००० के लगभग पदों की रचना की है। इनकी भाषा और रचना शैली को देखकर मीरां की याद आए बिना नहीं रहती। एक उदाहरण देखिए —

वैरन बाजेरे मोरी बाँसुरी ॥ टेक ॥
श्रवन सुनत मोरी सुध बुध बिसरी, नैना बहत रे मोरे आँसुरी।
विरहा भरी बाजे बन बाँसुरी, छेदे करेजारे मोरी पाँसुरी॥
कैसी करूँ अब कल न परे मोहे, निकसत नहीं मोरी साँसुरी।
प्रेमानंद घनश्याम पिया मोरे, जीय में डारी रे प्रेम फाँसुरी॥

इन कवियों के अतिरिक्त इस संप्रदाय में निष्कुलानंद, भूमानंद, दयानंद और देवानंद आदि कवियों ने भी हिंदी में रचनाएँ की हैं।

४. गुजरात के संत कवि

भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता है उसके मूल में स्थित समन्वय की भावना। इस समन्वयसंस्थापन का बहुत कुछ श्रेय मध्यकालीन संतों को है। इन संतों ने देश के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच कर ज्ञान, भक्ति और प्रेम का अलख जगाया और जाति तथा धर्म के भेदभावों को मिटाकर एकेश्वरवाद और विराट् मानवधर्म की स्थापना करने का प्रयत्न किया। ये किसी एक प्रांत के न होकर समस्त भारत के थे, इसलिए इन्होंने प्रांतीय भाषाओं को छोड़कर सर्वसुलभ सधुक्कड़ी वाणी को अपने उपदेशों के लिये अपनाया।

गुजराती साहित्य में भारतीय संतपरंपरा के प्रभाव के चिह्न १५वीं शती से दृष्टिगोचर होने लगते हैं। नरसिंह मेहता के ज्ञान - वैराग्य के पदों में कबीर का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। श्री किशनसिंह चावड़ा के मतानुसार कबीर अपने पुत्र कमाल के साथ सन् १५०८ ई० में गुजरात में आए थे और कुछ समय तक भृगुकच्छ (भरौंच) के तट पर ठहरे भी थे। श्री चावड़ा ने सौराष्ट्र और गिरनार में भी कबीर के पर्यटन का उल्लेख किया है।[१०]

कबीर गुजरात में आए थे अथवा नहीं, यह विषय संदिग्ध एवं विवादास्पद हो सकता है पर गुजराती समाज और साहित्य पर कबीर का जो प्रभाव पड़ा है, उसे अस्वीकार नहीं किया

१०. कबीर संप्रदाय, किशनसिंह चावड़ा, पृ० १४१ - १४५।

जा सकता। नरसिंह मेहता से लेकर आजतक के कवियों पर कबीर का थोड़ा बहुत प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।

गुजरात में कबीर पंथ के अतिरिक्त प्रणामी, रामानंदी, दादू आदि पंथों का भी प्रचलन है। पर इनमें सबसे अधिक प्रभावशाली पंथ कबीरपंथ हैं। इन सभी पंथों के अनुयायी संतों ने खड़ी बोली हिंदी की परंपरा को गुजरात में जीवित रखा है और अपनी वाणी द्वारा ज्ञान-वैराग्य का उपदेश जनता को दिया है।

गुजरात का संतसाहित्य भारतीय संतसाहित्य की परंपरा की ही एक कड़ी है। सभी संतों ने बाह्याचारों का खंडन तथा संयम, शील और सदाचार का समर्थन किया हैं। सभी संत हिंदू-मुसलिम एकता के समर्थक, उपदेशक और समाजसुधारक थे। इन संतों ने संसार की असारता और देह की नश्वरता के गीत गाए हैं, पर इसके पीछे इनका उद्देश्य जनता को अकर्मण्य या जीवन से विमुख करने का नहीं था। ज्ञान या वैराग्य का उपदेश देकर ये जनता को ईश्वरोन्मुख करके उसे अहिंसा और परोपकार का पाठ पढ़ाना चाहते थे। यही कारण है कि भाषा और साहित्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण न होते हुए भी लोककल्याण की दृष्टि से संत साहित्य की देन अद्वितीय है।

संतों ने भाषा को सदा से गौण स्थान दिया है। कबीर का 'का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहिये साँच' और जायसी का 'जामे मारग प्रेम का सबै सराहै ताहि' कथन इसकी पुष्टि करते हैं। गुजरात के संत कवियों का भी भाषा के संबंध में यही दृष्टिकोण रहा है। गुजराती कवि अखा ने कहा हैं, भाषा (हथियार) से क्या होता है? शूरवीर तो वह कहलाता है जो रण में पराक्रम दिखाए।[11]

गुजराती संतों की भाषा सधुक्कड़ी-हिंदी है, जिसपर गुजराती भाषा का भी पर्याप्त प्रभाव है। छंदयोजना की ओर भी इन्होंने ध्यान नहीं दिया है। कबीर और दादू द्वारा प्रयुक्त साखियों, पदों और भजनों का ही ये संत अनुकरण करते से प्रतीत होते हैं। कुछ संतों ने राग रागिनियों और तालों के आधार पर भी रचनाएँ की हैं। कुछ की वाणी गुजराती काव्यप्रकारों में से गरबा, गरबी, चावला, होरी, काफी, छप्पा और चरचरी आदि काव्यस्वरूपों में भी व्यक्त हुई है। गुजराती संतों में से कुछ प्रमुख संतों का यहाँ संक्षेप में परिचय दिया जा रहा है —

दादू – दादू दयाल का नाम हिंदीसेवी संसार में सुपरिचित हैं। दादूपंथियों के मतानुसार ये १५४५ ई० में लोदीराम नामक नागर ब्राह्मण को अहमदाबाद में साबरमती नदी में बहते हुए मिले थे।[12] ११ वर्ष की अलपायु में ही ये विरक्त होकर घर से निकल पड़े थे और इनका शेष जीवन राजस्थान में बीता। दादू की वाणी बड़ी प्रभावोत्पादक और ऊँचे घाट की है। सगुण कवियों में जैसे सूर और तुलसी वैसे ही निर्गुण कवियों में कबीर और दादू हैं। इन्होंने गुजराती

११. भाषाने शुं वलगे भूर।
जे रण माँ मारे ते शूर॥

१२. उत्तर भारत की संत परंपरा।

मराठी, पंजाबी, सिंधी तथा हिंदी में सुंदर पदों की रचना की है। हिंदीसेवी संसार इनकी रचनाओं से परिचित है।

अखा (ई० सन् १५९१ से १६५६)—ब्रह्मज्ञानी अखा कबीर की भांति अक्खड़, फक्कड़ और मनमौजी थे। वे जेतलपुर के निवासी थे और अहमदाबाद में रहकर सुनार का पेशा करते थे। आगे चलकर इन्हें जीवन से विरक्ति हो गई और सब कुछ छोड़कर ये सतगुरु की खोज में निकल पड़े। बनारस रहकर कुछ समय तक इन्होंने अध्ययन किया। ज्ञान प्राप्त होने पर ये गुजरात में लौट आए और जनसाधारण को उपदेश देने लगे। इनकी कविता अत्यंत प्रभावोत्पादक, मार्मिक और सचोट है। संसार की अप्रामाणिकता, स्वार्थपरायणता और क्षुद्रता को इन्होंने खोलकर रख दिया है। कवि की अपेक्षा अखा अपने आपको ज्ञानी कहलाना पसंद करते थे। उन्होंने हिंदी और गुजराती दोनों भाषाओं में रचना की है। हिंदी में इन्होंने संतप्रिया, ब्रह्मलीला, अवस्थानिरूपण और 'एकलक्ष रमणी', इन चार ग्रंथों की तथा छप्पा, सोरठा, साखी, पद, भजन, जकड़ी, झूलणा आदि स्फुट छंदों की रचना की है। गुजरात के संत कवियों में अखा का व्यक्तित्व अद्वितीय है। यदि हम अखा को गुजरात का कबीर कहें तो अत्युक्ति न होगी। इनकी रचना का एक उदाहरण देखिए —

अकल कला खेलत नर ज्ञानी।
जैसे हि नाव हिरे फिरे दसों दिश
ध्रुवतारे पर रहत निशानी ॥ अकल ॥
चलन वलन अवनी पर वाकी
मन की सुरत अकाश ठरानी।
तत्व समास भयो है स्वतंतर
जैसे हिम होत है पानी ॥ अकल ॥
अजब खेल अद्भुत अनुपम है
जाकूँ है पहचान पुरानी।
गगनहि गैब भया नर बोले
एहि अखा जानत कोई ज्ञानी ॥ अकल ॥

प्राणनाथ इंद्रामती (१६१८ से १६९५ ई०) — धामी पंथ के प्रवर्तक सर्वधर्म-समन्वयी संत प्राणनाथ का जन्म काठियावाड़ प्रदेश के जामनगर में हुआ था। इंद्रामती इनकी पत्नी थी। इन्होंने सिंध, गुजरात, महाराष्ट्र, मालवा आदि प्रदेशों में खूब भ्रमण किया। महाराज छत्रसाल इनके प्रधान शिष्य थे। इन्हें अरबी, फारसी, संस्कृत, गुजराती, मराठी और हिंदी आदि भाषाओं का अच्छा ज्ञान था। इस दंपति ने मिलीजुली भाषा में १४ ग्रंथों की रचना की है, जिनमें 'कलजमे शरीफ' विशेष प्रसिद्ध है। इस ग्रंथ की भाषा गुजराती, सिंधी और हिंदी का मिला जुला रूप है। भाषा और साहित्य की दृष्टि से इनकी रचनाएँ अपरिमार्जित और गद्य के समान नीरस है। इनकी रचनाओं से भी हिंदीसेवी संसार परिचित है।

प्रीतमदास (मृत्यु सन् १७९८ ई०)—ये गुजरात के खेड़ा जिले के बावला गाँव के निवासी लोकप्रिय संत थे। इनके संबंध में गुजरात में यह उक्ति प्रचलित है कि 'गरबी दयाराम की और पद प्रीतम के'। इन्होंने सधुकड़ी भाषा में अत्यंत भावपूर्ण पद और साखियाँ लिखी हैं। कुछ उदाहरण अवलोकनीय हैं —

छिन छिन आछा होत है, अंजलि केरा नीर।
कहे प्रीतम कैसे रहे, नव छिद्र युक्त शरीर॥
तृष्णा तू थाकी नहीं, खायो सब संसार॥
कहे प्रीतम करूं दूरथी, कर जोडी नमस्कार॥

धीरो (मृत्यु सन् १८२५ ई०)—ये बड़ौदा प्रांत के सावली के निकट गोठडा नामक गाँव के निवासी थे। प्रारंभ में कृष्णभक्ति की कविता करते थे, पर आगे चलकर ज्ञान-भक्ति की कविता करने लगे। हिंदी में इन्होंने पद और कुंडलियाँ लिखी हैं। उदाहरण —

दम का भरोसा मतकर भाई, साधन करंदा साईं।
साधन करंदा साईं, मैं वारी वयां दमका॥'

निरांत (सन् १७४७ से १८५२ ई०)—ये गुजरात के प्रमुख ज्ञानमार्गी कवियों में से एक हैं। इन्होंने हिंदी में पद और साखियाँ लिखी हैं। इन्हें संगीत का भी अच्छा ज्ञान था। भाषा की दृष्टि से इनकी हिंदीरचनाएँ बहुत साधारण हैं। इनकी रचनाएँ प्राचीन काव्यमाला भाग १० में संगृहीत हैं।

भोजों भगत (जन्म सन् १७८५ से १८५० ई०)—काठियावाड़ के प्रसिद्ध संत भोजो भगत अत्यंत प्रतिभासंपन्न व्यक्ति थे। इनकी वाणी मार्मिक और प्रभावोत्पादक है। इनकी मान्यता थी कि जिस प्रकार मरियल घोड़ा बिना चाबुक के नहीं चलता, उसी प्रकार गलित समाज भी वाणी की चाबुकें मारे बिना सीधे रास्ते पर नहीं आता। इन्होंने समाज की कुरीतियों को आड़े हाथों लिया है और उसपर वाणी की चाबुकों की वर्षा की है। गुजराती साहित्य में इनके चाबखे (चाबुक) बहुत प्रख्यात हैं। इन्होंने हिंदी में भजन, पद, होली इत्यादि की रचना की है। भाषा अपरिमार्जित एवं अव्यवस्थित है। इनके कुछ हिंदीपद प्राचीन काव्यमाला भाग ५ में संग्रहीत हैं।

मनोहर स्वामी 'सच्चिदानंद' (सन् १७८८ से १८४३)—जूनागढ़ के ब्रह्मज्ञानी नागर संत कवि मनोहरदास संस्कृत, फारसी गुजराती और हिंदी के अच्छे जानकार थे। इन्होंने अपनी कविताओं में स्वस्वरूप को पहचानकर जीवन्मुक्ति प्राप्त करने का उपदेश दिया है। इनकी हिंदीकविता सरल होते हुए भी सचोट है। इन्होंने पाखंडियों को खूब लताड़ा है —

भल कलयुग में भाँड गवैया, परमहंस बन बैठे भैया।
कुत्सित नर कूँ कहत कन्हैया
ब्रह्म विद्या की बात न जानत
झूम झनन टूम ठनन बजैया
तोते जिमि पढ़ि काग की नाईं
कीवी कीवी कीवी कीवी कीवी की करैया॥
दूना कंठी गरे महु डारिके,
पामर नर के धनहि हरैया।
मृग जिमि राग रसिकजन आगे।
नादर दानी तुम दर दानी तुम दर दर गवैया।

सच्चिदानंद ब्रह्म से उलटि कें।
थनगन थनगन नाच नचैया ॥

छोटम (सन् १८१२ से १८८५ ई०)—इनका जन्म पेटलाद तालुके के एक नागर परिवार में हुआ। बचपन से ही इनकी रुचि अध्यात्म की ओर थी। इन्होंने पाखंडियों के पंथ का खंडन करके नीतिधर्म की स्थापना के लिये लोगों को गुजराती और हिंदी में उपदेश दिए हैं। कहा जाता है कि इन्होंने अपने अंतिम दिनों में 'बोधसुधा' नामक ग्रंथ लिखा था, जो अभी तक अप्राप्य है। इनके जो हिंदीपद और और साखियाँ प्राप्त हैं, उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि इनकी रचनाएँ अत्यंत भावपूर्ण और सारगर्भित हैं, भाषा में हिंदी-गुजराती का संमिश्रण हैं। कुछ उदाहरण देखिये—

दुरिजन सज्जन ना बने, कीजे कोटि उपाय।
धोवे नित नित दूध से, काग हंस ना थाय ॥
सरिता को जल सिंधु में, सहजहि आवत धाय।
त्यूं विद्या गुन ज्ञान सब, सज्जन मांहि समाय ॥
मात विछोया बाल ज्यूं, माता ढूँढ़त रोय।
यूँ रोवे प्रभु मिलन को, प्रभु पद पावे सोय ॥

संक्षेप में कहें तो गुजरात का संतसाहित्य भारतीय संतपरंपरा की ही एक कड़ी है। उसका कलापक्ष गौण और भावपक्ष प्रधान है। संत साहित्य का एक मात्र उद्देश्य लोककल्याण रहा हैं। गुजरात के संतों ने अपने समय की आवश्यकता के अनुसार जनता को उपदेश दिए हैं। ऊपर बताए गए संतों के अतिरिक्त गुजराती संतों में माणदास, रविसाहब, खेमसाहब, मोरार साहब, त्रिकमसाहब, हाथीसाहब, जीवणदास, मूलदास, महात्मा हरदास, कल्याण, दीन दरवेश, अर्जुन भगत, अनवर, नृसिंहाचार्य आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त खालस, गणपतराम, देवकृष्ण, पीतांबर, रणछोड़ आदि अनेक संतों ने खड़ी बोली में ज्ञानभक्ति की कविता करके गुजरात में संतपरंपरा को जीवित रखा है।

५ - गुजरात के जैन कवियों की हिंदी सेवा

गुजरात में जैनधर्म—गुजरात जैन धर्म का एक प्रधानकेंद्र रहा है। बहुत प्राचीन समय से गुजरात में जैन धर्म के प्रचलित होने के प्रमाण मिलते हैं। जैनियों के २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ के गिरिनार में समाधि लेने और ई० ५वीं शती में मुनि सुव्रत तीर्थंकर के शकुनि-विहार नामक आश्रम, भृगुकच्छ में होने का उल्लेख अनेक विद्वानों ने किया है।[13] इसके अतिरिक्त वल्लभी के राजा शिलादित्य (५वीं शती), वृद्धपुर के राजा ध्रुवसेन (५वीं शती) और फिर आगे चलकर बनराज चावड़ा आदि के जैन धर्म में दीक्षित होने का उल्लेख मिलता हैं। इन ऐतिहासिक उल्लेखों तथा गिरनार, पावागढ़ आदि सिद्ध क्षेत्रों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन धर्म का गुजरात में पर्याप्त प्रचार रहा है।

१३. देखिए 'मध्यकालीन गुजराती साहित्य' — क० मा० मुंशी।

गुजरात का प्राचीन जैनसाहित्य—जैनियों के हाथों भाषा और साहित्य की भी प्रशंसनीय सेवा हुई है। आज प्राचीन भाषा और साहित्य के जो ग्रंथ उपलब्ध हैं उनकी सुरक्षा के लिये हम जैनियों के ही ऋणी हैं। जैनियों के हाथों अपभ्रंश, हिंदी और गुजराती की विशेष सेवा हुई है। १५वीं शती के पहले के गुजराती साहित्य में जैन कवियों की संख्या इतनी अधिक है कि उसे प्राचीन गुजराती साहित्य न कहकर प्राचीन जैन साहित्य कहने को जी चाहता है।

१५वीं शती से पहले के जैन कवियों ने अपभ्रंश तथा प्राचीन हिंदी और प्राचीन गुजराती में जो रचनाएँ की हैं उनके बारे में हम प्राग् नरसिंह युग में कह आए हैं। यहाँ हम नरसिंह महेता के परवर्ती हिंदीसेवी जैन कवियों का उल्लेख करेंगे।

जैन कवियों की प्रिय भाषा अपभ्रंश रही है। १०वीं शती से १७वीं शती तक जैन कवियों ने मुख्यतया अपभ्रंश में ही रचनाएं की हैं। १७वीं शती के पश्चात् गुजरात के जैन कवि ब्रजभाषा और खड़ी बोली में भी रचनाएँ करते प्रतीत होते हैं। न केवल भाषा में वरन् उनके विचारों में भी धीरे धीरे असांप्रदायिकता आगई है। सांप्रदायिकता के संकीर्ण बंधनों को छोड़कर नरसिंह महेता के परवर्ती जैन कवियों की वाणी लोकहितार्थ व्यापक बनती गई है। जैन कवि भी संत कवियों के स्वर में स्वर मिलाकर संगीतात्मक पदों और मुक्तकों में जाति-पाँति और ऊँचनीच के भेदभाव की व्यर्थता का उपदेश देते दिखाई देते हैं। इनकी कविता में भी वही प्रेम, मस्ती, अनासक्ति, रूढ़ियों का त्याग, अंतर्मुखी प्रवृत्ति, संयम, शील और सदाचार का उपदेश है, जो संतों ने दिया है। प्रमुख हिंदीसेवी जैन कवियों का परिचय आगे दिया जा रहा है।

आनंदघन — ये १७वीं शती ई० के जैन कवि हैं। इन्होंने मेडता (मारवाड़) में समाधि ली। इनकी प्रथम कृति 'आनंदघन चौबीसी' गुजराती में मिलती है। इससे इनके गुजराती होने अथवा लंबे समय तक गुजरात में रहने का अनुमान होता है। इन्हें ब्रज, मारवाड़ी और खड़ी बोली का अच्छा ज्ञान था। ये अंतर्मुखी प्रवृत्तिवाले आध्यात्मिक पुरुष थे। इन्होंने ब्रज और मारवाड़ी में भावपूर्ण और संगीतात्मक पदों की रचना की है। इनकी भाषा भाववाही और परिमार्जित है। एक उदाहरण देखिए —

राम कहो रहमान कहो कोउ, कान कहो महादेव री।
पारसनाथ कहो कोउ ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वमेव री॥
भाजन भेद कहावत नाना, एक मृत्तिका रूप री।
तैसे खंड कल्पना रोपित, आप अखंड स्वरूप री॥
निज पद रमे राम सो कहिये, रहम करे रहमान री।
कर्षे करम कान सो कहिये, महादेव निर्वाण री॥
परसे रूप पारस सो कहिये, ब्रह्म चीन्हें सो ब्रह्म री।
इहि विधि साधो आप आनंदघन, चेतनमय निष्कर्म री॥

ज्ञानानंद — ये भी १७वीं शती के जैन कवि हैं। इनकी वाणी में मीरा की वाणी जैसा पदलालित्य और कबीर की वाणी जैसा अर्थगांभीर्य है। श्रीयुत पुरुषोत्तमदास जी टंडन ने भी इनकी मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। रचनाशैली का एक उदाहरण अवलोकनीय है—

मेरे मुनि वीतराग, चित्त मांहे जोई।
और देव नाम रूप, दूसरो न कोई॥

घाति करम भसम छाए, देह में लगाई।
परम योग शुद्धभाव, स्वायक चितलाई ॥
तंबू तो गगन भाव, भूमि शयन भाई।
चारित नवनिधि सरूप, ज्ञानानंद भाई ॥

विनयविजय — ये १७वीं शताब्दी के जैन कवि थे। संस्कृत भाषा और जैन आगमों के ये पंडित थे। हिंदी में इनकी बनाई हुई अनेक स्मृतियाँ प्रचलित हैं। इनकी भाषा में व्रज और मारवाड़ी का मिश्रण है। यथा —

जोगी ऐसा होय फरूं।
परम पुरुष सूं प्रीत करूं और सें प्रीत हरूं ॥

× × ×

मेरे सतगुरु ने उपदेश दियो है, निरमल जोग बतायो।
विनय कहे मैं उनको ध्याऊँ, जाने शुद्ध मारग दिखायो ॥

यशोविजय — पाटण निवासी जैन कवि यशोविजय १७वीं शती में वर्तमान थे। इनकी शिक्षा-दीक्षा आगरे और काशी में हुई थी। विद्वत्ता, प्रतिभा और तलस्पर्शी अध्ययन को देखकर अगर इन्हें जैन समाज का दूसरा हेमचंद्राचार्य कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। इन्होंने सुंदर और परिमार्जित व्रजभाषा में भजन, पद, रास आदि लिखे हैं। एक उदाहरण देखिए —

देखो माई अजब रूप जिनजी को।
उनके आगे और सबन को रूप लगे मोहे फीको ॥
लोचन करुना अमृत कचोले, मुख सोहे अति नीको।
कवि जसविजय कहे यों साहिब, नेमजी त्रिभुवन टीको ॥

किशनदास — गुजरात के सुप्रसिद्ध जैन कवि किशनदास ने अपनी बहन रतनबाई की मृत्यु पर सन् १७११ ई० में व्रजभाषा में 'उपदेश बावनी' की रचना की है। भाषा और भाव की दृष्टि से यह रचना अत्यंत सुंदर है। शांतरस की इस लोकप्रिय रचना का मुख्य विषय ज्ञानोपदेश है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है —

अंजलि के जल ज्यों घटत पल पल आयु।
विष से विषम व्यवसाय विष रस के ॥
पंथ को मुकाम कछु बाप को न गाम यह
जैवो निज धाम तातें कीजे काम यश के ॥
खान सुलतान उमराव राव राना आन
किसन अजान जान कोउ न रही सके।
साँझरु विहान चल्यो जात है जिहान तातें
हमहू निदान महिमान दिन दस के ॥ २० ॥

६ - गुजरात के राजा और राजाश्रित कवि

गुजरात, सौराष्ट्र और कच्छ के राजा - महाराजाओं के हाथों भी हिंदी की अच्छी सेवा हुई है। इन्होंने हिंदी कवियों को आश्रय देकर प्रजा के लिये हिंदी सीखने की सुविधाएँ जुटा

कर तथा सबसे बढ़कर स्वयं हिंदी में रचनाएँ करके इस भाषा के प्रति अपने अनन्य प्रेम का परिचय दिया है।

गुजरात के राजाओं के राज्यों में हिंदीकवियों को विशेष रूप से संमानित किया जाता था। राजवंश की विरुदावली का गान करने के लिये दरबार में भाट - चारण अनिवार्य माने जाते थे। कच्छ के महाराव लखपतिजी (१७८२ – ६१ ई०) ने भुज में व्रजभाषा की एक पाठशाला स्थापित की थी। इस पाठशाला में न केवल गुजरात के बल्कि सुदूर प्रदेशों के भी विद्यार्थी पढ़ने जाते थे। समस्त भारत में यह अपने ढंग की एक अनोखी पाठशाला थी। इससे बढ़कर गुजरात के राजा - महाराजाओं के हिंदीप्रेम का ज्वलंत उदाहरण और क्या होगा हिंदी कवियों को आश्रय देने तथा हिंदी सीखने की सुविधाएँ प्रदान करने के अतिरिक्त गुजरात के राजा-महाराजाओं ने स्वयं भी हिन्दी में ग्रंथ लिखे हैं।

गुजरात के राजा-महाराजाओं ने हिंदी में जो रचनाएँ की हैं वे परिमाण की दृष्टि से कम होते हुए भी प्रभाव की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। १८वीं शताब्दी तक गुजरात राजनीतिक हलचलों का केंद्र बना रहा। इसलिये राजाओं को साहित्यिक प्रवृत्तियों में रस लेने का अधिक अवकाश ही नहीं मिला। इसके पश्चात् जैसे तैसे देश में शांति स्थापित होती गई, इनकी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ भी विकसित होती गईं। राजाओं का हिंदी के प्रति प्रेम देखकर प्रजा भी स्वाभाविक रूप से हिंदी की ओर आकर्षित हुई।

राजकुमार महेरामणसिंह — राजकोट के राजकुमार महेरामणसिंह कृत प्रवीणसागर (संवत् १८३८, सन् १७८२) को देखकर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। ८४ सर्गों का यह विशालकाय महाकाव्य चारणी, व्रज और खड़ी बोली में लिखा गया है। गुजरात के राजघरानों की यह हिंदी को सबसे बड़ी देन है।[१४] भाषाशैली के परिचय के लिये एक उदाहरण यहाँ उद्धृत किया जाता है —

> कटि फंट छोरन में, भृकुटि मरोरन में,
> सीर पेंच तोरन में, अति उरझाय कें।
> मंद मंद हाँसन में, बरुनि विलासन में,
> आनन उजासन में चकचौंध छाय कें।
> मोती मनि मालन में, सोसनी दुसालन में,
> चिकुटी के तालन में, चेटक लगाय कें।
> प्रेम बान दे गयो न जाने किते गयो,
> सु पंथी मन ले गयो झरोखे दृग लायके॥ १८ - २॥

झाला राजा — सौराष्ट्र के झाला राजाओं के हाथों भी हिंदी की सेवा हुई है। १८वीं शती तक सौराष्ट्र का राजनीतिक वातावरण भी बहुत अशांत रहा। १८०७-८ में काठियावाड़ के राजाओं का कर्नल वाकर के साथ समझौता हो जाने पर सौराष्ट्र में शांति स्थापित हुई और

१४. विशेष विवरण के लिये देखिए 'संमेलन पत्रिका' संवत् २०१३, अंक २ में लेखक का 'महेरामणसिंह कृत प्रवीणसागर' शीर्षक लेख।

राजाओं को साहित्यिक प्रवृत्तियों में रस लेने का अवकाश मिला। ध्रांगधरा के झाला राजाओं में राजा साहब अमरसिंह जी (१८०४ से १८४३ ई०), राजा साहब रणमलसिंह जी (१८४३ से १८६५ ई०) और राजा साहब मानसिंह जी (१८६५ से १९०० ई०) ने हिंदी में सुंदर रचनाएँ की हैं। महाराजा साहब मानसिंह जी ने तो खड़ी बोली में कुछ गजलें भी लिखी हैं, जैसे —

मयखाने इश्क से पीरे मुगां।
कोई जाम गुलाबी मिला ही नहीं॥
क्या साकी से तेरे हमने कहा।
बुते होश रुबा का गिला ही नहीं॥

महाराव लखपति जी — कच्छ के महाराव लखपति जी (सन् १७५२ से १७६१) ने 'लखपति शृंगार' नामक एक सुंदर ग्रंथ रचकर तथा भुज (कच्छ) में व्रजभाषा की पाठशाला स्थापित करके हिंदी की प्रशंसनीय सेवा की है। इनकी रचनाशैली का एक उदाहरण देखिए—

विश्रब्ध नवोढा (रति वर्णन)

सीस सों सीस, मुखै मुख सों छतियाँ अपनी छतियाँ बरजोरी।
बाहु सों बाहु लपेटि लई कटि सों कटि गाढि करी है किशोरी॥
जाँघ सों जाँघनि पिंडि सो पिंडन बाँधे पगे पग घूँघरु डोरी।
राति की रीझ लखी मैं सखी तबतें मोरे चित्त में चित्त विहारी॥

उन्नडजी तथा अन्य कवि — खाँखर गाँव कच्छ के ठाकुर उन्नडजी (ई० सन् १८३६) ने हिंदी में 'खुशबूकुमारी', 'भागवतपिंगल', 'उन्नडबावनी', 'मेघाडंबर', 'ब्रह्मछतीसी' 'नीति मर्यादा' आदि अनेक ग्रंथ हिंदी में रचे हैं। इनके अतिरिक्त खानकोटडा (कच्छ) के जाडेजा ठाकुर हरिसिंह ने 'ज्ञानकटारी' और महाराज विजयसिंह ने ई० सन् १८८९ में 'विजय-रस-चंद्रिका' की रचना की है।

गुजरात के राजघरानों की अनेक बेटियाँ राजस्थान के राजाओं को ब्याही गई। इन रानियों में काकरेची ठकुरानी, हरीजी रानी चावडी और जामसुता प्रतानबाला के नाम उल्लेखनीय हैं। गुजरात की इन बेटियों ने हिंदी में काव्यरचना करके हिंदी की सेवा की है।

राजाश्रित कवि

चारण कवि — राजाश्रित कवियों को हम दो भागों में बाँट सकते हैं। एक राजाश्रित चारण कवि और दूसरे अन्य कवि। चारण कवियों ने डिंगल भाषा में और अन्य कवियों ने प्रायः व्रजभाषा में रचनाएँ की हैं। अपने ग्रंथों में आश्रयदाता राजाओं की प्रशंसा करना दोनों प्रकार के कवियों का उद्देश्य रहा है।

चारणों का पियर सोरठ — गुजरात का सोरठ प्रदेश 'चारणों का पियर' कहलाता है।[१५] पर गुजरात चारणों का मूल प्रदेश नहीं है। गुजरात के चारण राजस्थान से ही आकर यहाँ बसे हैं। गुजरात के राजाओं ने चारणों को आश्रय और अपने दरबारों में आदरणीय

१५. देखिए 'चारणो अने चारणी साहित्य' — मेघाणी।

स्थान दिया था। संभवतः इसीलिये सोरठ को 'चारणों का पियर' कहा जाता है। गुजरात में चारणियों का भी बड़ा आदर है। आज भी देवियों के समान उनकी पूजा होती है।

गुजराती चारणी साहित्य — अभी तक चारणी साहित्य का क्षेत्र राजस्थान ही माना जाता है, पर आगे चलकर यह स्पष्ट हो जायगा कि गुजरात में भी चारणी साहित्य की विपुल रचना हुई है। सन् १९४२ में श्रीयुत मेघाणी ने 'चारणों अने चारणी साहित्य' विषय पर गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी, अहमदाबाद के तत्वावधान में गुजराती में एक भाषण दिया था। यह भाषण ही गुजराती चारणी साहित्य की जानकारी का एकमात्र आधार है। स्व० श्री झवेरचंद मेघाणी को छोड़कर अभी तक अन्य किसी विद्वान ने गुजराती चारणी साहित्य के उद्धार का प्रयत्न नहीं किया।

भाषा और रस — गुजरात के चारणों ने डिंगल भाषा में मुक्तक और प्रबंधकाव्यों की रचना की है। भाषा पर गुजराती भाषा का भी प्रभाव है, जो स्वाभाविक है और एक हद तक क्षम्य भी।

चारणी साहित्य का मुख्य रस वीर है। चारणों की लेखनी से उतरे सैन्यसज्जा, अस्त्र-शस्त्र और युद्ध के वर्णनों को देखकर चकित रह जाना पड़ता है। युद्ध के हूबहू चित्र खींचने की कला चारणों की अपनी है। इस कला में कोई इनसे होड़ नहीं लगा सकता। युद्धवर्णन के अतिरिक्त शृंगार और शांत रस के चित्र भी गुजराती चारणों की लेखनी से सुंदर उतरे हैं।

प्रबंध काव्य — गुजरात के चारणों के प्रबंध काव्यों का प्रिय विषय पौराणिक आख्यान और आश्रयदाताओं का गुणगान है। श्रीधर कृत रणमल्ल छंद (सन् १४०० ई०) इस परंपरा की पहली कड़ी है। इसके पश्चात मोरवी के आश्रित कवि हरदास मीशण कृत भृंगी पुराण, जालंधर पुराण और समापरव, ईसर बारोट कृत हरिरस और देवयाण, कुंभा झुला कृत रुक्मणीहरण, सांया झूला कृत नागडमण, पाता भाई कृत जसाविलास, लांगीदास महेडू कृत एकादशी महात्म्य और और ओखाहरण और वजमल जो महेडु कृत विभाविलास गुजराती चारणों की डिंगल में लिखी गई प्रबंध रचनाएँ हैं। सांयाझुला कृत नागडमण से भाषा शैली का एक उदाहरण —

> कठां हूत आयो, अठे काज केहा।
> गृहा भूलियो बापरा साप गेहा।
> कहो कोर चम्पे रही आव कावे,
> असो बाल़ देखी दया मोर आवे।
> हजारां मुखा जागसी नाग हेवाँ,
> न ढूलो न छंडे निरुद्धार नेवाँ।
> महाकाल़ काल़ी न को बाल़ माने,
> पडी बोकरी आज ही काल़ पाने।
>
> — नागडमण

पिंगल ग्रंथ — गुजराती चारणों ने रस, अलंकार और पिंगल पर भी ग्रंथ बनाए हैं। इन ग्रंथों में विषय का विवेचन करने के साथ साथ इन्होंने अपने आश्रयदाताओं की

प्रशंसा भी की है। पिंगल ग्रंथों में नागपिंगल, हमीरपिंगल, रसपिंगल और रणपिंगल ग्रंथ विशेष उल्लेखनीय हैं।

मुक्तककाव्य — प्रबंध के साथ साथ मुक्तककाव्यों की रचना भी गुजराती चारणों के हाथों हुई है। गुजरात के चारणों ने दोहा और सोरठा का बहुत प्रयोग किया है। 'सोरठियों दूहाँ भला' वाली कहावत प्रसिद्ध ही है। सौराष्ट्र के चारणों के दोहे अत्यंत मार्मिक और सचोट हैं। दूहों की यह परंपरा सिद्धराज सोलंकी के दरबारी चारण अणंद करमाणंद के समय से गुजरात में उत्तरोत्तर समृद्ध होती दिखाई पड़ती है। आणंद करमाणंद के दोहों के अतिरिक्त सोनल और राणक देवी के दोहे भी प्राचीन गुजराती साहित्य की अमूल्य संपत्ति हैं। दोहा गुजरात के चारणों का प्रिय छंद रहा है। वीरों को विलासिता की नींद से झटक कर जगाने के लिये चारणों के तीक्ष्ण बाण इसी छंद में छूटे हैं। सोरठ की अनेक ऐतिहासिक और प्रेमकथाएँ इन दूहों के पंखों पर बैठकर सुदूर प्रदेशों में पहुँची हैं और आजतक जीवित रही हैं। एक चारणी साहित्य के विद्वान का दावा है कि सोरठा और सोरठ राग हिंदी को गुजरात की ही अनूठी देन है।[१६]

गुजरात के चारणों में आणंद करमाणंद, ईसर बारोट, साँया झुला, देवीदास, जसुराम गोपाल, कालिदास, वजमलजी महेंडु, पिंगलशी गढवी, केसरीसिंह, रविराज, युगलकिशोर, कनक कुशल दूला काग, आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। सोरठी दूहों के कुछ अप्रतिम उदाहरण द्रष्टव्य हैं —

जनम अकारथ ही गयो, भड सिर खग्ग न भग्ग।
तीखा तुरी न माणिया, गोरी गले न लग्ग॥

\+ + +

काग उडावण धण खड़ी, आयो पीव भडक्क।
आधी चूडी काग गल, आधी भूँय तडक्क॥

\+ + +

थंभ थडके मेडी हँसे, खेलन लागी खाट
सो सजणा भल आवियो, जेनीं जोताँ बाट
पहेलो पहेरो रेयणो, दिवठा झाकम झोल
पियु कंटालो केवड़ो, धण्य कंकुनी लोल
भीजो पहेरो रेनरो, वधिया नेह सनेह
धण्य त्यां धरती हो रही, पियु आषाढ़ो मेह
बीजो पहेरो रेणरो, दिवडा साख भरे
धण्य जीती पियु हारियो, राख्यो हार करे
चोथो पहोरो रेणरो, बोल्या कूकड काग
धण संभाले कंचवो, पियु संभाले पाग

(चारणो अने चारणी साहित्य से)

१६. 'क्षत्रीमित्र' के संपादक श्री धीरजसिंह के मतानुसार।

अन्य कवि — चारण कवियों के अतिरिक्त अन्य कवियों ने भी राजाओं के आश्रय में रहकर हिंदी में सुंदर रचनाएँ की हैं। ऐसे कवियों में सोमतीर्थ के पुहकर, काशी निवासी गुजराती कवि गंजन, अहमदाबाद निवासी और उदयपुर के महाराणा जगतसिंह के आश्रित कवि दलपतिराय वंशीधर, झालावाड़ के ओघड तथा अहमदाबाद के केवलराम, आदितराम और उत्तमराम कवीश्वर के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

७ - गुजरात के सूफी कवियों की हिंदीसेवा

गुजरात के सूफी संतों के हाथों भी हिंदी की बड़ी सेवा हुई है। बहुत से लोग इन संतों की भाषा को उर्दू कहते हैं। पर इन संतों ने कहीं भी अपनी भाषा को उर्दू नहीं कहा है। गुजरात के सूफी संतों ने सदैव अपनी भाषा को 'गुजरी' कहा है। वैसे भी उर्दू कोई स्वतंत्र भाषा नहीं है वह हिंदी को ही फारसी - अरबी शब्दों से मिश्रित एक विशिष्ट शैली है। गुजरात के सुप्रसिद्ध विद्वान डार साहब का कहना है कि 'यह गुजरात ही की पाक सरजमी थी जहाँ सबसे पहले उर्दू जबान को अदबी तशकील हासिल हुई।' डार साहब का यह कथन सत्य है। सूफी संतों और दरबारों की छत्रछाया में गुजरात में खड़ी बोली (उर्दू) को फूलने फलने का पर्याप्त सुअवसर प्राप्त हुआ था।

गुजरात में उर्दू शैली में रचना करनेवाले अनेक कवि हुए हैं। यहाँ हम संक्षेप में केवल उन प्राचीन सूफी संतों का उल्लेख करेंगे जिन्होंने खड़ी बोली के विकास में योग दिया है। सूफी संतों की यह परंपरा १४वीं शताब्दी ई० के अंतिम चरण से प्रारंभ होती दिखाई देती है।

गुजरात के सूफी संतों में शेख बहाउद्दीन बाझन (१३८८ से १५०६), काजी महमूद दरियायी (मृत्यु १५३५ ई०), शाह अलीजी गामधनी (मृत्यु १५६७ ई०), हजरत खूब मुहम्मद चिश्ती (१६१३ ई०), तथा हजरत कुतबेआलम, हजरत सैयद मुहम्मद जौनपुरी, शेख वजीहुद्दीन, संपद शाह हाकिम आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। गुजरात में गूजरी या उर्दू के नाम से खड़ी बोली की यह परंपरा आज भी जीवित है। अहमदाबाद के फख्र साहब जैसे वर्तमान शायर इस परंपरा के जीवित उदाहरण हैं। शेख बहाउद्दीन बाझन और फख्र साहब की कविता का एक एक नमूना यहाँ दिया जाता है —

यूँ बाजन बाजेरे इसरार छाजे
मंडल मन में धमके, रबाब रंग में झमके
सूफी उन पर ठमके
यूँ बाजन बाजे रे इसरार छाजे

— शेख बहाउद्दीन बाझन (१५वीं शती ई०)

अय फख्र हर कमाल है कोशिश ये मुनहसिर।
देहली में जो रहे वही अहले जबां नहीं॥

— फख्र साहब (वर्तमान)

८ - गुजरात के आधुनिक युग के कवियों और लेखकों की हिंदी सेवा

आधुनिक युग से तात्पर्य पिछले सौ - सवासौ वर्षों से है। इस समय तक गुजराती भाषा का पर्याप्त विकास हो चुका था और लगभग सभी कवि ब्रजभाषा और खड़ी बोली को छोड़कर

स्वभाषा में रचनाएँ करने लगे थे। गुजराती में कविता करने में जहाँ प्राचीन कवि एक प्रकार का संकोच अनुभव करते थे, वहाँ इस युग में पहुँचकर स्वभाषा में रचना करना एक गौरव की बात समझी जाने लगी। पर इस युग में भी कुछ गुजराती कवियों ने हिंदी के परंपरागत प्रवाह को गुजरात में प्रचलित रखा। ऐसे कवियों में नभुलाल (सन् १८०२ से १८७२), दलपतराम[17] (१८२० से १८९८ ई०), नर्मद (१८३३-१८८६ ई०), सवितानारायण (जन्म १८४० ई०), बालाशंकर (सं० १८५६ - १९९८), नान्हालाल (१८७७ - १९४५ ई०) हीराचंद कानजी (१९वीं शती), गोविंद गिल्लाभाई (१८४९ से १९२५ ई०), डाह्याभाई 'बुलबुल' (जन्म १८५७) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। वर्तमान कवियों में वीरायण महाकाव्य के कर्ता मूलदास, गाँधी बावनी के रचयिता दूलेराय काराणी, श्री सुंदरम् और 'परदेशी' नाम से रचना करनेवाली महिला शांतादेवी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। दलपतराम कृत 'श्रवणाख्यान' मूलदासकृत 'वीरायण' से इस काल के कवियों की रचनाशैली के उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं -

जो पितु मातु की भक्ति करी नहिं, तो हरि भक्ति करी न करी।
जो पितु मातु की पीर हरी नहिं, तो पर पीर हरी न हरी॥
जो पितु मातु की बानी धरी नहिं, वेद की बानी धरी न धरी।
जो पितु मातु पदे न ढरे रति, तो प्रभु पाव ढरी न ढरी॥

— श्रवणाख्यान, दलपतराम (१९वीं शती ई०)

नील कंज सम सुहत शरीरा,
नख द्युति मानहु उज्ज्वल हीरा।
भरित कपोल गोल अरुणारे,
कंठ सुललित कंबु अनुसारे॥
पूर्ण चंद्र आनन छबि छाये,
देखत काम कोटि लजवाये।
नयन पद्म शुभ प्रकाशवंता,
कुंचित केश कृष्ण सोहंता॥
ध्वज अंकुश धनुपद त्रय रेखा,
नाभि भँवर जन गंभिर देखा।
रानि अनुज्ञा किंकर पाई,
प्रमुदित वदन सुनाइ बधाई॥

— वीरायण काव्य, मूलदास (वर्तमान)

पद के अतिरिक्त इस युग में गद्यलेखन में भी गुजराती लेखकों ने हाथ बटाया है। हिंदी गद्य के प्रारंभिक चार उन्नायकों में से एक लल्लूलाल गुजराती थे। उन्होंने अपने आपको गुजराती कहा है, यही उनके गुजराती होने का सबसे बड़ा प्रमाण है। इनके पूर्वज गुजरात से ही आगरे जाकर बसे थे। गुजरात के हिंदीसेवियों में स्वामी दयानंद सरस्वती का उल्लेख भी

१७. दलपतराम और उनके हिंदी संबंधकाव्य 'श्रवणाख्यान' के विशेष परिचय के लिये देखिए 'साहित्य' अप्रैल १९५७ में लेखक का दलपतराम कृत श्रवणाख्यान शीर्षक लेख।

अनिवार्य प्रतीत होता है।• इन्होंने गुजराती होते हुए भी आर्यधर्म के प्रचारार्थ हिंदी को चुना और उसीमें अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'सत्यार्थप्रकाश' तथा अन्य ग्रंथों की रचना की। अन्य लेखकों में नारायण हेमचंद्र, महात्मा गांधी, काका कालेकर, पंडित सुखलाल जी, कन्हैयालाल मुंशी और इंद्र वसावड़ा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

प्रचारात्मक

गुजरात द्वारा की गई हिंदी की दूसरी सेवा प्रचारात्मक है। गुजरातियों ने हिंदी-प्रचार-आंदोलन में जो सक्रिय भाग लिया है और उसे राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित कराने के जो प्रयत्न किए हैं, उसे हमने प्रचारात्मक सेवा नाम दिया है और उसी का उल्लेख हम इस प्रकरण में करेंगे।

राष्ट्रभाषा आंदोलन — सन् १८५७ का आंदोलन दासता के विरुद्ध स्वतंत्रता का प्रथम आंदोलन था। यह आंदोलन यद्यपि संगठन और एकता के अभाव के कारण असफल रहा, पर इसने भारतवासियों के हृदय में स्वतंत्रता की उत्कट अभिलाषा उत्पन्न कर दी। आगे चलकर जब भारत के विभिन्न प्रांतों में स्वतंत्रता के लिये संगठित प्रयत्न प्रारंभ हुए, तो यह स्पष्ट हो गया कि बिना एक सामान्य भाषा के देश में संगठन होना असंभव है। देश के चोटी के नेता एक सामान्य भाषा की आवश्यकता पर जोर देने लगे। बंगाल के केशवचंद्र सेन और बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय, महाराष्ट्र के तिलक, गुजरात के महात्मा गांधी, दक्षिण के दीवान बहादुर टी० विजयराघवाचार्य और श्रीनिवास आयंगर आदि ने इस सामान्य भाषा के लिये हिंदी का नाम प्रस्तावित किया। हिंदी के लिये यह कम गौरव की बात नहीं है कि उसे राष्ट्रभाषा बनाने का प्रस्ताव अहिंदीभाषियों की ओर से रखा गया।

हिंदी की इस माँग को देखकर हिंदी भाषा और नागरी लिपि के प्रचारार्थ १६ जुलाई सन् १८६३ को काशी में नागरीप्रचारिणी सभा और १० अक्टूबर १६१० को प्रयाग में हिंदी साहित्य संमेलन को स्थापना हुई। आगे चलकर गांधीजी के सत्प्रयत्नों से १६१८ में मद्रास में दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा, १६२० में अहमदाबाद विद्यापीठ, १६३६ में वर्धा में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति और १६४२ ने हिंदुस्तानी प्रचार सभा, वर्धा की स्थापना हुई।

गुजरात में हिंदीप्रचार का काम करनेवाली सँस्थाएँ — इस प्रकार पिछले पचास-साठ वर्षों में समस्त भारत में हिंदीप्रचार का कार्य बड़े वेग और उत्साह के साथ हुआ। विश्व की शायद ही किसी भाषा का प्रचार इतनी शीघ्रता से और इतने बड़े पैमाने पर हुआ हो, जितना कि हिंदी का। अब हम गुजरात में हिंदी - प्रचार का काम करनेवाली संस्थाओं के प्रचारकार्य का उल्लेख करेंगे। गुजरात में हिंदीप्रचार का काम करनेवाली संस्थाएँ निम्नलिखित हैं —

१ – राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा की गुजरात प्रांतीय शाखा।
२ – हिंदुस्तानी प्रचार सभा, वर्धा (अब बंबई)
३ – गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद।
४ – बंबई विद्यापीठ, बंबई।

१. गुजरात प्रांतीय राष्ट्रभाषा - प्रचार - समिति।

अहिंदीभाषी प्रदेशों में हिंदीप्रचार करने के निमित्त संमेलन के अंतर्गत राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की स्थापना सन् १६३६ में हुई। इस समिति का कार्यक्षेत्र अत्यंत व्यापक है। गुजरात

इसका प्रमुख कार्यक्षेत्र है। इस समिति की स्थापना से ही गुजरात में हिंदीप्रचार का कार्य प्रारंभ हो गया था, पर गुजरात में सुचारु रूप से हिंदीप्रचार का काम करने के लिये इस समिति की गुजरात प्रांतीय शाखा की स्थापना सन् १९४४ में हुई। समिति का कार्यालय अहमदाबाद में रखा गया। इस प्रांतीय समिति के वर्तमान अध्यक्ष श्री कन्हैयालाल मुंशी और मंत्री श्री जेठालाल जोशी हैं।

समिति का कार्यक्षेत्र गुजरात, सौराष्ट्र और कच्छ तक विस्तृत है। समिति की ओर से प्रारंभिक, प्रवेश, परिचय, कोविद और राष्ट्रभाषारत्न नाम की हिंदी की पाँच परीक्षाएँ साल में दो बार ली जाती हैं। इस समिति के ८०० के लगभग परीक्षाकेंद्र और १००० प्रमाणित प्रचारक हैं। समिति की परीक्षाओं में लगभग ५० हजार परीक्षार्थी प्रतिवर्ष बैठते हैं।

इस समिति को गुजरात के चोटी के साहित्यकारों का सहयोग प्राप्त है। प्रचारकों और उत्साही कार्यकर्ताओं में श्री रणधीर उपाध्याय, श्री जयेंद्र त्रिवेदी, गोकुल भाई, प्रो० रामचंद्र पंड्या, श्री विपिनविहारी 'चटपट' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

२. हिंदुस्तानी प्रचार सभा, वर्धा

हिंदी उर्दू के मिलेजुले रूप हिंदुस्तानी का दोनों लिपियों में प्रचार करने के लिये इस सभा की स्थापना सन् १९४२ में हुई। इसके प्रथम सभापति डा० राजेंद्रप्रसाद, उप - सभापति गांधी जी और मंत्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल बने। इस सभा को भारतवर्ष के चोटी के नेताओं का समर्थन और सहयोग प्राप्त हुआ।

सभा का प्रमुख कार्यक्षेत्र पश्चिम भारत है, वैसे दक्षिण भारत को छोड़कर समस्त भारत में इसके १०० से अधिक केंद्र और २०० से अधिक प्रमाणित प्रचारक हैं। सभा के द्वारा पहली, दूसरी, तीसरी, काबिल और विद्वान ये पाँच परीक्षाएँ ली जाती हैं। सन् ५६ के अंततक इन परीक्षाओं में लगभग ३२००० हजार विद्यार्थी बैठ चुके हैं। सभा का परीक्षा-विभाग पैरीन सेप्टीन की देखरेख में बंबई में और साहित्यविभाग काकासाहब की निगरानी में दिल्ली में चलता है।

३. गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद।

इस संस्था की स्थापना राष्ट्रीय विश्वविद्यालय के रूप में सन् १९२० में गाँधी जी के हाथों हुई। स्थापनाकाल से ही विद्यापीठ में हिंदी का शिक्षण अनिवार्य रहा। सन् १९४६ से विद्यापीठ ने हिंदीप्रचार का काम करना प्रारंभ किया। इस संस्था ने गांधी जी की भाषा-नीति को अपनाकर उसके प्रचारार्थ पहली, दूसरी, तीसरी, विनीत और सेवक ये पाँच परीक्षाएँ प्रारंभ कीं। विद्यापीठ का कार्यक्षेत्र गुजरात तक ही सीमित है। सौराष्ट्र और कच्छ में इस संस्था की एक स्वतंत्र समिति 'सौराष्ट्र-हिंदी-प्रचार-समिति' के नाम से हिंदी-प्रचार-कार्य करती है। विद्यापीठ के ४०० के लगभग प्रचारकेंद्र और ५०० के लगभग प्रमाणित प्रचारक हैं। विद्यापीठ की परीक्षाओं में अबतक लगभग ६ लाख विद्यार्थी बैठ चुके हैं।

४. बंबई हिंदी विद्यापीठ।

इस संस्था की स्थापना बंबई में सन् १९३८ में हुई। संस्था के कुलपति राजबहादुर सिंह और मंत्री बीरबल सिंह रावत है। बंबई विद्यापीठ का प्रमुख कार्यक्षेत्र बंबई और गुजरात है।

इसकी गुजरात प्रांतीय शाखा की स्थापना सन् १६५० में 'गुजरात हिंदी - प्रचार - समिति' के नाम से स्थापित हुई। इस समिति की ओर से प्रवेश, प्रथमा, मध्यमा, उत्तमा, राष्ट्रभाषारत्न' साहित्यसुधाकर, साहित्यरत्नाकर आदि परीक्षाएँ साल में दो बार ली जाती हैं। लगभग १० – १२ हजार विद्यार्थी गुजरात से प्रतिवर्ष इन परीक्षाओं में बैठते हैं।

इन संस्थाओं के हिंदीप्रचार का अवलोकन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इन सभी संस्थाओं ने गुजरात में हिंदी के प्रचार और प्रसार में योग दिया है। आज गुजरात, काठियावाड़ और कच्छ में कुल मिलाकर २००० के लगभग केंद्र हैं, जिनमें ३००० से कहीं अधिक प्रचारक सेवाभाव से हिंदीप्रचार का कार्य कर रहे हैं। यदि हिंदीप्रचार की दृष्टि से देखा जाय तो गुजरात का स्थान अहिंदी - भाषी प्रदेशों में सर्वप्रथम है। इन संस्थाओं में यदि भाषा के स्वरूप के संबंध में आपसी मतभेद न होता तो गुजरात में हिंदी की प्रगति और भी द्रुत गति से हुई होती।

हिंदी-उर्दू-हिंदुस्तानी का झगड़ा पुराना हो चुका है, पर आश्चर्य की बात तो यह है कि विधान द्वारा हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में घोषित किए जाने पर भी अभी तक उसके स्वरूप के संबंध में मतभेद बना हुआ है। हिंदुस्तानी के प्रचारक विधान के आधार पर यह सिद्ध करते हैं कि राष्ट्रभाषा हिंदी का स्वरूप प्रांतीय हिंदी से भिन्न होगा।[१८] और वह स्वरूप अब न केवल हिंदी उर्दू के समन्वय तक ही सीमित रहेगा, बल्कि उसमें एक हद तक भारतीय भाषाओं का भी समन्वय होगा। ऐसी बातें हिंदी के हिमायतियों को चुभती हैं और वे प्राणपण से हिंदी के स्वरूप और कलेवर की रक्षा करने का प्रयत्न करते हैं।

परिणामस्वरूप संविधान के आठवें अनुच्छेद में उल्लिखित हिंदी के आधार पर प्रांतीय हिंदी और ३४३वीं धारा में वर्णित हिंदी के आधार पर राष्ट्रीय हिंदी की कल्पना उभर आई है। यदि हिंदीभाषियों ने हिंदी की व्यापकता को बाँधने का प्रयत्न किया, यह खाई दिन दिन चौड़ी होती जायगी और कोई आश्चर्य नहीं कि एक दिन प्रांतीय हिंदी और राष्ट्रीय हिंदी जैसी हिंदी की दो शैलियाँ भी चलने लगें। अतः विधान के आदेशानुसार हिंदी को अपने स्वरूप की रक्षा करते हुए आठवें अनुच्छेद में वर्णित सभी भाषाओं के शब्दों और मुहावरों से समृद्ध होने देना चाहिये। विशुद्ध संस्कृतनिष्ठ हिंदी का आग्रह रखना, अन्य भाषाओं के शब्दों से परहेज करना और जो विदेशी शब्द हमारी भाषा के अंग बन गए हैं उन्हें जानबूझ कर निकालने की कोशिश करना संविधान के आदेश का उल्लंघन करना है। इतना ही नहीं, इससे हिंदी का बड़ा भारी अहित होने की भी संभावना है।

हिंदी की व्यापकता और परंपरा तथा गुजरात की सर्जनात्मक और प्रचारात्मक सेवाओं का अवलोकन कर चुकने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक साहित्यिक और व्यापारिक आदि कारणों से अहिंदी भाषी प्रदेशों में हिंदी का प्रचार बहुत पुराने समय से था। सभी अहिंदी भाषी प्रदेशों ने हिंदी की थोड़ी बहुत सेवा की है। हिंदी के राष्ट्रभाषा बन जाने पर अहिंदी भाषी प्रदेशों की हिंदीसेवाओं का अनुसंधान और उद्घाटन आवश्यक प्रतीत होता है। इस सत्प्रयत्न से हिंदी तो समृद्ध होगी ही अहिंदी भाषी प्रदेशों

१८. देखिये 'लेंगवेज पेटर्न अंडर कांसटीट्युशन' — एम० पी० देसाई।

में हिंदी के प्रति जो तनाव है वह भी कम होगा और राष्ट्रभाषा और प्रांतीय भाषाओं के बीच की खाई, जो दिन दिन चौड़ी होती जा रही है, भर जायगी।

हेमचंद्राचार्य से लेकर आजतक गुजराती कवियों ने हिंदी की सेवा की है। अपभ्रंश, अवहट्ट, डिंगल, ब्रजभाषा, अवधी और खड़ी बोली आदि भाषाओं में गुजराती कवियों ने प्रबंध और मुक्तक काव्य लिखे हैं। प्रवीणसागर और वीरायण जैसे महाकाव्य, कान्हडदे प्रबंध रणमल्लछंद, बावीविलास, नागदमण और श्रवणाख्यान जैसे प्रबंधकाव्य, दयाराम सतसई, किशनबावनी, आनंदघन बहोतरी जैसे मुक्तक काव्य, अलंकार रत्नाकर, भावभूषण, पिंगलादर्श, वैकुंठपिंगल, रणपिंगल जैसे अलंकार और छंद शास्त्र के ग्रंथ, संगीतचौक देशा और संगीतादित्य जैसे संगीतशास्त्र के ग्रंथ तथा प्रेमसागर, सत्यार्थप्रकाश और घर की राह जैसे गद्य ग्रंथ लिखकर गुजरातियों ने हिंदी की प्रशंसनीय सेवा की है।

गुजरात के वैष्णव, स्वामिनारायणी, संत, जैन, राजाश्रित, सूफी और आधुनिक युग के कवियों और लेखकों ने हिंदी के विकास में योग दिया है। इन गुजराती कवियों और लेखकों में से कुछ तो प्रसिद्ध और लोकप्रिय हैं। स्वनामधन्य हेमचंद्राचार्य, प्रेमदिवानी मीरा, संत दादूदयाल, अष्टछाप के सुप्रसिद्ध कवि कृष्णदास, प्रख्यात संगीतज्ञ बैजू बावरा, उर्दू के बाबाआदम वली और हिंदी गद्य के निर्माता लल्लूलाल गुजराती थे। आधुनिक युग में सयाजी राव गायकवाड़, महात्मागांधी, कन्हैयालाल मुंशी, काका कालेलकर आदि गुजराती विद्वानों ने हिंदी की अनन्य सेवा की है।

इस खोज के आधार पर गुजरात के अनेक अज्ञात हिंदीसेवी कवियों और उनकी कृतियों को प्रकाश में आने का अवसर मिला हैं। पर इस दिशा में अभी बहुत कुछ करना शेष है। गुजरात के जैनभंडारों, चारण कवियों के उत्तराधिकारियों के निजी संग्रहालयों और राजाओं के पोथीखानों में अभी और कितने ही ग्रंथ अज्ञात और उपेक्षित पड़े हैं। आशा है गुजरात के हिंदीप्रेमी अनुसंधित्सु आगे चलकर इस कमी को पूरा कर लेंगे।

*

विश्वविद्यालयों द्वारा स्वीकृत शोधनिबंध

कृष्णाचार्य

साहित्यकार

अब्दुर्रहीम

समरबहादुरसिंह – अब्दुर्रहीम खानखाना — ऐतिहासिक स्रोत की दृष्टि से अध्ययन, (लखनऊ वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५७)

आलम

सरनदास भनोत, श्याम सनेही या आलम, (पंजाब वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५२)

कबीरदास

के०, एफ० ई० – कबीर एंड हिज फालोअर्स, कलकत्ता, आक्सफोर्ड यूनि० प्रेस, १९३१, (लंदन वि० वि०, पी-एच० डी०, १९३१)

शीलवती मिश्र – हिंदी संत और कबीर का विशेष अध्ययन, (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल०, १९४८, मूल शीर्षक—हिंदीसंतोविशेषतया सूरदास, तुलसीदास और कबीर पर वेदांत-पद्धतियों का ऋण—दर्शन विभाग से)

गोविंद त्रिगुणायत – कबीर की विचारधारा, कानपुर, साहित्य निकेतन, १९५२, ४६९ पृष्ठ १८५ सें० (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५१)

पारसनाथ तिवारी – कबीर का पाठ, (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्, १९५७)

केशवदास

हीरालाल दीक्षित – आचार्य केशवदास, लखनऊ, लखनऊ वि० वि०, १९५४, ६, ४३१ पृ०, २४ ५ सें० (लखनऊ वि० वि०, पी० एच० डी०, १९५०)

किरणचंद्र शर्मा – केशवदास : उनके रीतिकाव्य का विशेष अध्ययन

घनानंद

मनोहरलाल गौड़ – घनानंद और मध्यकाल की स्वच्छंद काव्यधारा, (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी, १९५४)

चंदबरदायी

विपिन बिहारी त्रिवेदी – चंदबरदायी और उनका काव्य, प्रयाग, हिंदुस्तानी एकेडेमी, १९५२, ४, ३७६ पृ०, २४ ५सें० (कलकत्ता वि० वि०, डी० फिल०, १९४८)

चरनदास

त्रिलोकीनारायण दीक्षित – चरनदास, सुंदरदास और मलूकदास के दार्शनिक विचार, (लखनऊ वि० वि०, डी० लिट् १९५६)

जगन्नाथदास रत्नाकर

विश्वंभरनाथ भट्ट – रत्नाकर, उनकी प्रतिभा और कला, (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५२)

जयशंकर प्रसाद

जगन्नाथप्रसाद शर्मा - प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन, बनारस, सरस्वती मंदिर, ३०९ पृ०, २१सैं० (काशी वि० वि०, डी० लिट्, १९४३)

प्रेमशंकर – प्रसाद का काव्य, प्रयाग, भारती भंडार, १९५५, १२, ५८८ पृ०, २१.५सैं० (सागर वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५३)

द्वारिकाप्रसाद सक्सेना – कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन, आगरा, विनोद पुस्तक मंदिर, १९५८, ४९८ पृ०, २२सैं० (आगरा वि० वि०, पी-एच डी

दरिया साहब

धर्मेंद्र ब्रह्मचारी शास्त्री – संत कवि दरिया : एक अनुशीलन, पटना, बि० राष्ट्रभाषा परिषद् १९५४, ९, २६४, २५६ पृ०, सचित्र, २३सैं० (पटना वि० वि०, पी-एच० डी०, १९४४)

तुलसीदास

वॉँद वील०, के० – रामचरित मानस का पाठक्रम (पेरिस डी० लिट्०)

कार्पेंटर जे० एन०–द थियोलाजी आफ तुलसीदास, मद्रास, क्रिश्चियन लिटरेरी सोसाइटी १९१८, २०२ पृ०, १८ सैं० (लंदन वि० वि०, डी० डी०, १९१८, हिंदी का प्रथम प्रबंध)

बलदेवप्रसाद मिश्र – तुलसी-दर्शन, प्रयाग, हिंदी साहित्य संमेलन, १९३८, ३४८ पृ०, २१सैं० (नागपुर वि० वि०, डी० लिट्०, १९३८)

हरिहरनाथ हुक्कू – रामचरितमानस के विशिष्ट संदर्भ में तुलसीदास की शिल्पकला का अध्ययन, (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९३९)

माताप्रसाद गुप्त – तुलसीदास संजीवनी और कृतियों का समालोचनात्मक अध्ययन, प्रयाग, प्रयाग वि० वि० हिंदी परिषद् १९४२, २०, ६१६ पृ०, २१.५सैं० (प्रयाग वि० वि०, डी० लिट्०, १९४०, मूल प्रबंध अंग्रेजी में स्वीकृत)

राजापति दीक्षित – तुलसीदास और उनका युग, काशी, ज्ञानमंडल, १९५२, २७, ४८६, पृ०, १५.८सैं० (काशी वि० वि०, डी० लिट्० १९४९)

देवकीनंदन श्रीवास्तव – तुलसीदास की भाषा, (लखनऊ वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५३)

रामदत्त भारद्वाज – तुलसी दर्शन – (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५३)

सीताराम कपूर – रामचरित मानस के साहित्यिक स्रोत, (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५५)

राजाराम रस्तोगी – तुलसीदास : जीवनी और विचारधारा, (पटना वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५७)

नागरीदास

फैयाज अली–संत नागरीदास, (राजस्थान वि० वि०, पी-एच० डी० १९५७)

परमानंददास

गोवर्धनलाल शुक्ल – कविवर परमानंददास और उनका साहित्य, (अलीगढ़ वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५६)

प्रेमचंद

शुक्ल, एस० एन० – उपन्यासकार प्रेमचंद : उनकी कला, सामाजिक विचार और जीवन-दर्शन, (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी० , १९५३)

महेंद्र भटनागर – समस्यामूलक उपन्यासकार प्रेमचंद, (नागपुर, वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५७)

राजेश्वर गुरू – प्रेमचंद, (नागपुर वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५७)

बरकत उल्लाह

लक्ष्मीधर शास्त्री – ऋषि बरकत ऊल्लाह प्रेमीकृत प्रेमप्रकाश का अनुसंधान, संपादन और अध्ययन, दिल्ली, फ्रैंक ब्रदर्स, १९४३, ४२, १७४ पृ०, २२ सें० (पंजाब वि० वि०, पी-एच० डी०, १९४५)

बालकृष्ण भट्ट

राजेंद्र शर्मा – बालकृष्णभट्ट, उनका जीवन और साहित्य, आगरा, विनोद पुस्तक मंदिर १९५८, ४३७ पृ०, २२ सें० (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५७)

बालमुकुन्द गुप्त

नत्थनसिंह – बालमुकुंद गुप्त, उनके जीवन और साहित्य का अध्ययन, (आगरा वि० वि० पी-एच० डी०, १९५७)

बालादास

भगवतीप्रसाद सिंह – उन्नीसवीं शती का रामभक्ति साहित्य : विशेषतः महात्मा बालादास का अध्ययन, (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५५)

भिखारीदास

नारायणदास खन्ना – आचार्य भिखारीदास, लखनऊ, लखनऊ वि० वि०, १९५५, ६, ३६८ पृ०, २४·५ सें० (लखनऊ वि० वि०, पी-एच० डी०; १९५२)

मलूकदास

त्रिलोकीनारायण दीक्षित – संत कवि मलूकदास, (लखनऊ वि० वि०, पी-एच० डी०, १९४८)

मलिक मुहम्मद जायसी

लक्ष्मीधर – पदुमावती—ए लिंग्विस्टिक स्टडी आफ दी सिक्सटींथ सैंचुरी हिंदी (अवधी), लंदन, लूज़क एंड कं०, १६४६, ६, ३३५ पृ०, २२ सैं० (लंदन वि० वि०, पी-एच०डी०, १६४०)

कुलश्रेष्ठ, जे० डी० – जायसी, उनकी कला और दर्शन (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १६४६)

मैथिली शरण गुप्त

उमाकांत गोयल – मैथिलीशरण गुप्त—कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता, (दिल्ली वि० वि०, पी-एच० डी०, १६५७)

कमलाकांत पाठक – गुप्तजी का काव्यविकास, (सागर वि० वि०, पी-एच० डी०, १६५७)

रविदास

भगवतव्रत मिश्र – संतकवि रविदास और उनका पंथ, (लखनऊ वि० वि०, पी-एच० डी०, १६५४)

श्रीधर पाठक

रामचंद्र – हिंदी के आरंभिक स्वच्छंदतावादी काव्य और विशेषतः पं० श्रीधर पाठक की कृतियों का अनुशीलन (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १६५६)

सुंदरदास

महेशचंद्र सिंहल – संत सुंदरदास, (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १६५६)

सूरदास

जनार्दन मिश्र – ? (कोनिग्सबुर्ग, पी-एच० डी०, १६३४)

ब्रजेश्वर वर्मा – सूरदास प्रयाग, वि० वि०, हिंदी परिषद् १६ , ५६३ पृ०, २१ सैं० (प्रयाग वि० वि०, डी-फिल्०, १६४५)

मुंशीराम शर्मा – भारतीय साधना और सूरसाहित्य कानपुर, आचार्य शुक्ल साधना-सदन, १६५३, ४६१ पृ०, २२ सैं० (आगरा वि० वि० पी-एच० डी०, १६५१)

हरवंशलाल शर्मा – श्रीमद्भागवत और सूरदास, (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी० १६५३)

रामधन शर्मा – सूर के दृष्टिकूट पद (पंजाब वि० वि०, पी-एच० डी० १६५४)

हरवंशलाल शर्मा – सूरदास और उनका काव्य, अलीगढ़ भारत प्रकाशन मंदिर, १६ (नागपुर वि० वि०, डी० लिट्०, १६५५)

मनमोहन गौतम – सूर की काव्य कला, दिल्ली, भारती साहित्य मंदिर, १६५८, २, ४०२ पृ०, २२ सैं० (दिल्ली वि० वि०. पी-एच० डी०, १६५६)

प्रेमनारायण टंडन – सूर की भाषा, लखनऊ, हिंदी साहित्य भंडार, १६५७, ८, ६२४ पृ० १४ सैं (लखनऊ वि० वि०, पी-एच० डी०, १६५७)

हरिश्चंद्र

शिवनारायण बोहरा – भारतेंदु हरिश्चंद (पंजाब वि० वि०, पी-एच० डी०, १६४६)

आधुनिक काव्य

केशरीनारायण शुक्ल – आधुनिक काव्यधारा, काशी, सरस्वती मंदिर, १९४४ (काशी वि० वि०, डी० लिट्०, १९४०, मूल अंग्रेजी में)

ब्रह्मदत्त मिश्र सुधींद्र – हिंदी कविता में युगांतर, १९०१–१९२०, दिल्ली, आत्माराम एंड संस, १९५०, १८, ५२२ पृ०, २२ सैं० (राजस्थान वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५०, मूल शीर्षक, द्विवेदी युग में हिंदी कविता का पुन–

शंभुनाथ पांडेय – आधुनिक हिंदी कविता में निराशावाद, आगरा, आगरा बुक स्टोर, १९५५, ४, ४२४ पृ०, २१ सैं० (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५५)

रामेश्वरलाल खंडेलवाल – आधुनिक हिंदी कविता में प्रेम और सौंदर्य (आगरा वि० वि० पी-एच० डी०, १९५५)

अविनाशप्रसादअग्रवाल – भारतेंदु युगीन हिंदी कवि, (लखनऊ वि० वि०, पी-एच० डी० १९५६)

गद्य काव्य

पद्मसिंह शर्मा कमलेश – हिंदी गद्यकाव्य, दिल्ली, राजकमल, १९५८, ८, ३०५ पृ०, २१ सैं० (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५४, मूल, हिंदी गद्यकाव्य का आलोचनात्मक और रूपात्मक अध्ययन)

अष्टभुजप्रसाद पांडेय – हिंदी में गद्यकाव्य का विकास, (काशी वि० वि०, पी-एच० डी० १९५७)

गीति काव्य

शिवमंगलसिंह सुमन – गीतिकाव्य का उद्गम, विकास और हिंदी साहित्य में उसकी परंपरा, (काशी वि० वि०, डी० लिट्० १९५०)

श्यामसुंदरलाल दीक्षित – कृष्णकाव्य में भ्रमरगीत, आगरा, विनोद पुस्तक मंदिर, १९५८ १९५८, ६, ४४० पृ०, २२सैं० (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५४।

स्नेहलता श्रीवास्तव – हिंदी में भ्रमरगीत काव्य और उसकी परंपरा, (दिल्ली वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५५)

भक्तिकाव्य

दीनदयालु गुप्त – अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, प्रयाग, हिंदी साहित्य संमेलन, १९४७, २ जि०, २४ सैं० (प्रयाग वि० वि०, डी० लिट्०, १९४४)

रांगेय राघव (टी० एन० वी० आचार्य) श्रीगुरू गोरखनाथ और उनका युग, (आगरा वि० वि०, पी० एच० डी, १९४८)

सावित्री सिन्हा – मध्यकालीन हिंदी कवयित्रियाँ, दिल्ली, आत्माराम, १९५३, ३१७ पृ०, २१ सैं० (दिल्ली वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५१)

जगदीश गुप्त – हिंदी और गुजराती कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन, (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्०, १९५३)

धर्मवीर भारती – सिद्ध साहित्य, प्रयाग, किताब महल, १९५५, ५४४ पृ०, २१ ५सैं० (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्०, १९५३)

रामखेलावन पांडेय – मध्यकालीन संत साहित्य, पटना (पटना वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५३)

उषा गुप्त – कृष्ण भक्ति काव्य में संगीत (लखनऊ वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५५)

बदरीनारायण श्रीवास्तव – रामानंद संप्रदाय तथा हिंदी साहित्य पर उसका प्रभाव, आगरा (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५५)

रत्नकुमारी – १९वीं शती के हिंदी और बंगाली वैष्णव कवि, दिल्ली, भारती साहित्य मंदिर, १९५६, ३, ४९० पृ०, २१ सैं० (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्०, १९५५)

जयराम मिश्र – आदि गुरु ग्रंथ साहबजी के धार्मिक और दार्शनिक सिद्धांत, (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५६)

मुंशीराम शर्मा – वैदिक भक्ति तथा हिंदी भक्तिकालीन काव्य में उसकी अभिव्यक्ति, (आगरा वि० वि०, डी० लिट्०, १९५६)

रामचंद्र तिवारी – शिवनारायणी संप्रदाय के हिंदी कवि (लखनऊ वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५६)

रामनिरंजन पांडेय – भक्तिकालीन हिंदी कविता में दार्शनिक प्रवृत्तियाँ, (नागपुर वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५६)

विजयेंद्र स्नातक – राधावल्लभ संप्रदाय, सिद्धांत और साहित्य, दिल्ली, नेशनल पब्लि० हाउस, १९५७, २४, ६१२ पृ०, २५ सैं० (दिल्ली वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५६)

शांतिप्रसाद चंदोला – नाथ संप्रदाय के हिंदी कवि, (लखनऊ वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५६)

ललितेश्वर झा – मैथिली के कृष्ण भक्त कवियों का अध्ययन, (लखनऊ वि० वि० पी-एच० डी०, १९५७)

महाकाव्य

हरिश्चंद्र राय – हिंदी साहित्य में महाकाव्य (लंदन वि० वि०, पी-एच० डी०, १९४९)

प्रतिपालसिंह – बीसवीं शती (पूर्वार्द्ध) के महाकाव्य, दिल्ली ओरियंटल बुकडिपो १९५५, ५, ३५० पृ०, ११·५ सैं० (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५२)

शंभुनाथ सिंह – हिंदी में महाकाव्य का स्वरूप - विकास, काशी, हिंदी प्रचारक पु०, १९५६, ७, ७१० पृ०, २२ सैं० (काशी वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५५)

पुष्पलता निगम् – हिंदी महाकाव्यों में नायक, (लखनऊ वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५७)

गोविंदराम शर्मा – हिंदी के आधुनिक महाकाव्य (पंजाब वि० वि०, पी-एच० डी०,१९५८)

सूफीकाव्य

(पृथ्वीनाथ) कमल कुलश्रेष्ठ– हिंदी प्रेमाख्यानक काव्य, १५००-१७५०, अजमेर, मानसिंह प्रकाशन, १९५३, ४२७ पृ०, १८ सैं० (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्०, १९४७)

विमलकुमार जैन – सूफीमत और हिंदी साहित्य, दिल्ली, आत्माराम, १६५५, २, २७१ पृ०, २१ सैं० (दिल्ली वि० वि०, पी-एच० डी०, १६५१)

हरिकांत श्रीवास्तव – हिंदी प्रेमाख्यानक काव्य, काशी, हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, १६५५, (लखनऊ वि० वि०, पी-एच० डी०, १६५१)

सरला शुक्ल – हिंदी सूफी कवि और काव्य, लखनऊ, लखनऊ वि० वि०, १६५६, (लखनऊ वि० वि०, पी-एच० डी०, १६५४)

विमल वाघ्रे – दक्खिनी हिंदी के सूफी कवि, (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्०, १६५४)

काव्य में नारी

शैलकुमारी माथुर – आधुनिक हिंदी काव्य में नारी भावना—१६००-१६४५, प्रयाग, हिंदुस्तानी एके०, १६५१, ८, २६४ पृ०, २४·५ सैं० (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्० १६४६)

रघुनाथ सिंह – आधुनिक हिंदी साहित्य में नारी, (काशी वि० वि०, पी-एच० डी०१६५६)

उषा पांडेय – मध्यकालीन काव्य में नारी भावना (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्० १६५७)

काव्य में प्रकृति

किरणकुमारी गुप्ता – हिंदी काव्य में प्रकृतिचित्रण, प्रयाग, हिंदी साहित्य संमेलन, १६४६, १०, ४८४, ८ पृ०, २२ सैं० (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १६४८)

रघुवंश (सहाय वर्मा) – प्रकृति और काव्य (हिंदी खंड), प्रयाग, साहित्य भवन लि०, २००५ वि०, (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल०, १६४८, मूलः हिंदी साहित्य के भक्ति और रीतिकालों में प्रकृति और काव्य)

विविध काव्य

पीतांबरदत्त बड़थ्वाल – हिंदी काव्य में निर्गुण संप्रदाय, अनु० परशुराम चतुर्वेदी, लखनऊ, अवध पब्लि० हाउस, १६५०, ८६, ४४२ पृ०, १८ सैं० (काशी वि० वि०, डी० लिट्० १६३४, मूलः दी निर्गुण स्कूल आफ हिंदी पोइट्री)

ब्रजमोहन गुप्त – काव्य में रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ – १६७५ तक, (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्० १६४६, अंग्रेजी में छपकर लुप्त)

कामिल बुल्के – रामकथा—उत्पत्ति और विकास, प्रयाग, हिंदी परिषद्, १६५०, ४, ५३२ पृ०, १८ सैं० (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल् १६४६)

सरजूप्रसाद अग्रवाल – अकबरी दरबार के हिंदी कवि, लखनऊ वि० वि०, १६५०, ६, ३५६ पृ०, २४ सैं० (लखनऊ वि० वि०, पी-एच० डी०, १६४६)

टीकमसिंह तोमर – हिंदी वीरकाव्य, १६००-१८००, प्रयाग, हिन्दुस्तानी एके०, १६५४, ४, ४१२ पृ० २४ सैं० प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्०, १६५२)

दयाशंकर शर्मा – हिंदी में पशुचारण काव्य, (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १६५४)

भोलानाथ तिवारी – हिंदी नीतिकाव्य, आगरा, विनोद पु० मंदिर, १६५८, ४२३ पृ०, २२ सैं० (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्०, १६५६)

विमला पाठक – रीवाँ दरबार के हिंदी कवि, (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल०, १६५६)

ओमप्रकाश – हिंदी काव्य और उसका सौंदर्य, दिल्ली, भारती साहित्य मंदिर, १९५०, १०, २६८ पृ०, २२सैं० (दिल्ली० वि०, पी-एच० डी०, १९५७)

गोविंद त्रिगुणायत – हिंदी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५७)

व्रजकिशोर मिश्र – अवध के मुख्य कवियों का अध्ययन, (लखनऊ वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५७)

रामयतनसिंह – हिंदीकविता में कल्पना विधान, (नागपुर वि० वि०, पी-एच० डी० १९५७)

हिंदी साहित्य का इतिहास

इंद्रनाथ मदान – मोडर्न हिंदी लिटरेचर—ए क्रिटिकल एनेलेसिस, लाहौर, मिनर्वा बुक शाप, १९३९, २४१ पृ०, २१.५सैं० (पंजाब वि० वि०, पी-एच० डी०, १९३८)

रामकुमार वर्मा – हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—७५० – १९५० ई० रामनारायणलाल, (नागपुर वि० वि०, पी-एच० डी०, १९४०)

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय – आधुनिक हिंदी साहित्य—१८५०–१९०० ई०, प्रयाग वि० वि० हिंदी परिषद्, १९४१, १७, २१८ पृ०, २१ सैं० (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल०, १९४०, मूल अंग्रेजी में)

श्रीकृष्ण लाल – आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास—१९००–१९२५, प्रयाग वि० वि० हिंदी परिषद, १९४२, २२, ४१३ पृ०, २१सैं० (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्, १९४१, मूल अंग्रेजी में)

उदयभानु सिंह – महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग, लखनऊ वि० वि०, १९५१, १६, ४३० पृ०, २३.५ सैं० (लखनऊ वि० वि०, पी-एच० डी० ?, १९४६)

नगेंद्र (नागाइच) – रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता, दिल्ली, गौतम बुकडिपो, १९४९, १६, २९९ पृ०, २१ सैं० (आगरा वि० वि०, डी० लिट्० १९४६) मूल रीतिकाल की भूमिका में देव का अध्ययन)

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय – आधुनिक हिंदी साहित्य की भूमिका—१७५७-१८५७ तक, प्रयाग वि० वि०, १९५२, १२, ५१६ पृ०, २१ सैं० (प्रयाग वि० वि०, डी० लिट्०, १९४६, मूल, हिंदी लिटरेचर एंड इट्स कल्चरल बैकग्राउंड फ्राम १७५७ टू १८५७)

जयकांत मिश्र – ए हिस्ट्री आफ मैथिली लिटरेचर प्रयाग, तिरभुक्त पब्लि०, १९४९-५०, २ जिल्द, २२ सैं० (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्०, १९४८, अंग्रेजी विभाग से)

मोतीलाल मेनारिया – राजस्थान का पिंगल साहित्य, उदयपुर हितैषी पुस्तक भंडार, (राजस्थान वि० वि०, पी-एच० डी०, १९—? विशेष विवरण देखिए सावित्री सिनहा कृत अनुसंधान का स्वरूप में डा० उदयभानुसिंह का लेख)

भोलानाथ – हिंदी साहित्य १९२६, १९४७, प्रयाग वि० वि०, हिंदी परिषद् १९५४, ३, ४६६, पृ०, २१ सैं० (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्०, १९५२)

राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी – रीतिकालीन कविता एवं शृंगार रस का विवेचन-१६०० १८५०, आगरा, सरस्वती सदन, १९५२, २२, ५३५ पृ०, १८ सैं० (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५२)

हरिवंश कोछड़ – अपभ्रंश साहित्य, दिल्ली, भारतीय साहित्य मंदिर, १९५६, १३, ४३५ पृ०, २२ सैं० (दिल्ली वि० वि०, पी-एच० डी० १९५२)

इंद्रपालसिंह – आदिकालीन हिंदी साहित्य की प्रवृत्तियाँ, (लखनऊ वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५५)

बच्चनसिंह – रीतिकालीन कवियों की प्रेमव्यंजना, वाराणसी, ना० प्र० सभा, १९५८, (काशी वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५८)

जगदीशप्रसाद श्रीवास्तव – डिंगल साहित्य, (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्०, १९५७)

जैन, डी० के० – अपभ्रंश साहित्य, (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५७)

नाटक

सोमनाथ गुप्त – हिंदी नाटक साहित्य का इतिहास, प्रयाग हिंदी भवन, १९४८, २७० पृ० २२ सैं० (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९४७)

शिवनंदन पांडेय – भारतीय नाटक साहित्य का उद्भव और विकास, (कलकत्ता वि० वि० डी० फिल्०, १९५१)

खन्ना, वी० पी० – हिंदी नाटक का उद्भव और विकास (पंजाब वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५२)

दशरथ ओझा – हिंदी नाटक : उद्भव और विकास, दिल्ली, राजपाल, १९५४, ५७५, १२ पृ०, १८ सैं० (दिल्ली वि० वि०, पी-एच डी०, १९५२)

वीरेंद्रकुमार शुक्ल – भारतेंदु का नाट्य साहित्य, प्रयाग, रामनारायणलाल, १९५५, ५, ३६० पृ०, २२ सैं० (सागर वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५२)

शकुंतला दुबे – हिंदी काव्यरूपों का विकास (काशी वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५२)

धर्मकिशोर लाल – अंग्रेजी नाटकों का हिंदी नाटकों पर प्रभाव, (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्०, १९५३, अंग्रेजी विभाग से)

देवर्षि सनाढ्य – हिंदी के पौराणिक नाटकों का आलोचनात्मक अध्ययन, (अलीगढ़ वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५६)

रामचरण महेंद्र – हिंदी एकांकी : उद्भव और विकास, दिल्ली, सत्साहित्य प्रकाशन, १९५८, ४४० पृ०, २२ सैं० (राजस्थान वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५६)

गोपीनाथ तिवारी – भारतेंदुकालीन नाटक साहित्य (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५७)

पांडुरंग राव मुरली – आंध्र हिंदी रूपक—हिंदी और तेलुगु का नाटक साहित्य: एक अध्ययन (नागपुर वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५७)

भानुदेव शुक्ल – भारतेंदुयुग के नाटककार, (सागर वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५७)

कथासाहित्य

लक्ष्मीनारायण लाल – हिंदी कहानियों की शिल्प-विधि का विकास, प्रयाग, साहित्य भवन लिमिटेड, १९५३, १४, ३६२ पृ०, ३१ ५सैं० (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्० १९५२)

शर्मा, बी० डी० - हिंदी कहानियों का विवेचनात्मक अध्ययन (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५४

देवराज उपाध्याय - आधुनिक हिंदी कथासाहित्य और मनोविज्ञान, प्रयाग, साहित्य भवन, १९५६, १६, ३५२ पृ०, २१ सें० (राजस्थान वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५५)

निबंधसाहित्य

त्रिपाठी, यू० सी० - हिंदी निबंध के विकास का आलोचनात्मक अध्ययन (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५१)

बलवंत लक्ष्मण कोतमिरे - हिंदी गद्य के विविध साहित्य रूपों के उद्भव और विकास का अध्ययन (काशी वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५६)

तुलना और प्रभाव

सरनाम सिंह - हिंदी साहित्य पर संस्कृत का प्रभाव, प्रयाग, रामनारायण लाल, १९५४, (राजस्थान वि० वि०, पी-एच० डी०, १९४९)

विश्वनाथ मिश्र- अंग्रेजी का हिंदी भाषा और साहित्य पर प्रभाव (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्०, १९५०)

रामसिंह तोमर - प्राकृत और अपभ्रंश का हिंदी साहित्य पर प्रभाव, (प्रयाग वि० वि० डी० फिल्०, १९५१)

जगदीश गुप्त - हिंदी और गुजराती कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्०, १९५३)

रवींद्रसहाय वर्मा - हिंदी काव्य पर आंग्ल प्रभाव, कानपुर, पद्मजा प्रकाशन, १९५४, ४, २९५ पृ०, २१ सें० (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्०, १९५३, अंग्रेजी विभाग से स्वीकृत द इन्फ्लूयेंस आव इंगलिश आन माडर्न हिन्दी पोइट्री एंड क्रिटिसिज्म)

भास्करन नय्यर, के० - हिंदी और मलयालम के भक्त कवियों का तुलनात्मक अध्ययन (लखनऊ वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५५)

रत्नकुमारी - १६वीं शती के हिंदी और बंगाली वैष्णव कवि, दिल्ली, भारतीय साहित्य मंदिर, १९५६, ३, ४९० पृ०, ११ सें० (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्०, १९५५)

विनयमोहन शर्मा - हिंदी को मराठी संतों की देन, पटना, वि० रा० भा० परिषद् १९५७, ३३, ५०० पृ०, २४ सें० (नागपुर वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५६)

हिरण्मय - हिंदी और कन्नड़ में भक्ति आंदोलन का तुलनात्मक अध्ययन, (काशी वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५६)

रामनाथ त्रिपाठी - कृतिवासी बंगला रामायण और रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५७)

शशि अग्रवाल - हिंदी कृष्णभक्ति साहित्य पर पौराणिक प्रभाव (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्०, १९५७)

प्रभाकर माचवे – हिंदी और मराठी संतकवियों का तुलनात्मक अध्ययन (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५८)

भाषा

मोहिउद्दीन कादरी जोर – हिंदुस्तानी फौनेटिक्स, विलेडनेसैंट - जोर्जेस, इंप्रीमेरी लू यूनियन टाइपोग्राफिक् १९३०, ११६ पृ०, १८ सें० (लंदन वि० वि०, पी-एच० डी०, १९३०, केवल प्रथम दो अध्याय ही प्रबंध के अंश हैं — संपूर्ण मूल पुस्तक संभवतः छपी ही नहीं, भाषा विषय पर पहिला और तिथिक्रम में दूसरा प्रबंध)

बाबूराम सक्सेना – इवोल्यूशन आफ अवधी — ए ब्रांच आफ हिंदी, प्रयाग, इंडियन प्रेस, १९३८, (प्रयाग वि० वि०, डी० लिट्०, १९३१)

धीरेंद्रवर्मा – व्रजभाषा, प्रयाग, हिंदुस्तानी एकेडेमी, १९५४, (पेरिस, डी० लिट्०, १९३५, मूल फ्रेंच में, ला लेंगुई व्रज (डाइलैक्टे द मथुरा, नाम से पेरिस से १९३५ में प्रकाशित)

नलिनीमोहन सान्याल – बिहारी भाषाओं की उत्पत्ति और विकास – मैथिली, मगही तथा भोजपुरी बोलियों के मौलिक तत्वों की आलोचना, प्रयाग, रामनारायण लाल, १९४२, १९४ पृ०, १७ सें० (कलकत्ता वि० वि०, डी० फिल्०, १९४३)

सुभद्रा झा – मैथिली भाषा का विकास, (पटना वि० वि०, पी-एच० डी०, १९४४)

उदयनारायण तिवारी – भोजपुरी का विकास, पटना, वि० रा० भा० परिषद्, १९५४, २२७, ३६० पृ० २४ सें० (प्रयाग वि० वि०, डी० लिट्०, १९३५)

हरदेव बाहरी – हिंदी अर्थविचार, (प्रयाग वि० वि०, डी० लिट्०, १९४५)

विश्वनाथ प्रसाद – भोजपुरी ध्वनियों और ध्वनिप्रक्रिया का अध्ययन (लंदन वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५०)

हरिहरप्रसाद गुप्त – ग्रामोद्योग और उनकी शब्दावली, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, १९५६, (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्०, १९५१)

कपिलदेव द्विवेदी – अर्थविज्ञान और व्याकरणदर्शन, प्रयाग, हिंदुस्तानी एकेडेमी, १९५१, ३२, ३८९ पृ०, २४ सें० (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्०, संस्कृत विभाग से)

गुणानंद जुयाल – मध्य पहाड़ी भाषा और उसका हिंदी से संबंध—एक आलोचनात्मक अध्ययन, (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५१)

कपिलदेवसिंह – व्रजभाषा बनाम खड़ी बोली, आगरा, विनोद पुस्तक मंदिर, ११ (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५५, मूल शीर्षक—गत सौ वर्षों में कविता के माध्यम के लिए व्रजभाषा, खड़ी बोली संबंधी विवाद की रूपरेखा)

शितिकंठ मिश्र – खड़ी बोली का आंदोलन, काशी, ना० प्र० सभा, १९५६, १५, ३६६ पृ०, १२ सें० (काशी वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५५)

शिवस्वरूप शर्मा अंचल – राजस्थानी गद्य का विकास (राजस्थान वि० वि०, पी-एच०, डी०, १९५५)

नामवर सिंह – पृथ्वीराज रासो की भाषा, काशी, सरस्वती प्रेस, १९५६, (काशी वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५६)

कणिका विश्वास – ब्रजभाषा और ब्रजबुलि साहित्य (काशी वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५७)

तारकनाथ अग्रवाल – बीसलदेवरासो की भाषा, (कलकत्ता वि० वि०, डी० फिल्०, १९५७)

शिवप्रसाद सिंह – सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, १९५८, (काशी वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५७)

साहित्यशास्त्र

अलंकार

ओम्प्रकाश कुलश्रेष्ठ – हिंदी अलंकार साहित्य, दिल्ली, भारती सा० मंदिर, १९५६, १०, २९७ पृ० २२ सें० (आगरा वि० वि०, पी-एच डी०, १९५१)

आलोचना

भगवतस्वरूप मिश्र – हिंदी आलोचना : उद्भव और विकास, देहरादून, साहित्य सदन, १९५४, ५, ६०५ पृ०, २१ सें० (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५१)

कक्कड़, आर० के० – आधुनिक हिंदी साहित्य में आलोचना का विकास १८६८-१९४३, (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५७)

रामदरश मिश्र– आधुनिक आलोचना की प्रवृत्तियाँ, (काशी वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५७)

रामलालसिंह – आचार्यशुक्ल के समीक्षा-सिद्धांत (सागर वि० वि०, पी-एच० डी० १९५६)

काव्यशास्त्र

रामशंकर शुक्ल रसाल – हिंदी काव्यशास्त्र का विकास, (प्रयाग वि० वि०, डी० लिट्०, १९३७)

भगीरथ मिश्र – हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास, गोरखपुर, वि० वि० प्रकाशन, १९५७, (लखनऊ वि० वि०, पी-एच० डी०, १९४७)

रमेशप्रसाद मिश्र – आधुनिक हिंदी साहित्य के बदलते हुए मानों का अध्ययन, (काशी वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५६)

छंदशास्त्र

मांहेश्वरी सिंह – मध्यकालीन छंद का ऐतिहासिक विकास (लंदन वि० वि०, पी-एच० डी०)

जानकीनाथसिंह मनोज – हिंदी छंदशास्त्र, (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्०, १९४२)

पुत्तूलाल शुक्ल – आधुनिक हिंदी काव्य में छंदोयोजना, (लखनऊ वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५२)

नायक-नायिका-भेद

छैलबिहारी गुप्त राकेश – नायक-नायिका-भेद (प्रयाग वि० वि०, डी० लिट्० १९५२)

रस शास्त्र

छैलबिहारी गुप्त राकेश – साइकालाजिकल स्टडीज इन रस, अलीगढ़, तारावतीगुप्त, १९५०, १७९ पृ०, २१ सैं० (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्०, १९४३)

आनंदप्रसाद दीक्षित – काव्य में रस, (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५६)

बरसानेलाल चतुर्वेदी – हिंदी साहित्य में हास्य रस, दिल्ली, हिंदी साहित्य संसार १९५७, ६, ३२२ पृ०, २२ सैं० (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५६)

ब्रजवासीलाल श्रीवास्तव – हिंदी काव्य में करुण रस, १४००-१७००, (आगरा वि० वि० पी-एच० डी०, १९५६)

वाद और संप्रदाय

प्रेमनारायण शुक्ल – हिंदी साहित्य में विविधवाद, कानपुर, पद्मजा प्रकाशन, १९५३, १६, ५२६ पृ०, २१ ५सैं० (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५२)

भोलाशंकर व्यास – ध्वनिसंप्रदाय और उसके सिद्धांत, काशी ना० प्र० सभा, १९५७, ५०९ पृ०, १२ सैं० (राजस्थान वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५३)

चंद्रकला – आधुनिक हिंदी काव्य में प्रतीकवाद, (राजस्थान वि० वि० पी-एच० डी०, १९५४)

सत्यदेव चौधुरी – रीति के प्रमुख आचार्य (दिल्ली वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५६)

लोक साहित्य

ओम्प्रकाश गुप्त – हिंदी मुहावरे, (काशी वि० वि०, डी० लिट्० १९४९)

सत्येंद्र (गौरी शंकर) – ब्रज-लोक-साहित्य का अध्ययन, आगरा, साहित्यरत्न भंडार, १९४९, ४, ५७५ पृ०, २० ५सैं० (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९४९)

कृष्णदेव उपाध्याय – भोजपुरी और उसका साहित्य, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, १९५८, (लखनऊ वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५२)

सत्यव्रत सिन्हा – भोजपुरी लोकगाथा, (प्रयाग वि० वि०. डी० फिल्०, १९५३)

कन्हैयालाल सहल – राजस्थानी कहावतें—एक अध्ययन, दिल्ली, भारती साहित्य मंदिर, १९५८, २९० पृ०, २२ सैं० (राजस्थान वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५४)

चिंतामणि उपाध्याय – मालवीय लोकगीत, (नागपुर वि० वि०, पी-एच० डी० १९५६)

हरिनाथ टंडन – वार्ता साहित्य का जीवनीमूलक अध्ययन (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५६)

कृष्णलाल हंस – निमाड़ी और उसका लोकसाहित्य, (नागपुर वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५७)

गोविंद सिंह कंदारी – गढ़वाली बोली की उपबोली, उसके लोकगीत और उसमें अभिव्यक्त लोक संस्कृति, (आगरा वि० वि०. पी-एच० डी०, १९५७)

बद्रीप्रसाद परमार – मालव लोकसाहित्य, (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५७)

सत्येंद्र (गौरीशंकर) – मध्ययुगीन हिंदी साहित्य के प्रेमगाथा काव्य और भक्तिकाव्य में लोकवार्ता तत्व, (आगरा वि० वि०, डी० लिट्०, १९५७)

सावित्री सरीन – ब्रज-लोक-कथाओं के अभिप्रायों का अध्ययन (कलकत्ता वि० वि०, डी० फिल्०, १९५८)

आनंदप्रकाश माथुर – १६वीं १७वीं शताब्दियों की सामाजिक अवस्था का हिंदी साहित्य के आधार पर अध्ययन, (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्०, १९४७ इतिहास विभाग से)

रामरतन भटनागर – राइज एंड ग्रोथ आफ हिंदी जर्नलिज्म १८२६–१९४५, प्रयाग, किताब महल, १९४७, २२, ७६८ पृ०, २१ सें० (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल्०, १९४८)

विद्याभूषण विभु – उत्तर प्रदेश के हिंदू पुरुषों के नामों का अध्ययन, (प्रयाग वि० वि०, डी० फिल०, १९५२)

चंद्रावती सिंह – हिंदी में जीवनी साहित्य (लखनऊ वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५३)

यदुवंशी – शैवमत, पटना, वि० रा० भा० परिषद् १९५५, ६, ३३८ पृ०, २४ ५सें० (लंदन वि० वि०, पी-एच० डी०, १९)

राजकुमारी शिवपुरी – राजस्थान के राजघरानों द्वारा हिंदीसेवा, (राजस्थान वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५५)

अंबाप्रसाद सुमन – कृषक जीवन संबंधी शब्दावली (अलीगढ़ क्षेत्र की बोली के आधार पर) (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५६)

गणेशदत्त – मध्यकालीन हिंदी साहित्य में चित्रित सामाजिक जीवन, (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५६)

शकुंतला वर्मा – आधुनिक हिंदी साहित्य में गांधीवाद (लखनऊ वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५६)

किशोरीलाल गुप्त – शिवसिंह सरोज की जीवनी और साहित्य संबंधी सामग्री की विवेचनात्मक परीक्षा, (आगरा वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५७)

लक्ष्मीनारायण गुप्त – हिंदी साहित्य को आर्यसमाज की देन, (लखनऊ वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५७)

विष्णुस्वरूप – कवि समय मीमांसा, (काशी वि० वि०, पी-एच० डी०, १९५७)

*

वि म र्श

हिंदी टंकणयंत्र का कुंजीपटल

•

ब्रजमोहन

एक समय था जब हिंदी टंकणयंत्र का बनना असंभव समझा जाता था। दो कठिनाइयाँ असाध्य समझी जाती थीं—ऊपर नीचे की मात्राओं की और युक्ताक्षरों की। निम्नलिखित मात्राएँ ऊपर नीचे दी जाती हैं —

ु, ू, े, ै, ं, ँ, ृ, ॅ, ्, ॆ, .

यदि इन मात्राओं के लिए भी टंकणयंत्र की सामान्य कुंजियों से काम लिया जाता तो ये मात्राएँ अक्षरों के ऊपर नीचे न पड़कर कुछ आगे पडतीं यथा, 'जैसे' इस प्रकार लिखा जाता ज ै स े। 'अंकुश' इस प्रकार लिखा जाता अ ं क ु श। इस प्रकार शब्दों की परंपरागत आकृतियों में बहुत कुछ विकार हो जाता। जहां तक हमें पता है सर्वप्रथम रेमिंग्टन कंपनी ने हिंदी टंकणयंत्र बनाया। तत्पश्चात् और भी कई प्रकार के टंकणयंत्र बाजार में आये—आलिवेत्ति, आलिम्पिया आदि। अब भी अधिकांश जनता रेमिंग्टन टंकणयंत्रों को ही अधिक पसंद करती है। रेमिंग्टन ने मात्राओं वाली कठिनाई तो गतिहीन (डेड) कुंजियां लगाकर हल कर ली। इन कुंजियों को दबाने से रोलर आगे नहीं खिसकता। अतः जो मात्राएँ ऊपर नीचे लगती हैं, वह अक्षर से पहले लगा ली जाती है। 'ले' लिखने में पहले े की मात्रा लगाई जायगी, तत्पश्चात् 'ल' लिखा जायगा। इस प्रकार मात्राओं वाली समस्या का तो सदैव के लिए समाधान हो गया। यह युक्ति इतनी सुगम थी कि अन्य कंपनियों ने इसे तुरंत अपना लिया।

रेमिंग्टन कंपनी ने कुछ युक्ताक्षर भी दिए हैं —

श्र, द्द, द्ध, त्त, त्र, ह्म, द्य

हम यहाँ क्ष और ज्ञ को युक्ताक्षरों में नहीं गिन रहे हैं क्योंकि इन अक्षरों की स्थिति के विषयमें भाषावैज्ञानिकों में मतभेद है।

यों समझना चाहिए कि रेमिंग्टन कंपनी ने उन युक्ताक्षरों को अपने कुंजीपटल में स्थान दे दिया जिनकी अधिकतर आवश्यकता रहती है। किंतु फिर भी काफी युक्ताक्षर ऐसे रह गए जिनको उनके कुंजीपटल में स्थान नहीं मिल सका। शेष कंपनियों ने जो यंत्र बनाये उनमें तो इतने युक्ताक्षरों को भी स्थान न मिल पाया। कारण, उन कंपनियों ने युक्ताक्षरों के बदले अंग्रेजी विराम चिह्नों को अपने कुंजीपटल में ले लिया। समस्त युक्ताक्षरों को इन यंत्रों पर हलंत चिन्ह लगाकर ही लिखना पड़ता है। ऐसे यंत्रों पर 'विद्या' जैसे शब्द को भी इस

प्रकार 'विद्या' लिखना पड़ेगा। इस कारण अक्षरों का स्वरूप तो बदलेगा ही, साथ ही लोगों की इस शब्द को 'विदया' पढ़ने की प्रवृत्ति बढ़ जायगी। इस समय भी उर्दू भाषी और पंजाबी हिंदी के बहुत से शब्दों का ठीक उच्चारण नहीं कर पाते। उक्त दशा में यह वैषम्य और भी बढ़ जायगा।

कुंजी-पटल-संबंधी अपने प्रस्ताव देने से पहले हम कुछ सामान्य गुणों पर विचार करेंगे जो हमारे विचार में हिंदी टंकणयंत्र में होने चाहिएँ —

१ - जहाँ तक हो सके, अक्षरों का स्वरूप न बिगड़ने पाए। जहाँ कहीं अनिवार्य हो जाय वहाँ भी यह प्रयत्न किया जाय कि अक्षरों के स्वरूप में कम से कम परिवर्तन हो।

२ - यदि हिंदी के समस्त युक्ताक्षरों का समावेश कुंजी पटल में हो जाय तो अत्युत्तम हो। यदि यह संभव न हो तो प्रयत्न करना चाहिए कि उनकी अधिक से अधिक संख्या का समावेश हो जाय।

हिंदी में कई प्रकार के युक्ताक्षर बनते हैं। कुछ अक्षर तो ऊपर नीचे लिखे जाते हैं जैसे गुप्त, कष्ट, म्लान, बच्चा।

अब अधिकांश लेखक इन अक्षरों को आगे पीछे लिखने लगे हैं जैसे —
गुप्त, कष्ट, म्लान, बच्चा।

अतः इस प्रकार के युक्ताक्षरों को कुंजी पटल में रखने की कोई आवश्यकता नहीं है।

कुछ अन्य युक्ताक्षरों पर विचार कीजिये —

श्र, क्त, त्त, त्र, क्र, रु, रू, ह्न, हृ

इस प्रकार के युक्ताक्षरों को हम दूसरे ढंग से भी लिख सकते हैं —

श्, क्त, त्त, त्र, क्र, रु, रू, ह्, हृ

अतः इस प्रकार के युक्ताक्षरों को भी यदि हम कुंजी पटल में स्थान न दें तो कोई हानि नहीं है।

इनके अतिरिक्त कुछ युक्ताक्षर ऐसे हैं जिनमें मौलिक अक्षरों का रूपांतर हो जाता है —

ट्य, ड्य, ह्य, द्म, द्य, द्ध, द्ध, द्व, द्व, द्ध, द्द, द्र, ह्व, ह्न, ह्ल, ह्न, ट्ट, ट्ठ, ड्ड, ड्ढ

इस प्रकार के युक्ताक्षर या तो इसी ढंग से लिखे जा सकते हैं या फिर हलंत लगाकर। यह प्रयत्न होना चाहिए कि इस प्रकार के समस्त युक्ताक्षरों का हमारे कुंजी पटल में समावेश हो जाय।

३ - हिंदी टंकणयंत्र पर टंकक की कम से कम उतनी गति हो सके जितनी अंग्रेजी टंकणयंत्रों पर हो सकती है। प्रयत्न तो यह होना चाहिये कि उससे भी तीव्र गति हो किंतु संप्रति यदि उतनी भी हो जाय तो उससे संतुष्ट हो जाना चाहिए।

४ - सन् १९५४ में लखनऊ में एक नागरी लिपि-सुधार-संमेलन हुआ था। उसने यह प्रस्ताव पारित किया था कि अंग्रेजी के समस्त विराम चिह्न हिंदी में अपना लिये जायँ। यों

भी अधिकांश हिंदी लेखक इन चिह्नों का प्रयोग करने लगे हैं। अतः इन चिह्नों को भी हिंदी टंकणयंत्रों में स्थान मिलना चाहिये।

५ - हिंदी टंकणयंत्र में १ से ६ तक के पूर्णांक और अंकगणित की चारों मूलभूत क्रियाओं के चिन्ह होने चाहिए। पूर्णांकों का तो प्रायः समस्त हिंदी यंत्रों में समावेश है किंतु चारों अंकगणितीय चिह्नों को अभी तक किसी भी यंत्र में स्थान नहीं मिला है। इसके अतिरिक्त यदि समीकरण चिह्न =, और कोष्ठकों को भी स्थान मिल सके तो अच्छा है। कुछ विशेष चिह्न ऐसे हैं जिनकी प्रायः आवश्यकता पड़ती ही रहती है —

तारिका, अधोरेखा, भागरेखा

इन चिह्नों का यथासाध्य हमारे कुंजीपटल में समावेश होना चाहिए।

६ - नागरी में अभी तक ये पाँच अक्षर दो प्रकार से लिखे जाते रहे हैं —

अ, अ; ण, ण; झ, झ; क्ष, क्ष; ल, ल

लखनऊ संमेलन ने इनमें से प्रत्येक का दूसरा रूप ही स्वीकार किया है। अ का मराठी रूप लिखना सुगम है। ण का मराठी रूप लिखने में रा का भ्रम होता है। अतः मराठी आधा ण लिखना अधिक उपयुक्त है। झ, ल के आधे अक्षर सरलता से नहीं बन सकते। क्ष का भी मराठी रूप सरल है। अतः इन्हीं रूपों को कुंजी पटल में स्थान मिलना चाहिए। हम केवल झ को इस नियम का अपवाद मानने को तैयार हैं। कारण झ को इस प्रकार लिखने में एक कुंजी की बचत होती है। यह बात इस लेख के अंत में स्पष्ट हो जायगी।

अब तक अंक ६ के तीन रूप प्रचलित हैं — ८ँ ६,९ इनमें से केवल यह रूप ९ ही लखनऊ संमेलन ने स्वीकार किया है। किंतु हम इस रूप ८ँ को अपनायेंगे क्योंकि इसको अपनाने में भी एक कुंजी बच जाती है।

७ - नागरी लिपि सुधार के संबंध में अ की बारहखड़ी का प्रश्न भी विवाद का विषय बना हुआ है। यहाँ हम इस प्रश्न के विभिन्न पक्षों पर विचार नहीं करेंगे। किंतु इतना निश्चित है कि भाषावैज्ञानिक भी जो अ की बारहखड़ी को अवैज्ञानिक बताते हैं, यह स्वीकार करते हैं कि ए, ऐ के ये रूप अे, अै सर्वथा वैज्ञानिक हैं। और इन रूपों को स्वीकार करने में एक कुंजी की बचत हो जाती है। अतः हम इन्हीं रूपों को अपनायेंगे।

८ - नागरी में अधिकांश अक्षरों के सस्वर और अस्वर दो रूप होते हैं। यदि ऐसे समस्त अक्षरों के अस्वर रूप ही दिये जाएँ, जिसके अंत में खड़ी पाई होती है तो खड़ी पाई जोड़ देने से सस्वर रूप बन जाता है। कई टंकणयंत्रों के कुंजी पटलों में कई एक अक्षर केवल अस्वर रूप में दिए रहते हैं। जैसे ज के स्थान पर केवल ज् होता है और ा जोड़ने से ज बन जाता है। इनमें संदेह नहीं कि इस प्रकार ज बनाने में दो कुंजियों को दबाना पड़ता है। इनका यह उपाय हो सकता है कि ा की कुंजी स्वचालित हो जिसका संबंध ऐसी समस्त कुंजियों से हो जिनमें अक्षरों के अस्वर रूप दिये हों। ज्योंही हम ज् को कुंजी दबायें; ा की कुंजी आप से आप दब जाय और ज् के अंत में ा अपने आप भिड़ जाय। जब कभी ज् ही बनाना अभीष्ट हो, तब 'कल बदल' को दबाना पड़े। इस प्रकार की युक्ति बनाना यंत्रज्ञों का काम है।

किंतु यदि यह मान लिया जाव कि इस युक्ति को व्यावहारिक रूप देना असंभव है तो भी जैसे अंग्रेजी में ja लिखने में दो कुंजियों का प्रयोग करना पड़ता है, उसी प्रकार नागरी में

भी दो कुंजियाँ दबानी पड़ेंगी। अतः हिंदी के टंकण में अंग्रेजी के टंकण से अधिक समय नहीं लगेगा।

रेमिंग्टन कुंजी पटल के दोष —

(क) बहुत से युक्ताक्षर नहीं हैं जैसे —

ह्य, ङ्क, ट्ट, ट्ठ, ह्म, द्ब, ड्ढ, ङ्ग, ड्ड, द्ध, द्व, द्द

(ख) इन अक्षरों के अस्वर रूप नहीं हैं —

ण, फ, ब

अतः उक्त टंकण पर निम्नलिखित शब्दों का मुद्रलेखन हो ही नहीं सकता —

अक्षुण्ण, विषण्ण, फ्यास, शब्द, ब्याह

(ग) र का यह ्र रूप नहीं है। अतएव इस प्रकार के शब्द ठीक प्रकार से नहीं लिखे जा सकते — राष्ट्र, ड्रामा। इस चिह्न के लिये हलंत और अर्ध र-कार दोनों बटन दबाने पड़ते हैं।

(घ) पाई को छोड़कर अन्य विराम चिन्ह नहीं हैं। अंकगणितीय चिह्न नहीं हैं। तारिका चिह्न, अधोरेखा, और भाग रेखा (सोलीडस) भी नहीं हैं। दाहिने हाथ की बिंदी भी नहीं है, अतः ङ बनाना असंभव है।

केंद्रीय सरकार का कुंजीपटल

हाल ही में केंद्रीय सरकार ने एक कुंजी पटल तैयार किया है। उसमें एक नये सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया है — अर्धगति सिद्धांत। कुछ अक्षर ऐसे हैं जो क्षैतिज दिशा में अन्य अक्षरों से आधा स्थान घेरते हैं जैसे इ, ई की मात्राएँ और व्यंजनों के अस्वर रूप। किंतु रेमिंग्टन यंत्र में ऐसे चिह्नों की कुंजियों को दबाने से भी पूरी गति होती है। इसका परिणाम यह निकलता है कि कुछ शब्दों के बीच में अधिक स्थान छूट जाता है, कुछ के बीच कम। मान लीजिए कि हमें यह लिखना है —

राम की बच्ची खेल रही है।

तो रेमिंग्टन पर यह वाक्य इस प्रकार लिखा जायगा —

राम की बच्ची खेल रही है।

'राम' और 'की' के बीच में जितना स्थान होगा उससे अधिक स्थान 'की' और 'बच्ची' के बीच में छूटा होगा। इसी प्रकार 'बच्ची' और 'खेल' के बीच में भी अधिक स्थान छूटा होगा। 'खेल' और 'रही' के बीच में कम स्थान छूटा होगा, 'रही' और 'है' के बीच फिर अधिक स्थान छूटा होगा। इसका कारण यह है कि इन पंक्तियों के समानांतर 'ी' उतना स्थान नहीं घेरती जितना 'म' और 'ल' घेरते हैं।

इसके अतिरिक्त बच्ची में भी 'च' और 'ची' के बीच में कुछ स्थान छूट जायगा जो बड़ा भद्दा लगता है।

सरकारी कुंजी पटल ने इस दोष को दूर कर दिया। इसके अतिरिक्त सरकारी कुंजी पटल में कुछ अक्षरों के केवल अस्वर रूप ही दिए गए हैं। इस प्रकार कुछ कुंजियाँ खाली बच रहीं

जिन पर उन्होंने अंग्रेजी विराम चिह्न और अंकगणित के चिह्न बैठा दिये। इस प्रकार कुंजी पटल में कुछ सुधार अवश्य हुआ।

सरकारी कुंजीपटल के दोष

१ - युक्ताक्षरों का सर्वथा अभाव है। अतः समस्त युक्ताक्षरों को हलंत लगाकर ही बनाना होगा। इस प्रकार युक्ताक्षरों का सौंदर्य ही नष्ट हो जायगा। इसके अतिरिक्त कुछ समय पश्चात् लोगों की हलंत चिह्न लगाने की आदत छूट जायगी। आज भी बहुत से लेखक पश्चात् और अर्थात् के अंत में हलंत चिह्न नहीं लगाते। इसी प्रकार कुछ समय पश्चात् इस प्रकार के शब्द हमें नित्य दिखाई पड़ा करेंगे।

अद्भुत, द्वार, लट्टू

और इस प्रकार लिखने के साथ साथ इन शब्दों का उच्चारण भी विकृत हो जायगा। यों भी हिंदी जनता इस परिवर्तन को कदापि स्वीकार नहीं करेगी।

२ - निम्नलिखित अक्षरों के अस्वर रूप नहीं हैं —

ख, ग, घ, फ, थ, भ

अतः उक्त टंकणयंत्र पर ऐसे शब्द नहीं छापे जा सकते।

ख्याति, भाग्य, कृतघ्न, पथ्य, फ्यास, सभ्य।

३ - इ की मात्रा का रूप बदल दिया गया है। नए रूप को हिंदी जगत ने स्वीकार नहीं किया है। इसी कारण लखनऊ के सन् ५७ के लिपि सुधार संमेलन ने उक्त सुधार को रद कर दिया और ई की मात्रा को वही पुराना रूप दे दिया।

हमारा प्रस्ताव

आजकल प्रायः समस्त मानक टंकणयंत्रों में ४६ बटन होते हैं और प्रत्येक बटन पर दो चिह्न होते हैं। इस प्रकार सब मिलाकर ९२ चिह्नों का मुद्रलेखन हो सकता है। हम इन ९२ चिह्नों को इन वर्गों में विभक्त करेंगे —

(अ) पूर्णगति कुंजियां —

१ - निम्नलिखित स्वर —

अ, इ, उ, ऋ = ४

२ - निम्नलिखित व्यंजन —

छ, ट, ड, ढ, द, र, व = ७

३ - निम्नलिखित युक्ताक्षर —

छ्र, ट्ट, ट्ठ, ड्ड, ड्ढ, द्द, द्ध, द्भ, द्म, द्ब, द्ग, द्घ, द्व, द्य = १४

४ - अंकगणतीय चिह्न —

१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ०, +, —, ×, ÷, =, /, (,) = १७

५ - विशेष चिह्न

ॣ, ॰, ॢ, ?, —; *, ।, ॑

य (यह य का विकृत रूप है जो अकाव्य, ग्राह्य में दृष्टिगोचर होता है)।

= ६

—

५१

(अ) अर्द्धगति कुंजियाँ —

१ - निम्नलिखित व्यंजनों के अस्वर रूप

क, ख, ग, घ, च, ज, झ, ण, त, थ, ध, न, प, फ, ब, भ, म, य, ल, श, ष, स

ह (= ह्), क्ष, ज्ञ = २५

२ - निम्नलिखित मात्राएँ —

ा, ि, ी, = ३

३ - विशेष चिह्न

., ' (अल्प विराम अर्थात् अंग्रेजी कामा) = २

—

३०

(इ) गतिहीन कुंजियाँ —

१ - मात्राएँ

ु, ृ, े, ै, ्, ं, ँ, ॅ, . = ६

२ - विशेष चिह्न

्, ॄ (र के चिह्न) = २

—

११

सारांश — पूर्णगति कुंजियां ५१
अर्धगति कुंजियाँ ३०
गतिहीन कुंजियाँ ११

—

९२

उपरिलिखित तालिका में निम्नलिखित चिह्न नहीं आए हैं —

क, फ, झ, ह, ठ, ऊ, ो, ौ .

किंतु इन समस्त चिह्नों के व्यक्त करने का साधन हमारे पास विद्यमान है —

(क) पूर्णगति कुंजियों में से विशेष चिह्नों के अंतर्गत तीसरा चिह्न इस प्रकार है। ऩ अब तनिक इन चिह्नयुग्मों पर विचार कीजिये —

व + ऩ = क
प + ऩ = फ अर्थात् ॰ + ा + ॒ = फ
भ + ऩ = म्ह
ह + ऩ = ह
ट + ऩ = ठ,
उ + ऩ = ऊ,
र + ऩ = रू।

इनमें से अंतिम चिह्न को हम इस प्रकार र् भी लिख सकते हैं।

हमने 'ब' को भी पूर्णगति कुंजियों में स्थान दिया है। हम इसको इस प्रकार भी लिख सकते हैं —

॰ + ा

इनमें से पहले चिन्ह के लिए भी किसी अतिरिक्त कुंजी की आवश्यकता नहीं थी क्योंकि यह काम हम शून्य बिंदु से ले सकते थे। किंतु ऐसी स्थिति में 'क' इस प्रकार बनेगा —

॰ + ा + ऽ

अतः क बनाने के लिए तीन बटन दबाने पड़ेंगे। और क प्रायः समस्त अक्षरों में सबसे अधिक प्रयुक्त होता है। अतएव उक्त दशा में टंकण की गति पर कुप्रभाव पड़ सकता है। इस कारण हमने 'व' को एक स्वतंत्र कुंजी दी है। तथापि यदि हमारा स्वचालित 'ा' की कुंजी वाला प्रस्ताव कार्यरूप में परिणत हो जाय तो 'व' की कुंजी की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। ऐसी दशा में हमारे पास एक कुंजी फालतू बच रहेगी। उक्त कुंजी पर हम ळ अथवा % बैठा सकते हैं।

हमने अपने कुंजीपटल में ह कोई स्वतंत्र कुंजी नहीं दी है। इसका कारण तो उपरिलिखित तालिका से स्पष्ट हो ही जायगा किंतु ह के और भी कई उपयोग हैं —

ह् + व = ह्व (ह्व)
ह् + न = ह्न (ह्न)
ह् + ल = ह्ल (ह्ल)
ह् + य = ह्य (ह्य)
ह + ृ = हृ (हृ)
ह् + ण = ह्ण (ह्ण)
ह + ् = ह् (ह्)

यह प्रस्ताव बिल्कुल नया नहीं है। बहुत से प्रेस अब इस प्रकार आधे 'ह' का चिह्न रखते हैं जो ह् का काम देता है।

(ख) पूर्णगति कुंजियों के अंतर्गत अंतिम चिह्न य है। इसकी सहायता से हम निम्न-लिखित प्रकार के शब्द लिख सकते हैं —

काव्य, जाड्य, वाह्य

इनमें से अंतिम चिह्न ह्य को लिखने का एक अन्य ढंग हम ऊपर दे चुके हैं किंतु यह पिछला ढंग अधिक वांछनीय होगा।

(ग) ओ और औ की मात्राओं के कारण कोई कठिनाई नहीं पड़ेगी क्योंकि

े + ा = ो
ै + ा = ौ

(घ) पूर्णगति कुंजियों में विशेष चिह्नों के अंतर्गत विसर्ग चिह्न दिए गए हैं। यही चिह्न उपविराम (अंग्रेजी कोलन का भी काम देंगे)।

(ङ) अंकगणितीय चिह्नों में से शून्य चिह्न के कई उपयोग हैं। यही चिह्न अस्वर व का काम देगा। इसके अतिरिक्त कभी कभी हम पंडित को पं० लिखते हैं। संक्षेप चिह्न का काम भी यही चिह्न देगा।

— के दो उपयोग हैं, — ऋण चिह्न और वियोजिका (हाइफन)

(च) अंकगणितीय चिह्नों में से एक चिह्न / है। यह चिह्न अंकगणितीय भिन्नों में 'बटे' का काम देगा। इसके अतिरिक्त इसीके द्वारा गलत अक्षरों को काट भी सकते हैं, यद्यपि यह काम पाई से भी किया जा सकता है।

(छ) अर्धगति कुंजियों के अंतर्गत विशेष चिह्नों में पहला चिह्न ़ है। इसकी सहायता से ड का ङ बनाया जा सकता है और , का ; (अंग्रेजी कामा का सेमी कोलन)। और यही चिह्न दशमलव बिंदु का काम भी देगा।

(ज) गतिहीन कुंजियों में मात्राओं के अंतर्गत अंतिम चिह्न ़ है। इस बिंदु का प्रयोग इस तालिका से स्पष्ट हो जायगा —

ड + ़ = ड़,
ढ + ़ = ढ़,
ज + ़ = ज़,
फ + ़ = फ़,
क + ़ = क़,
ग + ़ = ग़,
झ + ़ = .झ,
। + ़ = !

(झ) मात्राचिह्नों में एक चिह्न ँ भी है। इसका उपयोग इस प्रकार है —

ॅ रेफ चिह्न (कर्म, गर्व आदि में)

इ + ॅ = ई
द + ॅ = दॅ

(अ) ‸ का उपयोग र के चिह्न के अतिरिक्त काक पद (कैरेट) के लिये भी हो सकता है।

हमने इस लेख में केवल चिह्नों के स्वरूपों पर विचार किया है। कुंजी पटल में ये किस प्रकार सजाए जाएँगे, अर्थात् पहली पंक्ति में कौन कौन से चिह्न रहेंगे, दूसरी पंक्ति में कौन कौन से और प्रत्येक पंक्ति में पहला चिह्न कौन सा, दूसरा चिह्न कौन सा आदि बातों पर हम कोई राय नहीं दे सकते। यह काम प्रेस वालों का है।

हमारा विचार है कि हम ऊपर दिये हुए कुंजी पटल से हिंदी के समस्त युक्ताक्षर बना सकते हैं। और उक्त कुंजीपटल पर हमारी टंकण गति अंग्रेजी से कम नहीं होगी। इस कुंजीपटल पर यह आपत्ति हो सकती है कि इसमें 'क' बनाने के लिए दो बटन दबाने पड़ेंगे और समस्त अक्षरों में 'क' ही सबसे अधिक प्रयुक्त होता है। अतः हम यह विकल्प देते हैं कि सस्वर व्यंजनों में 'व' के स्थान पर 'क' दे दिया जाय और व को इस प्रकार —

ॅ + ‸ = व

बनाया जाय जैसा कि हम ऊपर इंगित कर चुके हैं। 'व' बहुत अधिक प्रयुक्त नहीं होता। अतः इस प्रस्ताव से टंकण गति पर कोई कुप्रभाव नहीं पड़ेगा।

*

चयन

धर्मसूत्रों का पुनर्निर्माण

सुरेशचंद्र बनर्जी

हारीत

[प्रस्तुत वाक्यानुक्रमणिका में हारीत धर्म सूत्रों के समस्त प्राप्त उद्धरणों को एकत्र करने का उपक्रम किया गया है। भारतीय संस्कृति के अध्येताओं के लिये यह प्रयास उपयोगी सिद्ध होगा। अतः जर्नल आफ द ओरिएंटल इंस्टीट्यूट, एम० एस० विश्वविद्यालय, बड़ौदा, भाग आठ, संख्या १, १९५८ में प्रकाशित इस अंग्रेजी सामग्री का अविकल देवनागरी रूप यहाँ उपस्थित किया जा रहा है।]

हारीत का धर्मसूत्र मुद्रित अथवा हस्तलिखित रूप में कहीं प्राप्त नहीं है। इस ग्रंथ की संभावना इस बात से प्रमाणित है कि हारीत के धर्म के विभिन्न अंगों पर प्रभूत गद्य उद्धरण स्मृति निबंधों तथा टीकाओं में मिलते हैं। अतः हारीत रचित माने जानेवाले समस्त उद्धरणों को अकारादि क्रम से संगृहीत करने का प्रयास किया जा रहा है। इस संग्रह में यथासंभव पाठ-भेदों का भी आकलन मिलेगा।

संकेत

अ० टी० — अपरार्क टीका
ब्रा० स० — ब्राह्मणसर्वस्व (हलायुध)
च० चि० — चतुर्वर्ग चिंतामणि, बी० आई० सं० कलकत्ता
दा० भा० — दायभाग (जीमूतवाहन) सं० जे० विद्यासागर कलकत्ता
गृ० र० — गृहस्थ रत्नाकर. बी० आइ० सं०, कलकत्ता
ह० गौ० — गौतम धर्मसूत्र, मिताक्षरा पर हरदत्त की टीका, आनंदाश्रम
हा० ल० — हारलता (अनिरुद्ध) बी० आई० सं० कलकत्ता
कृ० र० — कृत्यरत्नाकर, बी० आइ० सं० कलकत्ता
मिता० — याज्ञवल्क्य स्मृतिपर मिताक्षरा (विज्ञानेश्वर) नि० सा० प्रे०, बंबई १९२६
प्रा० प्र० — प्रायश्चित प्रकरण (भावदेव भट्ट). सं० जी० वेदांततीर्थ, राजशाही, १९२७
स्मृ० चं० आ० — स्मृति चंद्रिका (आह्निककांड) मैसूर, १९१४
स्मृ० चं० अ० — वही (अशौचकांड), मैसूर, १९२१
स्मृ० चं० श्रा० — वही (श्राद्धकांड), मैसूर, १९१८
स्मृ० चं० सं० — वही (संस्कारकांड), मैसूर १९१४
स्मृ० चं० व्य० — वही (व्यवहारकांड), भाग १, मैसूर १९१४, भाग २, मैसूर १९१६
श्रा० कौ० — श्राद्ध क्रिया कौमुदी (गोविंदचंद्र) बी० आई० सं०, कलकत्ता
शु० कौ० — शुद्धिकौमुदी (गोविंदचंद्र) वही वही
स्मृ० त० — स्मृतितत्त्व (रघुनंदन), सं० जे० विद्यासागर, कलकत्ता
स्मृ० त० खं० २ — वही खंड २
उ० — आपस्तंब धर्मसूत्र पर हरदत्त कृत उज्वला, बनारस
वि० र० — विवाद रत्नाकर, बी० आइ० सं०, कलकत्ता

अ

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
अग्निहोत्रवरायशाभिजितमश्नीयान्नान्यमभिजितात्मनस्त्वग्··· यशाभिजितमन्यमभिजितम् नाश्नीयात्	गृ० र०	६८
अज-मेष-महिष-हरिण-खड्ग-रुरुपृषतन्यंकु-रिन्न-महारण्य वासिनश्च महावराहान्	गृ० र०	३७५
अंगुष्ठस्योत्तरतो रेखा ब्रह्मतीर्थम्······प्रतिग्रहमाग्नेयेन प्रतिगृह्णीयात्	च० चि० तृ०-१	३३-३४
अणुत्वाल्लाघवाच्चापलाद्वायो योगाभ्रष्टस्य मनसः समा-नीयार्थयोजनं प्रत्याहारः	अ० टी०	१०२५
अथ सूनाम् ।व्याख्यास्यामो ।जंगम-स्थावरादीन् प्राणिनः सुनयन्तीति सूनाः	स्मृ० त० खं०-२	६३
अथ ब्राह्मणानाम् भोजनविधिम्···जातवेदो घृतं चक्षुरमृतम्···	गृ० र०	३१६०
अथ शारीरम् पवित्रम् । यदह्ना रात्र्या···पापमकार्षं रुद्रो मा तमसादेनसो विश्वान् मुञ्चत्वंहसः । [इसके आगे कुछ श्लोक] अवधूतो वा लंघितोप्सु जयेत पूतो भवति । शुचि···परिवदे-न्नाक्रोशेत्तद् व्रतम् सार्वकामिकम्	अ० टी०	१२२३-१२२४
अथ······धर्मः	कृ० र०	६
अथातो धर्मम् व्याख्यास्यामः । श्रुतिप्रमाणको धर्मः । श्रुतिश्च द्विविधा वैदिकी तान्त्रीकी च	एम० एम०	२८
अथातश्चान्द्रायणमनुक्रमिष्यामः	मिता०	४८५
अथातस्त्रिनयनोक्तस्य तुलापुरुषस्यकल्पं व्याख्यास्यामः ।··· यः पुरुषः पिंगलो बभ्रुर्हलमुपल······सुमना भव । अथ तुला-पुरुषमभिमंत्रयेत् । ऋषिसत्यं···आषाढ्याम् कार्तिक्याम् फाल्गुन्याम् पुण्ये वा नक्षत्रे एष विहितो धर्मः	अ० टी०	१२३६-१२४१
अथावर्णेषु प्रजाय न पतति पततीति संशयः न सर्वाण्येव जनयेन्न दुष्यति	गृ० र०	३८
अथाष्टौ विवाहाः संभवन्ति ब्राह्मो दैवो गांधर्व आसुरो राक्षसः पैशाचो मानुषः क्षात्रश्चेति । तेषाम् पूर्वे सप्तोभयतस्तेषाम् विन्दे-तालाभे मानुषम्	गृ० र०	५६
अथातोद्धृतान्नः पंक्तिमूर्धनि सर्वान् पृच्छत्यग्नौ करिष्ये	स्मृ० चं० श्रा०	३१७
अथोदकुम्भ-कुश-पुष्प-समिन्मूल हरण संमार्जनोपलेपांग-शुश्रूषाप्रभृतिभिर् गच्छंतम् तिष्ठन्तम् शयानम् आसीनम् भक्त्या-नुवर्तेत नास्य निर्माल्य शयनासन छाया पादुके वा कामयेत	स्मृ० चं० सं०	११६

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
अद्भिरभ्युक्ष्य दद्यादालभ्य	स्मृ० त०	२२३
अधो……पुराणाः	वि० र०	२४६
अधो……ब्राह्मणाः	वि० र०	२६५
अध्व गमना क्रोशपूरणम्	वि० र०	१८५, २४६
अनाहिताग्निश्चेदन्यमादध्याज्जनाग्निम् वा परिगृह्य	स्मृ० चं० व्य०	५६४
अनाश्रमी संवत्सरं प्राजापत्यं चरित्वा आश्रममुपेयात्। द्वितीये कृच्छ्रं तृतीये कृच्छ्रातिकृच्छ्रमता ऊर्ध्वं चांद्रायणम्	अ० टी०	११५७
”	मिता०	४५०
अनिन्दन्ननन्यैर्वितर्कयन् विधिवद् वस्त्रयुगम् दत्वा सह धर्मम् चर्यतामिति ब्राह्मः	गृ० र०	६६
” ['ब्राह्मः' के स्थान पर 'प्रजापत्यः' तथा अन्य साधारण पाठांतर]	च० चिं० १	६८५
अनिष्ट-गंधो-पघ्रातश्रवण-दर्शन केशकीट…अन्नाद्यस्योपघातेन काञ्चन-रजत-भस्म…अन्यतमेनाद्भिः-संपृष्टमंत्र-प्रोक्षण-पर्यग्नि-करनमा-दित्य-दर्शनात् पूतम् भवति	अ० टी	२६७
अनुक्तानां सत्वानाम् भक्षणेतिकृच्छ्रो ग्राम्यानाम् चांद्रायणम्	ह० गौ०	२००
अनृता……चोत्तमानाम्	वि० र०	२५१
अंतर्वोरत्नीं कृत्वा त्रिरयोहादिंश्च पिबेत्	ह० गौ०	३३४
अन्यापरिगृहीतश्चापः	एच० के०	१०१
अप्रजाम् नवमे वर्षे	स्मृ० चं० व्य०	५७४
अभिप्लुतानुपेत्य परदारानधो वर्णान् वेदमापः प्रवर्ह्तेत्यंतर्जलेऽष्टशतम् जप्त्वा तिलाधकं ब्राह्मणाय दद्यात्	अ० टी०	११२१
अर्धं पञ्चमान् मासानधीत्य उत्सृजति पञ्चार्ध षष्ठान् वा	च० चि० ३-२	३६७
असद्द्रव्य प्रणितो यज्ञः प्रस्रवति अनृत्विक्प्रणितः च्यवते। अविद्वत्प्राणितः……यैर् उपसिष्टो यज्ञो अलाबुकोभवति	गृ० र०	१२७
असद्रव्यदानम् अस्वर्गम् यच्च दत्वा…दीयमान द्रव्यासमर्पणम्	च० चि० प्र०	१८-१६
असुरा-मद्य-पानेऽल्पके श्लेष्मातकप्राशने माषमसूरकवमने मरीचभक्षणे मेध्यावपन्नानां अपाम् पाने च सांतपनमेव चरेत्	अ० टी०	११६०
असौ तृप्यतामिति उदकांजलिं नियमयति	हा० ल०	१४६

आ

सूत्र	उद्धरण-निर्देश	पृष्ठ
आकृष्णेनेत्यादित्यम् उपतिष्ठन् सर्वं भूतात्मा भवति	ब्रा० स०	५६

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
आगुल्फात् क्षालयेत् पादौ	शु० कौ०	३३८
आपत्सु कृषि प्राहुः कृषिश्चेदायोवानवियायोज्य (?) बाल वृद्ध न पर्वसु संधि वेलयोर्वाहयेत् । विहल्येत चेत्''' । स्नात्वाऽन लुब्धोऽलंकृत्य ब्रह्मणान् भोजयेत् । सीरभेयानाम् पुण्य-निमित्तं षड्-भागं राज्ञे दत्त्वा पञ्चमाद् ब्राह्मणांस्तोषयेत्	अ० टी०	६३७
" (अनेक पाठांतरों से युक्त)	गृ० र०	४३०
आमम् वा गृह्णीरन् कृतान्नस्य वा चिरमस्य न सुभिक्षाः । स्वयमप्य वृत्तौ वृत्तिं प्राप्य विरमेत्	गृ० र०	४६२–४६३
आ मणिबंधात् प्रक्षाल्य आ जंघात् पादौ	स्मृ० चं० आ०	२५५
" [पाठ इस प्रकार है — आ मणिबंधात् पाणिं प्रक्षाल्य जंघा-भ्याम् पादौ ज्ञाति श्रेष्ठ कामोऽन्नाद्यकामो वा दक्षिणे चरणांगुष्ठे पाणिमवस्नाव्य प्राणानालभ्य नाभिमुपस्पृशेत्]	गृ० र०	१५१
आमंत्रिता आमंत्रयिता च शुचयस्ताम् रात्रिं निनयेयुः	आ० कौ०	८२
आयम् गौः पृश्निरक्रमीद् इत्येतामृचाम् त्रिरंतर्जले जपन् सर्वस्मात् पापात् प्रमुच्यते आरोग्य वृत्तिः चिकित्सतमुपपति...... पापयोनिषु जायंते तस्मान्नासद्वृत्तिः स्यात्	गृ० र०	४५१
आसनाभिवादनोत्थानर्घ्यातिथ्यानि धर्मसाधनानि साधूनामे-तेषाम् प्रदाने कन्याया अतिक्रमो न विद्यते	गृ० र०	५५
आहिताग्निश्चेत् प्रमीयत औपासनावदग्निम् प्रगृह्य सपराशिभिरंतुसवनमिन्धानावसेत्	स्मृ० चं० व्य०	५६४
इ		
इमं म इत्युदकावर्तनम्	ब्रा० स०	२५
उ		
उच्छिष्टस्य गमन एकाहमुपवासः । न गृही नियमातिक्रमेऽ-श्नीयात्	अ० टी०	११८८
उन्नायनान् माता-पितृजम् पाप्मानमपोहति	ब्रा० स०	१८६
उपाध्याये राजनि च मृते श्रोत्रिये च मृते सब्रह्मचारिणी च चंद्रार्क्यो राहुदर्शने शक्रध्वज पतन आचार्ये च मृते त्रिरात्रम्	अ० टी०	१६०
ऋ		
ऋतमिति संभूताभिधानम् । नात्र ऋतमस्तीत्यनृतम् । तच्चतु-र्विधम्'''तस्मान्न व्यसनादिभिः क्रिणियान्न विक्रिणीयात् न कितव-वृत्तिः स्यात्	गृ० र०	५०८

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
ऋतांमृतोपहृत संपन्न वृत्यापत्सद्वृत्तयो भवति	गृ० र०	४१५

ए

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
एकव्रत······भवन्ति	वि० र०	४१०
एकालिंग तिस्रोऽपाने दद्याद्दादश सव्ये षट् पृष्ठे सप्त पद्भ्याम्	स्मृ० चं० आ०	२४५
एकालिंगे तिस्रोऽपाने दद्याद्दादश सव्ये षट् पृष्ठे सप्त पद्भ्याम् ('दद्यात्' और 'दश' के बीच 'मृत्तिकामादोषात्' विशेष समाविष्ट; 'षट्' की आवृत्ति दो बार; 'सप्त पद्भ्याम्' के लिये 'सप्तोभाभ्याम्'; पंक्तियों के अंत में निम्नलिखित अंश विशेष—द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम् त्रिगुणम् वानप्रस्थानां चतुर्गुणं भिक्षूणाम्)	गृ० र०	१४६
एतेषामेवाध्धीयानामंतरागमने सत्रामुपवासस्त्यहं च विवसेत्	स्मृ० चं० सं०	१५८
एतेषामेकतमेनोढाम् धर्मपत्नीं प्राहुः	गृ० र०	६०
एतैरष्टभिर्गर्भसंस्कारैर्गर्भोपघातात् पूतो भवति	ब्रा० सं०	१८६, १९६, १९४, २०३, २०७
एवमेव गुरु-पितृव्य-स्त्री-गमने कन्या सगोत्र स्वस्त्रीया-गमने चांद्रायणम् वा साभ्यासे मतिपूर्वके च पितृव्यादि स्त्री-गमने गुरुतल्प प्रायश्चित्तम्। अन्यथा तु चांद्रायणम्	अ० टी०	१०८६

ओ

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
ओम् तेजोऽसीति अन्नाद्यपनीयमानमभिमंत्रयेत्। ओम् द्यौस्त्वा ददात्विति···। अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा···हविरग्निः सोमः इति जपेत्	ब्रा० स०	१७१

औ

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
औदररेतसकामजक्रोधजहर्षजानग्नीन्···लोक द्वय संतापकत्वा-दग्नित्वमेतेषाम्	गृ० र०	४६५

क

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
कनिष्ठायाः पश्चात् प्राजापत्यमावपनम् होम-तर्पणे प्राजापत्येन कुर्यात्	स्मृ० त०	६८८
कन्यादूषी सोमविक्रयी वृषलीपतिः कौमारदारात्यागी सुरा-मद्यपः शूद्रयाजक···मासम् गोमूत्र यावकमश्नीयुः	मिता०	४८८
" ('प्रतिहंता' के लिये 'प्रतिकर्ता')	अ० टी०	११५३
कामं दीने प्रोषिते आर्ति गते वा ज्येष्ठोऽर्थाश्चितयेत्	स्मृ० चं० व्य०	६०४
कार्ष्णायस्य पर्यायोऽधश्शायिनोऽध उपवेशिन एकं पिण्डमुदकांज-लिं च निरस्य पाणिषु मृण्मयेषु पत्रपुटेषु वाश्नीरन्	हा० ल०	१५८

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
कालेयपालाशकोविदारश्लेष्मातकविल्वकंटकिवृक्ष निर्गुण्डी-शिखंडिशिरोषमालतीकरवीरखदरीकारंजवेणुवर्जम्	स्मृ० चं० भा०	२८०
"		
['कालेय' के लिये 'काले'; 'विल्व' के लिये 'विल्वक'; 'कंटकि…करञ्ज' के स्थान पर पाठ है 'शाकवृक्ष निशुंठी शिखंडि'; पंक्ति के आगे विशेष—सप्तमाषकवदरीकरंजशमीशिशपा इत्येका। दधिथा हारीतक्यश्च कर्णशात निम्बामलकानित्यपर। बिल्वखदिराम्रपैलालशिरीपा पार्माणमेकतमयनार्द्रम् नातिशुष्कम् नाति स्थूलमयोथिताग्रमनौष्ठ…उदन्मुखो वाग्यत आसीनो दंत-धावनम् भक्षेत]	गृ० र०	१७३
कुरुष्वेत्यनुज्ञातः पूर्वोधृतेग्नौ सकृदाच्छिन्नैर् उपमूलातुनैः परिस्तीर्य समित्तंन्त्रेण प्रांङ्मुखो मेक्षणेनाहुतिद्वयम् हुत्वा मेक्षणमग्नावेव कुर्यात्	स्मृ० चं० भा०	३१८
कृतिर्नियमो जैह्मम् नियमार्जवम् छद्ममाया व्याजयुक्ता निकृतिः काठिन्यासाध्यवैषम्य-दौष्टयम् सद्भावयुक्तम् ह्येतन्निय-मार्जवम् भवति	गृ० र०	५२५
कृमिकीटपिपीलिकाजलौकःपतंगास्थिप्राशने गोमूत्र गोमया हारस्त्रिरात्रेण विशुध्यति	मिता०	५५४
क्रोध…संतोषो गुरु सुश्रूषा चेति नियमः। कर्म…व्याधायः संभवन्ति	गृ० र०	५२५
क्षत्रियस्याभिवादनेऽहोरात्रमुपवसेदेवम् वैश्यस्यापि शूद्रस्याभिवादने तिरात्रमुपवसेत्	स्मृ० त०	७६१
क्षत्रियवद् ब्राह्मणीपु वैश्यवत् क्षत्रियायाम् शूद्रवद् वैश्यायाम् शूद्रम् हत्वा नव मासान्	मिता०	४३३
क्षीरोपस्वेद-चंड-निर्णोदनप्रक्षालनादि-भिर् वासांसि शुध्यंति एवम् तपो-दान-यज्ञैः पापकृतः शुद्धिमुपयान्ति ध्मायमाना इव धातवोऽग्नौ दोषोभ्यस्तस्मात् विश्रम्भात स्नेहात् लोभाद् भयाद प्रमा-द्वा अशुभम् कृत्वा सद्यः शौचमारभेत	स्मृ० त०	४७४
क्षीर होताऽहार्यं वृत्तो विशेषवृतः.	अ० टी०	६६

ग

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
गर्दभचर्म परिधाय	एम० एम०	४४३
गर्भपतने त्रिरात्रम् स्त्रीणाम् साधीयो राजो विशेपत्वात्	हा० ल०	६६
"		
['पतने' के स्थान पर 'स्रावे'; 'त्रिश्रो' तथा 'स्त्रीणाम्' विपर्यित 'पित्रादि सपिंडानाम् त्वत्र सद्यःशौचम्' पाठ अधिक]	एम० एम०	१६१

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
गर्भघ्नीमधोवर्णं शिष्य गुरुगामिणीं पानव्यासक्तां धनधान्य-विक्रय कारिणीम् च वर्जयेत्	स्मृ० चं० व्य०	५७८
गर्भिणीमधोवर्णगाम् शिष्यसुतगामिनीम् पापव्यसनासक्ताम् धनजान्यक्षयकारीम् वर्जयेत	स्मृ० त० खं० २	१५०
[यह अंश पूर्वांश की अपेक्षा कुछ परिमार्जित किया हुआ है]		
गर्भाधानवदुपेत ब्रह्मगर्भम् संदधाति···एतैरष्टाभिः संस्कारैर्गर्भ-धातात् पूतो भवति	स्मृ० त०	८५७
गुडतिलपुष्पमूलफलपक्वान्न विक्रये सोमपानम् सौम्यः कृच्छ्रः। लाक्षालवण···संवत्सरेण पूतो भवति । हीन मानोन्मान संकरसंकीर्ण विक्रये च	मिता०	४२६
" [द्रष्टव्य—पाठांतर अत्यधिक हैं]	अ० टी०	१११३
गुरुतल्पगो मृण्मयीमायसीम् वा स्त्रियाः प्रतिकृतिम् अग्नि-वर्णाम् कृत्वा तामालिंग्य पूतो भवति	अ० टी०	१०७३
गुरुणानुज्ञातोऽलंकारादीन् गृह्णीयात नित्यमुत्तरकालम् यथार्थम् चेतान् विभ्रियात । आमंत्र्य गृहानेत्य विधिवत दारान-गृह्याग्निनाधाय उञ्छशीलाभ्यामायाचितोपपन्नम् साधुभ्यो याचनात सद्यो वा अयाचनात देवपितृमनुष्यार्थे वृत्तादानम् कुर्वीत नात्मार्थे	गृ० र०	६
यजेत वनि वर्षासु श्यामाकैरापत्कल्पेन्यिः पुरातनैर्वा	स्मृ० त०	८१४–८१५
गोघ्नस्तच्चर्मोर्ध्वं बालम् परिधाय	मिता०	५११
गोमयेन मृदा वा कमंडलुम् परिमृज्य पूर्ववदाचम्यादित्यम् सोममग्निम् वा निरीक्षेत	शु० कौ०	३३७
" ('आचम्य' के लिये 'उपस्पृश्य'; 'निरीक्षेत' के लिये 'वीक्षेत')	स्मृ० त०	३३२
ग्रामारण्यानाम् पशूनामश्नति । अव्यजमेषमहिषहरिण, खड्गरुरुवृषभऋश्यन्यंकुमहारण्यवासिनश्च, वाराहंस्तथा शशक-शल्यकमेधागोधाकूर्मातित्तिरिमयूर, वार्ध्रीणसिलावक कुकरकपिंजलान् सशलक्रांश्च मत्स्यान् यथोपन्नाम् भक्षयेत	अ० टी०	२४८
ग्राम्योपयोगे वानप्रस्थानाम् चांद्रायणम्। स्वधर्माचारनिय-मातिक्रमे फलचांद्रायणम्	अ० टी०	११८७

च

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
चतुर्थेऽह्नि स्नातायां युग्मासु च चाक्रिकलोहकाराभक्ष्यान्न-भोजने त्रिरात्रमुपवसेत । गोमूत्रम्···कृच्छ्रम् चरेत । पुंश्चलीवेश्यान्न-भोजने सप्तरात्रम्। दीक्षिता···संकीर्णान्न भोजने च	अ० टी०	११७६

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
चिकित्सकनृपल-प्रेष्य-कारुक-कितव-स्वक्रीडक···सूचका-निधामक कुशीलवादिन् दैवे पित्र्ये च वर्जयेत्	अ० टी०	४५३-४५४
चूडाकरणेन चतुर्थम् ।	ब्रा० स०	२०७
चैत्र,श्रावण,मार्गशीर्षाणामादि प्रतिपदो नित्या	स्मृ० त०	१५६
छ		
छागेन सर्वलोहेनानन्त्यम्	एम० एम०	१२८
ज		
जातमृते मृतजाते वा कुलस्य त्रिरात्रम्	हा० ल०	४१
,, ('कुलस्य' के लिये 'सकुलस्य')	शु० कौ०	२६०
,, ('कुलस्य त्रिरात्रम्' के लिये 'सपिंडानाम् दशाहः')	अ० टी०	३१० ?
,, ('दशाहः' के लिये 'दशाहम्')	स्मृ० चं० अ०	१२
,, (स्मृ० चं० अ० के समान)	मिता०	३१०
जाते कुमारे पितृणाम् मोदात् पुण्यम् तदहः तस्मात्तिल-पूर्ण-पात्राणि···संस्कार पुण्यार्थान् कुर्वन्ति छिन्नायामशौचम्	हा० ल०	२८
,, ('मोदात्' के लिये 'आमोदात्'; 'छेदात्' के लिये 'छेदनात्')	अ० टी०	२६
,, ('मोदात्' के लिये 'आमोदात्')	स्मृ० चं० सं०	५०
,, ('जाते' और 'कुमारे' के बीच 'च' विशेष; पाठ, तदहः पर्यंत)	च० चि० ३.२	५८२
जायापत्योर्न विभागो विद्यते	स्मृ० चं० व्य०	६२४
जीवति पितरि पुत्राणामार्थदानविसर्गाक्षेपेषु न स्वातंत्र्यम् कामम् दोने प्रोषिते आर्तिम् गते वा ज्येष्ठोऽर्थांश्चिंतयेत्	स्मृ०त०खं० २	१३६ १७८
,, ('न स्वातंत्र्यम्' के लिये 'अस्वातंत्र्यम्'; 'कामम्···चिंतयेत्' नहीं है)	स्मृ० चं० व्य०	६००
,,	दा० भा०	२३
जीवन्नेव वा प्रविभाज्य वनमाश्रयेत् वृद्धाश्रमम् वा गच्छेत् स्वल्पेन वा संविभाज्य भूयिष्ठमादाय वसेत् यद्युपदिश्येत् पुनस्तेभ्यो गृह्णीयात्	स्मृ० त० खं० २	१६५
,,		

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
('प्रतिभज्य' के लिये 'विभज्य'; 'वसेत्' और 'यद्युपं' के बीच 'स' विशेष; 'ओ दिश्येत्' के लिये 'उपदिश्येत्')	स्मृ० चं० व्य०	६११
जीवित क्षेत्रज मातुरास्वातंत्र्याद्दते द्वामुष्यायणमनुप्तबीजत्वान्य-बीजम् क्षेत्रम् फलति नाक्षेत्रम् बीजम् रोहति उभयदर्शनादुभयो-रपत्यम्	अ० टी०	७३४
ज्येष्ठेऽनिर्विष्टे कानीयान् निर्विशन् परिवेत्ता भवति परिविन्नो ज्येष्ठः परिवेदनीया परिदायी दाता परिकर्ता याजकः ते सर्वे पतिताः	स्मृ०त०खं०२	११६
" ('निर्विशन्; के लिये 'निर्विशमानः' ; 'परिविन्नो' के लिये 'परिविति'; 'ओ वेदनीया' के लिये 'परिवेदना'; 'ओ कर्ता' के लिये 'परियष्टा'; 'इति' का लोप और 'संवत्सरम् प्राजापत्येन कृच्छ्रम् पावयेयुः' विशेष)	मिता०	४२६
" ('निर्विशन्' के लिये 'निर्विशमानः; 'भवति' लुप्त; 'परिविन्नो' के लिये 'परिवित्तो'; 'ओ वेदनीया' के लिये 'परिवेदनी' — 'ते' और 'सर्वे' विपर्यित; 'इति' लुप्त, और 'संवत्सरम् प्राजापत्येनकृच्छ्रेण परयेयुः। तामुपनयन् कानीयानन्यथा निर्विशेत, एवम् धर्मो न लुप्यते' विशेष पाठ)	अ० टी०	११६
" ('ज्येष्ठे' और 'अनिर्विष्टे' के बीच 'तु' विशेष; 'याजक' के पूर्व 'परिवेत्ता' के लिये 'परिकर्ता'; 'ते' और 'सर्वे' विपर्यित)	गृ० र०	८७

त

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
तस्मात्……पूरयेत	वि० र०	२५२
तस्मादद्भिरभ्युदय दद्यादालभ्य चेति	स्मृ० त०	८६३
" ('अभ्युदय' के लिये 'अवोचैतद्' 'चेति' के लिये 'एव च')	स्मृ० तं० खं० २	३५४
तस्मान्नानृतम् वदेत्। सोमविक्रय विवाह……अनिन्दितम् ग्लानित्वादिशून्यम्। स्वतस्यैष यदाह स्वागतमिति गृहदेवतास्तेन प्रीणाति। यत्पादावसेचनम् कुरुते पितृंस्तेन प्रीणाति। यत्……सर्वान् कामानवाप्नोति	ब्रा० स०	१५६-१५७
तिलैः श्राद्धम पुष्टिकामः कुर्यात्…यवागुभिः सर्वकामाः	स्मृ० त०	३२७
तीर्थे द्रव्योत्पत्तौ च सत्यम् श्राद्धम् विधीयते	वी० के*	१६
सावित्र्याभिमंत्रितान् प्राश्नीयात्	अ० टी०	१२४३

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
त्रयाः स्नातका भवन्ति विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रत-स्नातकश्च	एम० एम०	७७
त्रयस्स्नातका भवन्ति विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रत-स्नातकश्च	स्मृ० चं० सं०	१७७
त्रिमुहूर्तापि कर्तव्या पूर्वा दर्शा च वहृचैः	स्मृ० त०	२६१
त्र्यावरम् 'शुद्धवतीभिः स्नात्वाघमर्षणाम् अंतर्जले जपित्वा धौतमहतम् वासः परिधाय साम्ना सौम्येनादित्यमुपतिष्ठेत	मिता०	४८६
" ('अंतर्' नहीं है)	अ० टी०	१२४५
द		
दंतधावनम् भक्षयेदविरक्तम्······अग्निहोत्रादि देवतार्थम् कुर्यात	गृ० र०	१७८
दामो दया दानम् दृधव्रतत्वम् चेति	गृ० र०	४६८
दम्भच्छद्माभ्याम् परैस्तर्किताय दीयते प्रतिपद्य वा स आसुराः	गृ० र०	७२
दशमेन्ह्यरण्यम् गत्वा कृतश्मश्रुकर्माणः···स्वस्त्ययनादि धर्मार्थान् प्रवर्तेरन्	हा० ल०	१६४
दश सव्ये षट् पृष्ठे सप्तोभाभ्याम् तिसृभिः पादौ प्रक्षालयेत	अ० टी०	३६
दानानृतमिज्यानृतम् तप्तोऽनृतमिति त्रिविधम् कृतानृतम्। ···न मयादत्तमित्युच्यते	गृ० र०	५१०
देवता अधिगन्तुकाम आचामेत	स्मृ० चं० आ०	२६२
देवाश्छंदासि वेदानृषीन् पुराणाचार्यान्···संवत्सरम् सावयवम्	व्रा० स०	१०६
देवाश्च पितरश्चैव तपो···दद्यालभ्य वा	चं० चिं० प्र०	११-१२
दैवेनोत्तरेणान्नसंकरेण संस्कृतो···साग्निम् प्राहुः।···सायं प्रातरहरहः प्रापयति। तस्याहरहरग्निर्यथा सायम्···भवति तस्मान्नोपरिष्टाग्निहोत्री स्यात	गृ० र०	११७-११८
द्विविधो ब्रह्मचारी उपकुर्वाणो नैष्ठिकश्च। तयो···ब्राह्मणः सायुज्यम् गच्छति	अ० टी०	७१-७२
" ('नैष्ठिकश्च' के आगे संपूर्ण अंश नहीं है)	स्मृ० चं० सं०	१७२
द्विविध एव संस्कारो भवति ब्राह्मो दैवश्च। गर्भाधानादि स्स्मार्तो ब्राह्मः। पाक यज्ञहविर्यज्ञ सोमश्चेति दैवः···दैवेनोत्तरेण संस्कृतो देवानाम् संमानताम् सलोकताम् सायुज्यम् गच्छति···	स्मृ० चं० सं०	३४
द्विविधास्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः सद्यो वधश्च। तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयनम्—अग्नीन्धनम्—विवाहः कार्यः	स्मृ० चं० सं०	६२

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
द्विविधमपि गृहस्थम् प्राहुः शालीनम् यायावरम् च। शालीनात पुण्यतरो यायावरः श्रेयान्।" स द्विविधो गृह्य-शालीन-स्त्रेताशालीनश्चेति	गृ० र०	४१५

न

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
न कार्ष्णायसे मृण्मये वाश्नीयात	अ० टी०	१४८
न गोमूत्र पुरीषाभ्यामुद्विजेत् न पथि शिखाम् विसृजेत	अ० टी०	२२५
न ग्रामाभिमुखम् प्रेतम् निर्हारेयुः	हा० ल०	१११
” ('यदि वर्त्मनि ग्रामः स्यात्तदा तन्मध्ये न गन्तव्यम्', विशेष पाठ)	शु० कौ०	११२
” ('निर्हारेयुः' नहीं है और बदले में 'न कुर्यादुदकम् ततः' पाठ है)	अ० टी०	८७०
न च तदश्नीयात येनान्नेन देवपितृमनुष्य यज्ञान्न कुर्यात	स्मृ० चं० आ०	६१५
न चत्वरोपद्वारयोर्मूत्रपुरीषे कुर्यात न गोमये···न यज्ञीयानाम् वृक्षाणामधरतात	स्मृ० चं० आ०	२३८
” ('न गोमये···गोष्ठे' नहीं है; 'पूर्णे' के लिये 'संपूर्णात')	गृ० र०	१४०
न नग्नाम् स्त्रियाम् पुरुषं वा वीक्षेत नोदयास्तमयौ चन्द्राकौं	अ० टी०	१८०
”	गृ० र०	५६०
न पर्वसु सन्धि वेलयोर्वाह्येत	स्मृ० चं० आ०	४५३
न प्रेतस्पर्शिनो ग्रामम् प्रविशेयुरानक्षत्रदर्शनात रात्रौ चेदादित्यस्य ब्राह्मणानुमताद् वेति	शु० कौ०	११२
” ('ओ मतात' के लिये 'ब्राह्मणानुमत्या'; 'अशक्तौ ब्राह्मणानुमतिम् गृहीत्वा प्रविशेयुः' अधिक पाठ)	स्मृ० त० खं० २	३१६
न प्रोषितेऽलंकुर्यान्न वेणीम् मुञ्चेत	स्मृ० चं० आ०	५६३
न रजस्वलयादत्तम्···न तैलदध्यनुपानम् न वा क्षुतान्नम् न जुगुप्सितम्	गृ० र०	३६३
नवसूतायाः पयः न पिबेत सरजस्त्वात	स्मृ० चं० आ०	२३३
न वटप्लक्षोदुम्बरनीय···(?) वाभक्षयेत	स्मृ० त०	८२३
न शूद्राय वृत्तिम् प्राहुः त्रिवर्णशुश्रूषा वाऽस्य वृत्तिः। दानधर्म इत्येके	गृ० र०	४७६
न सन्ध्यायाम् शयीत नाशुचिर्ननग्नः	ब्रा० स०	१८०
नाग्निवेलयोः प्रवसेत् पर्वसु च	अ० टी०	१२२

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
नान्यवत्सायाः स्तेययोगात। न"'एवम् न नवप्रसूतायाः सरजस्त्वात	गृ० र०	३६६
नामगोत्रयोरुर्जम् वहन्तीरिति स्नान वस्त्रमपीड्य वा पितृंस्तर्पयेद्	बा० स०	१०७
नाशिषः प्रतिगृह्णन्ति नान्नम् विकिरेन्न स्वधाम निनयेत। पितृमन्त्र'''तानि मुक्त्वाभ्यो दद्यात	अ० टी०	५२८
नाशुचि''''''इन्धीत	कृ० र०	६१
नास्तिको नास्तिकवृत्तिः	मिता०	४३६
निर्हृत्य संस्कर्ताऽपो गत्वा साव्यासौ तृप्यतामित्युदकाञ्जलिम् निनयति	स्मृ० चं० श्र०	१००
" ('निर्हृत्य' के लिये 'निष्क्रम्य'; 'नि ''ति' के लिये 'निनयंति')	श्र० टी०	८७४
नत्तरेदनुपस्पृश्य	गृ० र०	१६५
नोत्तरीयविपर्यासम् कुर्यात	"	२२०
नोऽदङ्मुखोऽश्नीयात	स्मृ० त०	४३१
नोदङ्मुखः शयनासने वाश्नीयात। न काष्नायसे न मृत्पात्रे न भिन्नावकीर्णे	गृ० र०	३१२

प

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
पञ्चतयोऽभ्रावकाश-जल-शयनान्यनुतिष्ठेयुः। ग्रीष्म वर्षा हेमन्तेषु	स्मृ० चं० श्र०	१०८६
पतित °दुष्क्रम्यः प्रतिगृहीतमस्वर्ग्यमयज्ञियम् न तेन पुण्यार्थमाप्नोति	स्मृ० त०	५४३
पतित पाषण्ड नास्तिक सम्भाषणानृताश्लील दिकमुपवासदिने विवर्जयेत	स्मृ० त० खं० २	११
" ('नास्तिक' और 'संभाषण' के बीच 'आदि' अधिक; 'अश्लील' नहीं है; 'विवर्जयेत' के लिये 'वर्जनीयमिति')	चं० चिं० तृ० २	१६४
" (कुछ पाठांतर से युक्त)	चं० चिं०, द्वि० १	१००८
पतितयाजनात पतितसंकरियाजनात संकरित्वमुपैति। संकीर्णयाजनात संकरैस्संक्र्यते। शूद्रयाजनाज्जातितश्च्यवते	स्मृ० चं० आ०	४६१
पतितस्य तु कुमारीम् विवस्त्रामहोरात्रमुपोषिताम् प्रातः शुलेनाहतेन वाससाच्छादितम् नाहमेतेषाम् मम नैत इति त्रिरुच्चैरभिधानाम् तीर्थसंकटदेतोरुद्वहेव	स्मृ० चं० श्र०	१०८६

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
परशयनासन वस्त्राभरणानि मनसापि नाध्यवस्येत आ पुनस्संस्कारात। तथैकपात्रे मद्यमांसादीन्युच्छिष्ट निर्माल्ये चान्यत्र गुरुभर्तृसुतेभ्यः	स्मृ० चं० व्य०	५८६
पयो न पिबेत	स्मृ० चं० श्रा०	२३४
परमान्नम् कृसरमांसम् व्यावकापूपान्नम् शस्कुलीने पाचयेदारमार्थे। न वा फ्लक्षोदुम्बरे दधित्थानीपा मातुङ्गानि भक्षयेत	गृ० र०	३५७
पवित्रमसि द्रुपदादि वेति चाघमर्षणम् अन्तर्जले त्रिरावर्तयित्वा मुच्यते ब्रह्महत्यायाः	ब्रा० स०	६४
पातकातिपातकोपपातक–महापातका नामेकतमे संनिपाते अघमर्षणमेव त्रिजयेत	मिता०	४७३
"		
('पातक...पातक' के लिये 'पातकोपपातक'; 'वा', 'एव' और 'त्रिः' नहीं है)	ब्रा० स०	८६
पालङ्क्यानालिकापुती वार्ताकुमाषमसुराश्रिगुनृपमाषकृत कलवणानि श्राद्धे न दद्यात	श्रा० कौ०	२३
"		
(यों संशोधित–पालङ्क्यापोतिकानालिकाकुसुम्भ सुरसा निष्पावचणकादि श्राद्धे न दद्यात)	स्मृ० चं श्रा०	२१६
पिता ह्या...पुत्रा इतरे ग्रहाः यथाग्रयणः स्क...वा इतरेभ्यो गृह्णीयाद्वा	उ	२३४
पुंसवनात पुंसीकरोति कामम् फलम्	ब्रा० स०	१८६
पुराण पंचविंशत्याम् मासे...एष धर्मवृद्धैर्नानया धर्माच्च्यवते	गृ० र०	४४७
पूर्वं वृत्तेश्चाजीवन् शुष्ककाष्ठतृणविक्रवम् वा कुर्यात गा एव रक्षेत	अ० टी०	६३३
"		
(पूर्व...जीवन्' के लिये 'पूर्ववृत्तिरवजीवन्'; 'तृण' नहीं है; 'वा'; 'कुर्यात' के लिये 'कुर्वीत')	गृ० र०	५२०
पूर्वं वृत्तिषु वृत्यर्थम् ना सूर्यमध्वानम् गच्छेत्। न नियमवेलायाम् नानुदको नायज्ञोपवीती न वृषलैः सह	गृ० र०	५४८
पूर्वाशीरमयोर्नैच्छुद्वय ग्रहणे स्तैन्यम्	गृ० र०	५२०
प्रणवो व्याहृतयः सावित्री चेति सावित्रम् पवित्रमूयेन सर्वपापेभ्यो विमुच्यते शतं जप्त्वा मासात पूतो भवति। दश सहस्राणि जप्त्वा सर्वपूतात्मा भवतीत्याहुः	अ० टी०	१२२१,
प्रतिपन्मिश्रा भवेद् देवकार्यें पूज्यैव तुला मकर योगे भूत	च० चि० तृ० २	४५१
प्रयतत्वाद् वोपचितमशुभम् नाशयतीति	स्मृ० त०	४६७

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
प्राङ्मुख आयुष्कामोऽश्नीयाद् यशोऽर्थी दक्षिणामुखः स्त्रीकामः प्रत्यङ्मुखः	स्मृ० चं० सं०	११५
प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा उपविश्यान्तर…पादावभ्युक्ष्य उपस्पृश्य प्रयातो भवति	गृ० र०	१५६
प्राशनेन तृतीयम्	मा० स०	२०३
प्राङ्नाडिच्छेदात् संस्कार पुण्यार्थान् कुर्वन्ति नाड्याम तु छिन्नायामाशौचम्	च० चि० तृ० २	५८३
” (‘नाडी’ के लिये ‘नाभि’; ‘छिन्नायाम्’ लुप्त)	”	७३६
प्रेतस्पृशो ग्रामम्—न प्रविशेयुरानक्षत्रदर्शनात् रात्रौ चेदादित्यस्य	अ० टी०	८८३
” (‘स्पर्श’ के लिये ‘स्पर्शो’; ‘ग्रमम् न’ विपर्यित)	स्मृ० चं० अ०	६५
प्रेताभिभूतत्वाच्छावाशौचम् जाते वृद्धियोगेनयोगेन… कुलस्याशौचम् भवति	स्मृ० चं० अ०	११
” (‘वृद्धियोगेन’ के लिये ‘वृद्धियोगाद् भाक्त्वात्’; ‘नाभ्य… च्छेद’ के लिये ‘वालाः कुलानुगतिच्छेदात् क्लेश)	”	५८

ब

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
ब्रह्मचर्यम् नाम दिव्य…समागमश्चासाम्	गृ० र०	५२४
ब्रह्मचारी सन्ध्यामुपास्योत्थितः सावित्र्याः सहस्रेणादित्यमुपतिष्ठेत, उत्क्रम्याग्नि कार्यम् व्रातपत्याहुत्याऽतीतम् संपाद्योपस्थितम् कुर्यात् । अहन्यातीते पुनर्मनो व्रातपतिभ्याम् मेखला-दंडाजिन यज्ञोपवीत कमंडलु नाशे च त्र्यव्याहुत्या यथार्थम् प्रतीयात	अ० टी०	११४२
ब्रह्मण्यता…प्रामाण्यम्	कृ० र०	२६
” (‘ओवादिता’ के लिये ‘ओवादित्वम्’ ‘शरण्यता’ और ‘प्रशान्ति’ (प्रणति’ के लिये) के बीच ‘कारुण्यम्’ विशेष; ‘एतस्य…प्रामाण्यम्’ नहीं है)	एम० एम०	३०
ब्राह्मणागमनेऽर्घ्यादीनि दत्त्वाऽनुज्ञाप्याधीयीरन्	”	१६२
ब्राह्मणानुमतात् वा संवत्सरम् गोमूत्र संस्कृतः संव्यवहार्यो भवति	”	१०७२
ब्राह्मे मुहूर्ते प्रतिबुध्य स्वाध्यायमावर्तयन् न प्रति संविशेत्	स्मृ० चं० सं०	१३८
”	च० चि० तृ० २	६६२
ब्राह्मेण तीर्थेन चाचामेत् । आवयन होमतर्पणानि प्राजा-		

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
पत्येन कुर्यात्। मार्जनाचमन-वलिकर्म-भोजनानि दैवेन। पित्र्यर्थानि पित्र्येण। प्रतिग्रहमाग्नेयेन	अ० टी०	३१
भ		
भक्ष्याणामाममांस रुधिर भक्षणे त्रिरात्रम् पंचगव्यम् च	प्रा० प्र०	६६
भूमावेव निदध्यान्नोपर्युपरि पात्राणि भैक्षमवोक्षितम् पर्यग्निकृतमादित्य दर्शितमनुज्ञातममृत सम्मितम् प्राहुस्तदश्नम् ब्रह्मचारी ब्रह्मसिद्धिमवाप्नोति	स्मृ० चं० सं०	११३
म		
मानस संकल्पयति वाचाभिलपति कर्मणा प्रतिपादयति	श्रा० कौ०	८६
" ('प्र…ति' के लिये 'चोपपादयति'	स्मृ० त० खं० २	५३३
मनिवासो गवादीनाम् प्रतिग्रहे सावित्र्यष्टौसहस्राम् जपेत्…शतसहस्रम् असत्प्रतिग्रहेष्विति	स्मृ० त० खं० २	३६१
" ('सावित्र्यष्ट'; के लिये 'सावित्र्याः' 'व्रतम्' के लिये 'व्रतः'; 'असत' के लिये 'अति')	अ० टी०	११५१
मनोव्रतपतीभिक्षतस्र आज्याहुतिर्भूत्वा पुनर्यथार्थम्…… सावित्र्यष्ट सहस्रम् जपेत्	मिता०	४४२
महापातकत्रिपातकानुपातकोपपातकानामेकतममेव सन्निपाते चाघमर्षणमेव त्रिर्जपेत्	मिता०	४७१
मातृ दुहितृ स्नुषा गमनामित्यति पातकानि…	अ० टी०	१०४८
मार्जनार्चन वलिकर्म भोजनानि दैवेन	स्मृ० त० खं० २	६१
" ('तीर्थेन' अधिक)	स्मृ० त०	३९६
" ('तीर्थेन कुर्यात्' अधिक)	स्मृ० चं० श्रा०	३५९,६१३
माष-मसूर-मधु-परान्न-मैथुनानि प्रत्यहम् वर्जयेत्। व्रतोपेतो ना काले वाचम् विसृजेत्। स्त्री–शूद्रोच्छिष्टाभिभाषणे आचामेत्	अ० टी०	१२३०
" 'मधु' और 'परान्न' के बीच 'मांस' अधिक; 'प्रत्यहम्' के लिये 'व्रत्येऽह्नि'; 'विसृजेत्' वर्जयेत; 'स्त्री…आचमेत्' नहीं है)	स्मृ० चं० श्रा०	४३४
मिथ्या दूषिणाम् सहस्रम्	वि० र०	२५७
मुख्यम् श्राद्धम् मासि मासि अपर्याप्तावृत्तम् प्रति द्वादशाहेन वा भोज्या एकाहे द्वादशापि वा	अ० टी०	५४०

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
मृद्दारु विडाला लावु शीर्णपर्णपात्रो वा पाणिपात्रो वा भिक्षार्थम् ग्रामम् प्रविशेन्नोच्छिष्टम् दद्यान्नोत्सृजेन्न कुत्सयेत्। न चातिमात्रमश्नीयात्	अ० टी०	६६४
य		
य एवम्'''अवाप्नुवन्ति	कु० र०	२१
य एवम् विद्वान् पितृन् यजते वसवोरुद्रा आदित्याश्चास्य प्रीता भवन्ति	एम० एम०	१३०
यज्ञियाः समिध आहृत्य संमार्जनोलेपनोद्बोधन समूहन समिन्धन गच्छेदाहृत्य निवेदयेत्	स्मृ० चं० सं०	१७०
यथा क्षारोपस्वेदचण्ड निर्णोदन प्रक्षालनादिभिर्वासांसि शुध्यन्ति एवम् तपोदान यज्ञैः पापकृतः शुद्धिमुपयान्ति	स्मृ० त०	४६७
यद् देवेभ्यो जुहोति देवलोकम् तेनाभियजति यत् पितृभ्यः पितृलोकम् तेन यत्'''दत्वोदीक्षेतागोदोहनात्	स्मृ० चं० आ०	५६६
"		
('अभियजति' के लिये 'अभिजयति'; ''पितृभ्यः' के पहले 'यत्' नहीं है; 'यत्' के लिये 'यः' 'ऋषिलोकम्' के बाद 'तेन' नहीं है; 'भूतलोकम् तेन' के बाद का अंश नहीं है	गृ० र०	२७६
यद्यन्मीमांस्यम् स्यात्तदद्भिः स्पर्शाच्छुद्धम् भवति। उपधात ''ब्राह्मणानाम् कल्पितवन्तः	एम० एम०	२०३
यद्यसमाप्त्वेदाः कनीयांस्तदा सह वसेयुः	अ० टी०	७२२
यः समाप्य वेदानसमाप्य व्रतानि समावर्तते स व्रत स्नातकः। उभयम् समाप्य यः समावर्तते स विद्याव्रतस्नातकः	एम० एम०	१३८
यान्य शयनान्य परिहार्यान्येके मन्यन्ते। तत्र वर्णविशेषाच्छुक्ल मलिन संसर्ग दर्शनात् पापसंसर्ग संयोगाच्च तस्मात् पृथक् शौचाच्छ्रेयांसः	एम० एम०	२५७
['वर्ण' के लिए 'वस्तु'; 'संसर्ग दर्शनात्' के लिये 'संसर्गात्' 'पाप'''संयोगाच्च' के लिये 'पापसंसर्गात्'; 'पापसंसर्गात्' के बाद 'व्याधिसंसर्गयोगाच्च' अधिक; 'तस्मात्' के बाद 'च'; 'श्रेयांसः' के बाद 'इति' अधिक; वाक्य के बाद 'स्वानुपपत्तौ शुध्यन्तध्याय समापयन्ति' पाठ अधिक]	गृ० र०	५८८
र		
रजतस्तैन्ये चान्द्रायणमतिकृच्छ्रम् ताम्रे कार्ष्णायसे प्राजापत्यम्	अ० टी०	११११
राजाश्रयेण वधदण्डाभिघातभय विशेषात् राक्षसः	गृ० र०	७७
रेतोरक्त गर्भोपघातः पंचगुणो जातकर्मणा प्रथममपोहति	बा० स०	१६४

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
ल		
लोम्नामस्वादने हस्तदत्त भोजने अप्रक्षालित पाणिपादस्य भोजनेत्वाधिक भोजने......		
लोष्ट मृत्तिकादाने अहोरात्रा भोजनाच्छुद्धिः	अ० टी०	११७३
लोहमये मृण्मये वा पात्रे भुञ्जीत	स्मृ० चं० सं०	११६
लोष्ट्र विधिरुक्त द्रव्यालाभे पर्णनिषेधोऽप्यसाराच्छिद्यमानपर्ण-गोचरः	गृ० र०	१४३
व		
वन्धम् यथा शापितम् स्यात तथैव प्रतिपालयेत	स्मृ० चं० व्य०	३२१
वल्कल-शाण-चर्म-चीर-कुशमुञ्ज फलकवासः	एम० एम०	२१२
वाजि रासभ वधे कृच्छ्रम् चान्द्रायणम् चरेत । वृथा पशुवधे प्राजापत्यम् त्रिरात्रोपोषिता । मर्कटजालपादवर्हिणाम् एकतम वधे ब्राह्मणाय ग्राम् दद्यात	अ० टी०	११३४
वास्तुपाल भूतेभ्यो बलिरहरणम् (बलिहरण ?) भूत यज्ञाः	स्मृ० त०	४२२
,, ('भूतयज्ञः' के लिये 'अहुतः')	स्मृ० चं० आ०	५६६
विद्यातपोऽधिकानाम् च प्रथमानमिष्यते	श्रा० कौ०	११२
विभजिष्यमाण एकविंशम् कानीनाय दद्यात विंशम्...... पुत्रिकापुत्रायेतरानौरसाय	ह० गौ०	२३१
,,	उ	२३८
वृथा पशुघाते प्राजापत्यम्	स्मृ० त०	५२०
वेदो वै विद्या ब्राह्मणस्य । तत परिज्ञार्थमङ्गानि	स्मृ० चं० सं०	१३०
श		
शैय्यारूढा पादुकोपानदारोपिता पादोच्छिष्टा...निमन्त्रिते वदान्यत्र भोजने त्रिरात्रम्	अ० टी०	११८८
शशक शल्यक मेधा गोधा कूर्म ''सशल्कांश्च मत्स्यान् न्यायोपपन्नान् भक्षयेत	गृ० र०	३७७
शालीनादात्मवृत्तियापनद्वारा इति यायावरः । दश दश... कृतप्रस्थानो कृतप्रस्थानश्चेति	गृ० र०	४१६
शावान्तः शावमाशौचम् पूर्वाशौचेन शुध्यन्ति । लघुना लघु शुध्येत्तु	अ० टी०	८६८
शिष्टाः...प्रतिपत्तव्याः	कृ० र०	३३
शुना दष्टस्त्र्यहमेकाहारः समुद्रगाम् नदीम् गत्वा...गोमायु मार्जार सर्प नकुल मूषकै र्दष्टानाम्	अ० टी०	११३७

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
शुष्क काष्ठेन वा मृजीत	गृ० र०	१४३
शूद्रयाजको गर्हितम् द्रव्यम् नागह्रदे प्रक्षिप्य ब्राह्मणानुपेत्य ब्रूयात् त्रायन्तु माम् भवन्तो वर्ण साम्यम्	स्मृ० चं० श्रा०	४६२
शौचम् नाम धर्मादिपथो ब्रह्मायतनम् स्त्रियोऽधिवासो मानसः प्रसादनम्…तच्च शौचमुपरिष्टाद् वक्ष्यामः	गृ० र०	५२२
श्रेयसः…दहेत्	वि० र०	३६६
श्व गोमायु मार्जार सर्प नकुल मूषिकानुवृत्तावेतेषामे वाधीयानाम् अन्तरागमने त्रिरात्रम्…अवासः अह्नम् च विनिवसेत्	च० चिं० तृ० २	७६६
श्वित्र कुष्ठ्युदरि यक्ष्मा मयाव्यनार्षेयमब्रह्मसमानार्षेयम् चेत्येतानि न ज्ञायन्ते ताम् पुत्रिकाशंकया न विवाहेत्	गृ० र०	२३-२४
श्वित्र कुष्ठ्युदरि यक्ष्मा…अल्पायुर…वर्जनीयानि भवन्ति । कुलानु रूपाः प्रजाः…तस्मात् कुलनक्षत्र विज्ञानोपन्नाम वरयेत्	अ० टी०	८४-८५
" (बहुतेरे पाठांतरों से युक्त)	उ	२२१
श्वोभूते श्राद्धकर्मणि दक्षिणाम् दिशम् गत्वा दक्षिणा प्रवणान् समूलान् कुशाणाहारेदन्य परिगृहीताचापः	श्रा० कौ०	४६
" (इसमें केवल प्रथम दो शब्द हैं)	"	४६
श्वोभूतो एकोद्दिष्टम् कुर्यात्	शु० कौ०	७४
ष		
षट् पृष्ठतः	गृ० र०	१४८
षड् वर्षाणि राजन्ये प्राकृतम् ब्रह्मचर्यम् वैश्ये त्रीणि	ह० गौ०	१७७
" ('वैश्ये त्रीणि' विपर्यित ; श्राद्धम् शूद्रे क्षत्रियवत् ब्रह्मणीषु । वैश्यात् क्षत्रियाणाम् शूद्रवच्च वैश्याणाम् शूद्रम् हत्वा नव मासान् अधिक पाठ)	अ० टी०	११२६
स		
संवत्सरतोसन्नेऽग्निहोत्रे चान्द्रायणम् कृत्वा पुनरादध्यात् । द्विवर्षोत्सन्ने सोमायनचान्द्रायणे कुर्यात् । त्रिवर्षोत्सन्ने सवत्सरम् कृच्छ्रम् अभ्यस्य पुनरादध्यात्	अ० टी०	११५४
सतस्य स्वागतमर्घ्यम् आचमनम् आसनम् च प्रदधात्	स्मृ० चं० श्रा०	५९०
सत्यवादी सदा तुष्टः ऋतु कालाभिगामी नित्यम् स्नानशीलः… गृहस्थो भवति	गृ० र०	४६४
सन्धिनी वृषयन्ती तस्याः पयो न पिवेत् तद्वत्मती भवति	स्मृ० चं० श्रा०	२३३

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
" ['शन्धिनी' के लिये 'स्यन्दिनी'; 'तद्...भवति' के लिये 'ऋतुमद्भवति']	अ० टी०	२४६
सप्त-रात्र्यादित्येके दश रात्रादित्यपरे मासेनाप्युषम भवतीति धर्मविदः	एम० एम०	१७६
समानतो मृते रिक्थविभागः	दा० भा०	६५
समेनैव मृते रिक्थ विभागः	स्मृ० चं० व्य०	६१४
सर्ववाससाम् सावनेन शुद्धिः	अ० टी०	२६२
सर्वा अस्य देवता गृहानभ्यागच्छन्ति यस्यैवं विद्वान् ब्राह्मणे...... यदेनम् यान्तमनुयान्तीति श्रेयस्यम् ब्रह्मवर्चसम् तेन सर्वान् कामनमवाप्नोति	गृ० र०	२६१
सर्वाभक्ष्य भक्षणम् भोजनामपेयपानमायाज्य याजनम्... यस्मिन् वयसि शारीर वाचिक मानसान्याप्नोति	अ० टी०	६६८
" (अनेक पाठांतरों से युक्त)	गृ० र०	५६७-६८
सशल्कान् मत्स्यान्यायोपपन्नान् भक्षयेत्	एम० एम०	१५१
सहस्रनम् लाङ्गलम् तद्ब्राह्मणे न विद्यते	गृ० र०	४२६
सायम्संध्यास्तनिते रात्रौ नाधीयीरन् प्रातः सन्ध्यास्तनिते त्वहो रात्रम्	च० चिं० तृ० २	७६४
" ['रात्रौ' के लिये 'रात्रिम्'; 'तु' के लिये 'च']	अ० टी०	१८८
सावित्र्याऽभिमन्त्रितमुदकम् पुष्पमिश्रम्	स्मृ० चं० अ०	३६२
सुप्रक्षालित चरणः सर्वतो रक्षाम् कृत्वा उदक पूर्ण घटादि... रात्रिसूक्तम् जप्त्वा विष्णुम् नमस्कृत्य...दक्षिणशिराः स्वपेत्	स्मृ० चं० आ०	६२८
सुरापोऽग्नि वर्णाम् सुराम् पीत्वा घृतमयः पयो वा हिरण्यम् वा वितप्य मृत्युना पूतो भवति	अ० टी०	१०७१
स्वरणासन पिण्डेषु षट् कुशान् परिवर्जयेत् स्त्रीष्ववकीर्णी... चतुष्पथे गर्दभम् पशुमालभेत पाकयज्ञ धर्मेण । भूमौ पशु पुरोडाश-श्रपणस्त्रववदानैः प्रचार्याग्निम् जुहोति...काम कामाय स्वाहा	उ	१५०
स्थितिरविच्छिन्नवेद वेदिता अयोनि संकारिता अविच्छिन्नार्षेयत्वम् वा इति कुलगुणाः । वेदांगानि धर्माध्यात्मज्ञानम् स्थितिश्चेति षड्विधम् श्रुतम्	गृ० र०	४६६
स्नात्वा वाससी परिध्याय	स्मृ० त० खं० २	३०५
स्नापयित्वाऽनडुहोऽलङ्कृत्य ब्राह्मणान् भोजयेत्	स्मृ० चं० आ०	५५४
स्वयम् कन्या वरयते स गान्धर्वः	गृ० र०	७६

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
स्व शिरसा यत्र समादाय गोभ्यो दद्यात् यदि तः गृह्णीयुरथैनम् प्रावर्तयेयुः	स्मृ० त०	४७२
" ['प्र···युः' के लिये 'प्रतिगृह्णीयुः'; 'प्र···युः' के लिये 'प्रवर्तयेयुः']	अ० टी०	१२०६
" [प्र···युः' के लिये 'प्रवर्तयेयुः ;]	मिता०	४६६
स्वानुपपत्तौ शुच्यन्तर्धाय समामनन्ति संस्पर्शे सचैलम् स्नानमेवम् ह्याह । आसनम् शयनम् यानमन्तर्धाय समाचरेत्	स्मृ० चं० आ०	२५८

ह

सूत्र	स्थल	पृष्ठ
हतवत्सायाः शोकाविष्टत्वात् नव सूतायास्स रजष्टत्वात्	स्मृ० चं० सं०	२३४
हयगजरथचैत्यवृक्ष विशेषमारोहणफल-चयन-संधि-सर्पण कूपावरोपण महानद्यार्णव प्रतरण महासाहसानि वर्जयेत्	अ० टी०	६४
" ('विशेषम्' के लिये 'विषम्'; 'फलचयन' के लिये 'प्रचयने'; 'संधि' के लिये 'संसिद्धि'; 'कूपा···ण' नहीं है; 'महा···सानि' के लिये 'महासाहस विरुद्धानि')	स्मृ० चं० सं०	१२६
हरिकरमरुदनुराधा विधातृ पौष्णादिति ह्योत्तरमे भोजनविधि शैय्यासने भोगारम्भो हितार्थाय	स्मृ० त०	६७२
हस्तदत्त भोजने अब्राह्मण समीपे भोजने दुष्टपंक्ति भोजने पंक्त्यग्रतो भोजनेऽभ्यक्त मूत्र पुरीष करणे मृत सूतक शूद्रान्न भोजने शूद्रैः सह स्वप्ने त्रिरात्रमभोजनम्	मिता	४५८

*

समीक्षा

हिंदी को मराठी संतों की देन

'विहार राष्ट्रभाषा परिषद्' (पटना) की ओर से इधर अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। इनमें से कई विविध खोजों से संबंध रखते हैं और आलोचनात्मक हैं, कुछ अनुवादित हैं, कुछ संग्रहग्रंथ हैं और शेष वहाँ की 'भाषणमाला' के 'पुष्प' रूप हैं। समालोच्य ग्रंथ के लिये कहा गया है — 'इस ग्रंथ में परिषद् के पाँचवें वर्ष की भाषणमाला प्रकाशित है' जिसका 'आयोजन विहार-हिंदी-साहित्य-संमेलन के सभाभवन में सन् १९५५ ई० के २२-२३ मार्च को हुआ था' तथा इसके भाषणकर्ता एवं ग्रंथकार आचार्य डा० विनयमोहन शर्मा हैं। इस भाषण का विषय शर्मा जी को अत्यंत प्रिय रहा है और जैसा इसकी 'भूमिका' से भी स्पष्ट है, इसके अध्ययन की ओर वे सदा प्रयत्नशील भी रहे हैं। सन् १९४६ ई० में जब नागपूर में अखिल भारतीय प्राच्य-विद्या-परिषद् का अधिवेशन हो रहा था, उन्होंने नामदेव की हिंदी कविता पर एक शोध निबंध पढ़ा था और तब से वे बराबर 'मराठी संतों और उनकी हिंदी रचना' पर सामग्री संचित कर उसपर मनन-चिंतन करते आए। इसकी सामग्री जुटाने के लिये उन्होंने अनेक सांप्रदायिक क्षेत्रों, साहित्यसंस्थाओं और शोधकार्य-प्रेमियों से संपर्क स्थापित किया, बहुत सी अप्रकाशित सामग्रियों की छानबीन की तथा अपने इस अनुसंधानकार्य को, भाषण हो जाने के पीछे तक भी जारी रखा। फलतः इस ग्रंथ के भूमिकाभाग में भी उन्होंने १९ ऐसे संत कवियों की हिंदी रचनाएँ उद्धृत की हैं जिनकी चर्चा इस भाषण के अवसर पर नहीं की जा सकी थी तथा ११ ऐसे अन्य लोगों के विषय में भी लिखा है जिनकी कविताओं के अतिरिक्त उन्हें इधर कुछ परिचयात्मक सामग्री भी उपलब्ध हो गई है।

ग्रंथ का मूल अंश केवल २३२ पृष्ठों का है जिनके अंतर्गत मुख्य विषय का निरूपण, पाँच अध्यायों द्वारा किया गया है और उनके अनंतर इसके ४७२वें पृष्ठ तक, परिशिष्ट (क) के रूप में प्रमुख महाराष्ट्र संतों की हिंदी वाणियों का एक संग्रह भी जोड़ दिया गया है। यह संग्रह बहुत बड़े काम का है क्योंकि इसमें न केवल संत नामदेव की ही प्रायः सभी उपलब्ध रचनाएँ आ गई जान पड़ती हैं, अपितु यहाँ हमें ईस्वी सन् की तेरहवीं शताब्दी से लेकर उसकी उन्नीसवीं शताब्दी तक वाले अनेक संतों की ऐसी वाणियाँ भी मिल जाती हैं जिनका अभी तक हमें कुछ भी पता नहीं था किंतु जो कई दृष्टियों से बहुत उपादेय भी सिद्ध हो सकती हैं। इनके रचयिताओं का परिचय पुस्तक के मूल अंश में आया है जहाँ पर अन्य बहुत से संतों की भी चर्चा की गई है तथा जहाँ उनकी वाणियों को भी उद्धृत किया गया है। इन रचनाओं की प्रामाणिकता के संबंध में लेखक ने कहीं समुचित प्रकाश नहीं डाला है और न इन्हें देखने मात्र से हम इनके पाठों के विषय में कोई अंतिम निर्णय ही कर सकते हैं अथवा इनको किसी प्रकार संदेह से सर्वथा परे ही ठहरा सकते हैं। फिर भी इनके मूल्य में कोई कमी नहीं आती।

हिंदी भाषा के दक्षिणी रूप एवं महाराष्ट्रीय भक्तिभावना के स्वरूप के विचार से भी हम इन्हें पूरा महत्व दे सकते हैं। संगृहीत रचनाओं के कठिन स्थलों का स्पष्टीकरण करने के लिए उनके नीचे पाद टिप्पणी भी दे दी गई मिलती है जिससे पाठक को उन्हें समझने में सहायता होगी।

ग्रंथ के प्रथम दो अध्यायों के शीर्षक क्रमशः 'हिंदी और मराठी का संबंध' तथा 'दक्षिणापथ में हिंदी-संचार' हैं जिनमें से पहले के नीचे प्रधानतः भाषाविज्ञान के दृष्टिकोण से विचार किया गया है और दूसरा हिंदी भाषा के दक्षिण की ओर प्रचलित होने की पृष्ठभूमि से संबंधित है। प्रथम अध्याय का आरंभ करते समय विद्वान लेखक ने बतलाया है, 'समस्त भारतवर्ष में महाराष्ट्र ही ऐसा क्षेत्र है जहाँ अनेक संतों की मराठी के साथ साथ हिंदी रचनाएँ भी उपलब्ध होती हैं' जो कथन कदाचित् इस आशय को भी प्रकट नहीं करता कि ऐसी रचनाएँ अन्यत्र उपलब्ध ही नहीं हैं, क्योंकि गुजरात के ही अंतर्गत अनेक ऐसे संत हो चुके हैं जिनकी गुजराती के साथ साथ हिंदी रचनाएँ भी मिलती हैं तथा उनकी वाणियों के विषय में इधर कुछ दिनों से सफल प्रयत्न भी होते आए हैं तथा यही बात न्यूनाधिक कतिपय अन्य क्षेत्रों के विषय में भी कही जा सकती है। स्वयं शर्मा जी ने भी कुछ ऐसी रचनाएँ ढूँढ़ निकाली हैं और जहाँ तक पता है उन्होंने इस प्रकार के शोधकार्य को अभी तक बंद भी नहीं किया है। इस अध्याय के अंतर्गत आगे मराठी भाषा तथा उसकी प्रमुख विशेषताओं की भी चर्चा की गई है और उसका हिंदी के प्रति निकट संबंध सिद्ध करने के उद्देश्य से, दोनों भाषाओं की कुछ सामान्य प्रवृत्तियों का उल्लेख करते हुए अंत में यह निष्कर्ष निकाला गया है कि ये दोनों ही आर्य परिवार की भाषाएँ हैं, दोनो के उच्चारण, प्रत्यय, प्रक्रिया एवं शब्दनिधि में पर्याप्त साम्य है तथा मराठी पश्चिमी हिंदी की ओर बहुत झुकती जान पड़ती है और उसने दक्खिनी, नागपुरी, हलबी और छत्तीसगढ़ी हिंदी को प्रभावित भी किया है। शर्मा जी ने इसी प्रसंग में हलबी तथा नागपुरी हिंदी की कुछ विशेषताओं की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट किया है जिसका कारण संभवतः यही हो सकता है कि ये दोनों मराठी द्वारा अधिक प्रभावित हैं तथा इस प्रकार हमें उनके विषय में विशेष परिचय भी मिल सकता है। परंतु, मराठी संतों की उपलब्ध वाणियों की दृष्टि से, उनके विषय में इतना विस्तार देना उतना महत्व नहीं रखता और न, कम से कम, उनके केवल वर्तमान रूपों की ही अधिक चर्चा कर देना, मुख्य वर्ण्य-विषय की बातों को ध्यान में रखते हुए कभी सुसंगत कहा जा सकता है। इस अध्याय के अंतर्गत सिक्खों के गुरु गोविंद साहब के 'आदिग्रंथ' (पृ० २१) जैसे कथन तथा कबीर की रचना के रूप में 'कनवा मुड़ाय जोगी जटवा बढ़ौले' आदि (पृष्ठ २५) के उद्धरण भी हमें निर्दोष नहीं जान पड़ते क्योंकि 'आदि ग्रंथ' गुरु गोविदसिंह के बहुत पहले ही संगृहीत हो चुका था। तथा उसमें उनकी रचनाओं तक का अभाव है और उनकी अपनी कृतियों का एक पृथक् संग्रह 'दसमग्रंथ' नाम से प्रसिद्ध भी चला आता है। इसी प्रकार कबीर की रचना मानकर उद्धृत किया गया, 'कनवा फड़ाय जोगी जटवा बढ़ोले' इत्यादि अंश भी, जहाँ तक पता है, किसी प्रामाणिक संग्रह में नहीं मिलता। जहाँ तक 'दक्षिण में हिंदी प्रचार' वाले दूसरे अध्याय का प्रश्न है, यह प्रथम की अपेक्षा कहीं अधिक रोचक, सुसंगत एवं सुव्यवस्थित है। विद्वान लेखक ने इसमें महाराष्ट्र की ओर हिंदी के प्रचलित होने के विविध राजनीतिक, आर्थिक एवं धार्मिक कारणों का दिग्दर्शन कराकर इस संबंध में उपलब्ध कतिपय तथ्यों की एक तर्कसंगत परीक्षा भी की है और यह निष्कर्ष निकाला है कि 'दक्षिण में हिंदी का संचार आर्यों के दक्षिणप्रवेश का स्वाभाविक परिणाम है।'

ग्रंथ के तीसरे अध्याय का शीर्षक 'महाराष्ट्र के प्रमुख संत संप्रदाय' है और इसमें वहाँ

के पांच विशिष्ट संप्रदायों का परिचय दिया गया है। किंतु ऐसा करते समय अध्याय के आरंभ में ही 'संत' शब्द के अर्थ की व्यापकता पर भी विचार किया गया है जो यहाँ पर उल्लेखनीय है। 'संत' शब्द का प्रयोग हिंदी वाङ्मय के अंतर्गत विशेषतः 'निर्गुणवादी' कहे जानेवाले कबीर आदि के लिए ही किया जाता है। जिस 'परिपाटी' को शर्मा जी ने 'व्यावहारिक मात्र' ठहराया है और कहा है कि 'परमसत्य का साधक चाहे अपने पिंड में उसके दर्शन करे चाहें पिंड के बाहर सृष्टि के अणु अणु में उसका स्पंदन अनुभव करे 'संत' ही है' तथा इस विषय पर उन्होंने कुछ और भी प्रकाश डाला है। उन्हें सगुणवादियों के लिए 'भक्त' शब्द का प्रयोग करना तथा उसी प्रकार निर्गुणवादियों के लिए 'संत' शब्द का व्यवहार करना सगुण एवं निर्गुण के बीच 'विभाजक रेखा खींचना' जैसा लगता है जो उचित नहीं है। परंतु जान पड़ता है कि शर्माजी ने यहाँ पर जितना ध्यान परमात्मतत्त्व के निर्गुण एवं सगुण रूपों की ओर दिया है उतना संत एवं भक्त कहे जानेवाले साधकों की वास्तविक स्थिति और उनके जीवन के प्रति अपने अपने भिन्न दृष्टिकोणों पर पूरा विचार नहीं किया है। वास्तव में जो साधक परमात्मतत्व का साक्षात्कार पिंड के भीतर करता हैं, वह उसके साथ अपने को तद्रूप बना डालने का भी दम भरा करता है जिस कारण उसके लिए किसी 'बाहर' अथवा 'भीतर' का कोई वैसा भेद ही नहीं रह जाता। 'सत्' शब्द जिसका 'संत' केवल एक अन्यतम रूपमात्र है, वस्तुतः 'अस्तित्व' मात्र का बोधक है जिस कारण 'संत' कहे जानेवाले को 'अखंड सत्य में पूर्णतः प्रतिष्ठित हो गया' भी कहा जा सकता है। परतु, 'भक्त' कहे जानेवाले साधकों के विषय में भी ठीक यही बात नहीं कही जा सकती क्योंकि (इस शब्द का व्युत्पत्तिमूलक आधार भज् = भाग लेना मात्र होने के कारण) इसके अर्थ की व्यापकता कुछ कम हो जाती जान पड़ती है। फलतः संतों की 'दशा' जहाँ उनकी एक ऐसी स्थिति की ओर संकेत करती है जिसमें उनके जीवन का पूरा कायापलट हो गया रहता है और वे परमात्मा के प्रति किसी विलक्षण अभेदभाव का भी अनुभव करते हैं, वहाँ भक्तों की 'दशा' हमें उनकी केवल उस विशिष्ट स्थिति का ही परिचय करा पाती है जिसमें वे भगवान् के अलौकिक ऐश्वर्य में अपना भाग लेने के उपयुक्त अधिकारी बन गए सिद्ध होते हैं, किंतु फिर भी वे उसके सान्निध्य में रहकर ही तृप्ति का अनुभव कर लेते है और उससे पृथक् बने रहते हुए भी वहाँ से हटने का नाम नहीं लेते। अतएव, संत जहाँ अपने इष्ट के अस्तित्व में अपने को लीन कर देने पर भी संसार में बने रहने से कभी नहीं घबड़ाता वहाँ भक्त अपने भगवान् के निकटवर्ती होने का सुख छोड़कर फिर जगत् के जंजाल में पड़ना कभी पसंद नहीं करता और वह अधिकतर निवृत्तिमार्गी हुआ करता है, जहाँ संत प्रवृत्तिमार्गी भी हो सकता है। संभवतः इसी कारण साधारण बोलचाल में भी 'संत' शब्द का प्रयोग जहाँ केवल विशुद्धाचरणवाले दयालु एवं परोपकारी महापुरुषों के लिए भी होता है वहाँ 'भक्त' अधिकतर उन्हें ही कहा करते हैं जो सदा भगवद्भजन एवं पूजन अर्चन में लीन रहा करते हैं तथा जिन्हें भजनानंदी होने के कारण जगतसंबंधी व्यवहारों के लिए अवकाश नहीं रहता। शर्माजी ने जिस 'विभाजक रेखा' का उल्लेख किया है वह इन जैसे कारणों से कभी निराधार खींची गई भी नहीं कही जा सकती; वह तर्कसंगत हो सकती है। यह अवश्य है कि केवल मराठी में ही प्रस्तुत, गुजराती आदि कतिपय अन्य भाषाओं के वाङ्मय में भी, इस बात की ओर आवश्यक ध्यान दिया गया नहीं दीख पड़ता और मराठी के एक लेखक मा० कृ० पारधी ने तो अपने 'मराठी व हिंदी संत' शीर्षक एक लेख में [1] हिंदी-

१ दे० 'सत्यकथा', मार्च, १९५३ ई० वाला अंक।

भाषियों द्वारा किये जानेवाले ऐसे प्रयोगों को निरा 'हिंदी चा पंक्तिप्रपंच' अर्थात् 'हिंदी का पंक्तिभेद' तक ठहराने की चेष्टा की है। किंतु, केवल इसी कारण हमारा उनकी मान्यता को, बिना उसपर पूर्ण विचार किये, स्वीकार कर लेना भी कभी उचित नहीं कहा जा सकता। हो सकता है कि उनके यहाँ वाले साधकों की 'निर्गुण' एवं 'सगुण' की उपासनाओं में कोई स्पष्ट भेद न लक्षित होता हो तथा वहाँ 'संत' शब्द का अर्थ रूढ़िगत सा भी हो गया हो परंतु उपर्युक्त दृष्टि में विचार करने पर हमें शर्मा जी की दी हुई परिभाषा—'जो आत्मोन्नति सहित परमात्मा के मिलनभाव को साध्य मानकर, लोकमंगल की कामना करता है, उसे हम 'संत' कहते हैं' उतनी उपयुक्त नहीं कही जा सकती, यद्यपि इससे श्रीपारधी जैसे मराठी लेखकों को अपने यहाँ की विशेष परिस्थितियों तथा प्रचलित परंपराओं के आधार पर निश्चित की गई किसी धारणा के लिए कुछ समर्थन अवश्य मिल जाता है। अस्तु, विद्वान् लेखक ने इस अध्याय के अंतर्गत महाराष्ट्र में प्रचलित नाथ संप्रदाय, महानुभाव संप्रदाय, वारकरी संप्रदाय, दत्त संप्रदाय तथा समर्थ संप्रदाय का संक्षिप्त, किंतु सुंदर परिचय दिया है।

समालोच्य ग्रंथ का चौथा अध्याय सबसे बड़ा है और यह उसके कलेवर के कदाचित् आधे से अधिक भाग तक विस्तृत है। इसका प्रमुख शीर्षक 'मराठी संतों की हिंदी वाणी : संतपरिचय और वाणीविवेचन' है किंतु, । इसे चार खंडों में विभाजित कर, उन्हें क्रमशः (१) मुसलमान आक्रमण के पूर्व (यादवकालीन) मराठी संतों की हिंदी वाणी' (२) मुसलमान आक्रमण के पश्चात् (मुसलमान कालीन) 'मराठी संतों की हिंदी वाणी की विवेचना' (३) मुसलमान वर्चस्व के ह्रासोपरान्त (शिवा जी कालीन) 'मराठी संतों की हिंदी वाणी' तथा (४) पेशवाकालीन और पेशवाओं के पश्चात् नाम दिये गये हैं और तदनुसार उनमें मूल विषय की विस्तृत चर्चा भी की गई है। 'संतों की वाणियों के अध्ययन का विभाजन' यहाँ पर इस बात को भी ध्यान में रखकर किया गया है कि ये लोग प्रायः 'समन्वयवादी' हुआ करते हैं जिस कारण इन्हें पंथविशेष के अंतर्गत ही मानकर चलना कभी 'आसान' नहीं कहा जा सकता और इसी कारण कदाचित् इनमें विशेष अंतर ढूढ़ने का वैसा प्रयास भी नहीं मिलता दीख पड़ता। जो हो, इस अध्यायवाले प्रथम खंड के अंतर्गत की गई चक्रधर, महदापिसा, दामोदर पंडित, ज्ञानेश्वर एवं मुक्ताबाई की उपलब्ध हिंदी रचनाओं की चर्चा आ जाने से न केवल यही स्पष्ट हो जाता है कि 'दक्षिण में हिंदी का संचार आर्यों के दक्षिणप्रवेश का स्वाभाविक परिणाम है, प्रत्युत यह भी कि तुर्कों के महाराष्ट्र में प्रवेश के पूर्व शौरसेनी अपभ्रंश से उत्पन्न हिंदी के ब्रज और खड़ी बोली के रूप वहाँ विद्यमान थे और मुसलमानों के प्रवेश के पश्चात उनमें विदेशी शब्दों का आगमन होने लगा' तथा ऐसे शब्दों की प्रचुरता ने ही उसे पीछे 'उर्दू' रूप भी दे डाला।

इस अध्याय के द्वितीय खंड में नामदेव, सेनानाई, भानुदास एवं एकनाथ जैसे संतों की चर्चा आती है और इसी प्रकार इसके तृतीय खंड के अंतर्गत संत तुकाराम, समर्थ रामदास एवं केशवस्वामी आदि के परिचयात्मक उल्लेख किये गए हैं। संत नामदेव इनमें स्वभावतः सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं और इसी कारण, उनके विषय में कुछ अधिक विस्तार के साथ कहा भी गया है। उनके जीवनचरित, जीवनकाल, सिद्धांत, भाषा एवं शब्दप्रयोग तथा उनकी रचनाओं में पाये जानेवाले काव्यतत्त्व पर भी यहाँ पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। विद्वान लेखक ने इसी प्रसंग में 'नामदेव एवं कबीर' शीर्षक देकर एक रोचक प्रश्न छेड़ दिया है जिसकी ओर हमारा ध्यान जाना स्वाभाविक है। प्रश्न है 'नामदेव कबीर से पूर्व

हुए, उन्होंने निर्गुण भक्ति का उत्तर में वर्षों प्रचार किया। फिर भी उन्हें उस पंथ का प्रवर्तक मानने में विद्वानों को क्यों झिझक होती है?' और इस प्रसंग में स्व० डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल तथा स्व० आचार्य रामचंद्र शुक्ल के मतों का हवाला भी दिया गया है। इन दोनों विद्वानों में से डा० बडथ्वाल ने 'कबीर के पूर्ववर्ती' जयदेव, नामदेव आदि संत कवियों को 'सगुण और निर्गुण संप्रदायों के बीच की कड़ी' समझा था तथा आचार्य शुक्ल ने 'नामदेव की रचना के आधार पर' यह निष्कर्ष निकाला था कि 'निर्गुण पंथ के लिए मार्ग दिखलाने वाले भी सगुणोपासक दोरंगी भक्त थे जो कभी कभी मौज में आकर ब्रह्मज्ञान का उपदेश भी करते थे।' किंतु इन सकेतों की ओर यहाँ पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। उक्त प्रश्न का उत्तर ढूढ़ने का प्रयत्न केवल मेरे इस कथन में ही किया गया है कि 'नामदेव में उत्तरी भारत के संत मत की सारी विशेषताएँ लक्षित नहीं होतीं और वे प्रधानतः अपने क्षेत्रतक सीमित रह जाते हैं और फिर इसकी आलोचना करते हुए, इसके 'संशोधन' की भी चेष्टा की गई है। शर्माजी ने इस संबंध में, मेरे एक अन्य कथन को भी उद्धृत किया है जो इस प्रकार है—'माइया मोहिया' शब्दों से यह भी ध्वनि निकलती है कि संत नामदेव को अपने गार्हस्थ्य जीवन के प्रति कदाचित पूर्ण विरक्ति कभी भी नहीं रही।' और उन्होंने इस पर भी विचार करने की कृपा की है। शर्माजी का इस संबंध में कहना है कि 'चतुर्वेदी जी के निष्कर्षों में संशोधन की आवश्यकता है। वे तथ्य को ठीक ठीक प्रकट नहीं करते।'

शर्माजी ने अपने उक्त निर्णय का आधार, संयोगवश संतमत की उन कतिपय विशेषताओं को भी स्वीकार किया है जिनकी चर्चा मेरी पुस्तक 'उत्तरीभारत की संतपरंपरा' में की गई है और उनमें से चार की ओर संकेत करते हुए उन्हें नामदेव की रचनाओं से उद्धृत की गई कुछ पंक्तियों द्वारा प्रमाणित करने की चेष्टा करते हुए उन्होंने अंत में कहा है कि 'इसीलिये हम उन्हें उत्तर भारत में निर्गुणभक्ति मत का प्रथम प्रचारक और प्रवर्तक तथा कबीर आदि संतों का पथप्रदर्शक मानते हैं,' जिससे कदाचित सभी किसी को पूर्ण संतोष न हो सकेगा। जिन चार विशेषताओं का शर्मा जी ने उल्लेख किया है उन्हें उन्होंने, मेरी समझ में, अधूरा एवं विकृत रूप दे डाला है जो इसके लिये एक बहुत बड़ा कारण होगा। पहली विशेषता जिसे उन्होंने 'प्रत्यक्ष अनुभव से सत्यान्वेषण' नाम दिया है, उसके आगे 'तथा उसके साथ तद्रूप की स्थिति' भी होना चाहिए था। इसी प्रकार दूसरी विशेषता का रूप भी यदि केवल 'सद्गुरु महत्त्व प्रतिपादन' मात्र न होकर 'सद्गुरु महत्त्व की स्वीकृति के साथ आत्मनिर्भरता का आग्रह' जैसा दीख पड़ता तो वह उक्त पुस्तक में की गई बातों को संभवतः कहीं अधिक ठीक ढंग से प्रकट करता। इसके सिवाय तीसरी विशेषता के विषय में भी कहा जाता है कि उसे 'सुमिरन वा नामस्मरण का आग्रह' मात्र ही न रहना चाहिए, प्रत्युत उसमें इसके साथ ही, उक्त पुस्तक की इस पंक्ति का आशय भी आ जाना चाहिए था — 'फिर भी इनकी प्रधान साधना अपने अंतःकरण को शुद्ध व निर्मल रखते हुए अपने सिद्धांत व व्यवहार में पूर्ण एकता लाने के प्रयत्न में ही केंद्रित है' (पृ० १५), जिसे न जाने क्यों छोड़ दिया गया है। चौथी विशेषता अर्थात् 'बाह्याडंबर की व्यर्थता', वस्तुतः उन तीनों विशेषताओं का ही एक आवश्यक परिणाम-स्वरूप मात्र है जिस कारण उक्त पुस्तक के अंतर्गत इस प्रसंग में उसकी चर्चा नहीं की गई है। जहाँ तक 'माइया मोहिया' वाले प्रसंग का प्रश्न है वह 'आदिग्रंथ' के अंतर्गत पाये जानेवाले 'सलोक' २१२ व २१३ पर आधारित है जो 'सलोक कबीर के' शीर्षक के नीचे आते हैं और जिनमें संत नामदेव तथा त्रिलोचन के बीच हुई किसी बातचीत की ओर संकेत किया गया है। ऐसी बातचीत अधिकतर काल्पनिक ही हो सकती है और इसका उतना महत्व नहीं है

जिस कारण उल्लिखित अवतरण में 'यह भी ध्वनि निकलती है' तथा 'कदाचित् पूर्ण विरक्ति कभी भी नहीं रही' जैसे वाक्यांशों के प्रयोग कर दिए गए हैं और इस प्रकार उक्त निष्कर्ष यहीं पर वस्तुतः कुछ संदिग्ध सा ही रह भी गया है। अतएव, संत नामदेव को उत्तरी भारत के संतमत का प्रवर्तक स्वीकार करने में किसी को कभी, केवल इसी आधार पर 'झिझक' नहीं हो सकती। वैसा न कर सकने के लिये कदाचित् स्वयं शर्मा जी की यह धारणा भी अपर्याप्त नहीं कही जा सकती — 'नामदेव जो पहले विठोवा की मूर्ति के उपासक भक्त थे ज्ञानेश्वर और उनकी बहन मुक्ताबाई की प्रेरणा से नाथपंथी बिसोवा खेचर के शिष्य हो 'निर्गुनिया' वन गये; परंतु उनके हृदय पर अंकित विट्ठल की प्रतिमा ज्ञान से आच्छादित नहीं हो पाई।' (पृ० 'ध') जिससे संभवतः कोई भी असहमत नहीं हो सकता। उनका यह कथन भी केवल किंचित हेर फेर के ही साथ सर्वसंमत ठहराया जा सकता है — 'उत्तर भारत के ज्ञानाश्रयी हिंदी संतों ने जिस निर्गुणधारा से देश के जनमन को आप्लावित किया उसका स्रोत वास्तव में मराठी संत नामदेव के हिंदी पदों में है।' (पृ० 'ध')।

समालोच्य ग्रंथ के अंतर्गत संत सेना नाई का 'महाराष्ट्रीय' होना स्वीकार किया गया है और इसके लिये महीपति की 'भक्तिविजय', स्वामी रामानंद के 'जीवनकाल (सं० १४२५-१४५६)' तथा उनकी मराठी रचनाओं के 'भीतरी साक्ष्य' को आधार माना गया है। परंतु यह प्रश्न अभी तक बहुत विवादास्पद रहता आया है और अनेक लेखकों ने इसके विपरीत सेना को उत्तरी वा मध्यभारत का ही निवासी बतलाया है। एक मराठी पुस्तक 'पंजाबोतील नामदेव' के लेखक शं० पु० जोशी का कहना है कि 'सेना नाई स्वामी रामानंद का समकालीन था और जबलपुर के निकटवर्ती 'वांदूगड़' के राजा का नौकर था। मैंने शोध करके यह मत निश्चित किया है कि वह नामदेव का समकालीन न होकर उनका परवर्ती था तथा महाराष्ट्रीय न होकर उत्तर का निवासी था। वह पंढरपुर का एकनिष्ठ वारकरी था और उसके कुछ मराठी अभंग भी मिलते हैं। किंतु इसके कारण उसे महाराष्ट्रीय भी मान लेना अविचार की बात होगी जैसे कबीर द्वारा रचित एक दो मराठी पदों के कारण उन्हें हम महाराष्ट्रीय नहीं ठहरा सकते।'। (पृ० २५)। शर्माजी ने सेना के महाराष्ट्रीय होने का एक प्रमाण यह भी दिया है कि उसकी रचनाओं की मराठी भाषा एवं भाव से 'उसका महाराष्ट्रीय जीवन से अत्यधिक परिचय सिद्ध होता है।' किंतु ऐसी बात उस दशा में भी असंभव नहीं कही जा सकती जब वह बहुत दिनों तक पंढरपुर में रह चुका हो। वास्तव में, अभी तक उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर यह निश्चित रूप से कह देना कि संत सेनानाई का जन्म अमुक प्रदेश वा नगर ही था सरल नहीं है।

चतुर्थ अध्याय के तृतीय खंड एवं चतुर्थ खंड के अंतर्गत संत तुकाराम से लेकर संत माणिक तक का परिचय दिया गया मिलता है और इसके साथ ही उन संत कवियों की उपलब्ध हिंदी रचनाओं का न्यूनाधिक विवेचन भी पाया जाता है जो सर्वथा प्रशंसनीय है। ग्रंथ के अंतिम या पाँचवें अध्याय में इसी प्रकार मराठी संतों द्वारा प्रयुक्त विशिष्ट छंदों तथा काव्यप्रकारों का वर्णन किया गया है जिससे उनकी हिंदी रचनाओं के इस अंग पर भी बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है और उनकी हिंदी के लिये, देन का मूल्य बढ़ जाना जान पड़ता है। इस ग्रंथ के परिशिष्ट (क) में जिन संत वाणियों का संग्रह किया गया है उनमें से अधिकांश हमारे लिये सर्वथा नवीन है जिस कारण न तो हम उनकी प्रामाणिकता की आवश्यक परीक्षा कर सकते हैं और न उनके पाठों का कोई निश्चित रूप ही निर्धारित कर सकते हैं। फिर भी

इतना तो निःसंकोच कहा जा सकता है कि, इन रचनाओं के प्रकाश में आ जाने के कारण, हिंदी के उपलब्ध संत साहित्य की भी वृद्धि होगी। विद्वान् लेखक ने इस ग्रंथ के अंतर्गत यत्रतत्र कुछ महत्वपूर्ण छायाचित्र एवं मानचित्र भी दिए हैं जो विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ग्रंथ के आरंभ में ही मराठीभाषी क्षेत्र का एक मानचित्र संलग्न है जिसमें प्रमुख नगरों के नाम भी अंकित कर दिए गए हैं। इसी प्रकार पृ० ८१ के पहले जो दो छायाचित्र दिए गए हैं उनमें शक संवत् की बारहवीं शताब्दी के महानुभावी संत दामोदर पंडित की हिंदी रचनाओं के कुछ ऐसे अंश प्रदर्शित किए गए हैं जो किसी 'लगभग तीन सौ वर्ष प्राचीन पांडुलिपि' में मिले हैं। शेष चित्रों में पंढरपुर के 'विठोवा' की मूर्ति, श्री राम की प्राचीन प्रतिमा तथा अजंता एवं एलोरा की गुफाओं के छायाचित्र हैं जो अपना पृथक महत्व रखते हैं।

इस प्रकार 'हिंदी को मराठी संतों की देन' को प्रायः सभी प्रकार से पूर्ण और आकर्षक बनाने की चेष्टा की गई है। इसे पढ़ते समय कतिपय छोटी मोटी अशुद्धियाँ अवश्य दृष्टि में आ जाती हैं किंतु उनमें से भी बहुतेरी केवल छापे की भूल हो सकती है। उदाहरण के लिये 'ज्ञानेश्वरी' का 'ज्ञानेश्वर' (पृ० १०७) 'भगति' का 'प्रगति' (पृ० १३०), 'शुकाचार्य का 'शुक्राचार्य' (पृ० १३७) तथा 'महतारी' का 'महारानी' (पृ० २०५) हो जाना अथवा सन् '१२९४' का '१९९४' (पृ० ९३) उतना कठिन नहीं कहा जा सकता। पृ० ८२ का 'पूरवर्ती, 'पूर्ववर्त्ती' के स्थान पर कैसे आ गया, पृ० ५७ का 'पर' आवश्यक होता हुआ भी वहाँ कैसे पहुँच गया और इसी प्रकार पृ० ९० का, 'शके १९१५' वहाँ पर वस्तुतः, किस निश्चित काल की ओर संकेत करता है जल्दी समझ में नहीं आता और न इसे केवल 'प्रेस की भूल' कह देने मात्र से ही हमें पूरा संतोष हो पाता है।

परंतु इस प्रकार की भूलें कभी अधिक महत्व नहीं रखती और पुस्तक के उन गुणों के सामने स्वभावतः छिप जाती हैं, जिनकी ओर हमने इसके पहले यथास्थान संकेत करने का प्रयत्न किया है तथा जिसके कारण हमारे आलोचनासाहित्य की निःसंदेह श्रीवृद्धि हुई है। ऐसा उपादेय ग्रंथ प्रकाशित करनेवाली परिषद् को हम अपनी हार्दिक बधाई अर्पित करते हैं।[1]

—परशुराम चतुर्वेदी

*

१. हिंदी को मराठी संतों की देन—डा० विनयमोहन शर्मा, प्रकाशक, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।

हिंदी वक्रोक्तिजीवित

हिंदी - अनुसंधान - परिषद् (दिल्ली विश्वविद्यालय) की हिंदी - अनुसंधान ग्रंथमाला का यह पाँचवाँ प्रकाशन है। उक्त परिषद् का संचालन संपादन डॉ० नगेंद्र के निरीक्षण में हो रहा है। उक्त परिषद् की इसी ग्रंथमाला में 'वामन' की 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' की हिंदी व्याख्या 'हिंदी काव्यालंकारसूत्रवृत्ति भाष्य' नाम से प्रकाशित हो चुकी है। प्रस्तुत ग्रंथ का हिंदी व्याख्यायुक्त यह प्रकाशन विशेष महत्वपूर्ण है।

आचार्य कुंतक(या कुंतल) भारतीय काव्यशास्त्र में संप्रदाय विशेष के प्रवर्तक हैं। साहित्यशास्त्र के इतिहास में उन्होंने एक नूतन संप्रदाय, 'वक्रोक्तिवाद' की उद्भावना की। कुंतक के पूर्व भारतीय अलंकारिकों में प्रमुख रूप से 'अलंकारवाद', 'गुणवाद' या 'रीतिवाद' तथा 'ध्वनिवाद' की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। 'रस' को ध्वनिवादी आनंदवर्धनाचार्य ने काव्य का सर्वोत्कृष्ट तत्व घोषित कर दिया था। ऐसी अवस्था में काव्य की आत्मा के विषय में सर्वथा नवीन मत की प्रौढ़ एवं तलस्पर्शी उद्भावना 'कुंतक' की मौलिक प्रतिभा का परिचायक है। 'वक्रोक्तिजीवितम्' में 'कुंतक' ने अपने अभिनव सिद्धांत, 'वक्रोक्तिवाद' की स्थापना करते हुए उसका सांगोपांग निरूपण किया है। उन्होंने अपने सिद्धांत में पूर्वप्रचलित सभी प्रमुख काव्यतत्वों का अंतर्भाव करने का प्रयास करते हुए संस्कृत साहित्यालोचन में एक मौलिक एवं क्रांतिपूर्ण दृष्टि उपस्थित की है। यद्यपि 'ध्वनिवाद' के साथ-साथ 'अभिनवगुप्त' द्वारा परिपोषित रससिद्धांत के समक्ष कुंतक का सिद्धांत साहित्यशास्त्र के उत्तरवर्ती आचार्यों में स्वीकृत और प्रचलित न हुआ तथापि उनकी समीक्षा-दृष्टि की मौलिकता का महत्व अक्षुण्ण है।

उक्त 'वक्रोक्ति' सिद्धांत का प्रतिपादक एवं निरूपक एकमात्र ग्रंथ, कुंतक का 'वक्रोक्तिजीवितम्' है। संस्कृत के अलंकारशास्त्रीय कृतियों में बहुत दिनों तक यह ग्रंथ नाममात्र से ज्ञात था। 'डॉ० एस० के० दे' महाशय के अनवरत श्रम के फलस्वरूप इस ग्रंथ के दो संस्कृत संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। 'डॉ० दे' महोदय द्वारा संपादित 'वक्रोक्तिजीवितम्' का प्रथम संस्करण १९२३ ई० में प्रकाशित हुआ था। इसमें केवल दो उन्मेषमात्र थे। मद्रास के राजकीय पुस्तकालय की एक हस्तलिखित प्रति के आधार पर इस प्रथम संस्करण का संपादन हुआ था। 'प्रो० जैकोबी' महोदय के साथ 'डॉ० दे' ने 'वर्न युनिवर्सिटी में बड़े श्रम के साथ प्रथम दो उन्मेषों को संपादित किया था। पर तृतीय और चतुर्थ उन्मेषों का पाठ खंडित एवं अशुद्ध होने के कारण आगे संपादन न हो सका।

भारत लौटने पर कलकत्ता विश्वविद्यालय में कार्य करते हुए डॉ० दे महोदय ने पुनः सभी संभव प्रयास किए। मद्रास पुस्तकालय से पुनः एक बार पूर्णतः शुद्ध और अधिक पूर्ण प्रतिलिपि कराई गई। इसके आधार पर प्रथम दो उन्मेषों के संशोधन और खंडित पाठ-योजन में उन्हें सफलता भी मिली। पर इसके आगे बढ़ने में वे असमर्थ रहे। अतः सन् १९२३ ई० में दो उन्मेषों वाला वह संस्करण प्रकाशित हुआ।

इसका दूसरा संस्करण सन् १९२८ ई० में 'डॉ० दे' महोदय ने संशोधित, परिवर्धित एवं पुनःसंपादित रूप में प्रकाशित कराया। इस संस्करण में प्रथम दो उन्मेषों के अतिरिक्त तृतीय उन्मेष का केवल तृतीयांश संपादित है तथा तृतीय उन्मेष का अवशिष्टांश एवं चतुर्थ उन्मेष असंपादित रूप में ही परिशिष्ट के अंतर्गत दिए गए हैं। इस संस्करण के प्रकाशन में 'डॉ० दे' महोदय को 'जैसलमेर' के जैन भांडार से प्राप्त ग्रंथ की प्रतिलिपि से बड़ी सहायता

मिली। इस प्रतिलिपि का पाठ पूर्व-प्रतियों की अपेक्षा अधिक शुद्ध था। परंतु यह प्रति भी अपूर्ण थी। 'वक्रोक्तिजीवितम्' के द्वितीय संस्करण में, जहाँ तक तृतीय उन्मेष का अंश संपादित है, वहीं तक संभवतः यह प्रति थी। इस प्रति की सहायता से भी पूर्ण ग्रंथ का संपादन अपूर्ण ही रहा। फलतः 'डॉ० दे' महोदय ने, जैसा बताया जा चुका है, यथासंभव संशोधित-प्रतिसंस्कृत रूप में इसे प्रकाशित किया।

आठ-दस वर्षों के निरंतर प्रयत्न के पश्चात् भी, ढाका विश्वविद्यालय के संस्कृत विभागाध्यक्ष, डॉ० सुशीलकुमार दे, इस ग्रंथ की पूर्ण एवं शुद्ध पांडुलिपि प्राप्त करने में समर्थ न हो सके और ग्रंथ का संपादन तृतीय उन्मेष के कुछ अंश तक ही हो सका। इस उन्मेष के नवीन संपादित अंश का कार्य भी पूर्णतः संतोषजनक नहीं कहा जा सकता। इसके अंतिम दो-तीन पृष्ठ तो विशेषरूप से पाठ की अशुद्धियों और त्रुटित पाठों से भरे हुए हैं। क्योंकि आधारभूत पांडुलिपियों के सहारे उतना ही कार्य संभव था, जितना 'प्रो० दे' महाशय ने किया।

इस संस्करण के प्रकाशन के पश्चात् अबतक कोई पांडुलिपि या प्रतिलिपि उपलब्ध नहीं हुई है। अतः ग्रंथ के संशोधन या प्रतिसंपादन का पुनः प्रयास संभव नहीं हो सकता। इस संस्करण के प्रकाशित होने के पूर्व जैसलमेर के किसी अध्यापक के यहाँ 'पाँच उन्मेषवाले' 'वक्रोक्तिजीवितम्' के होने का पता 'डॉ० दे' को सन् १९२५ में पंडित रामकृष्ण कवि के एक पत्र द्वारा मिला था। यह भी सूचना मिली थी कि वह पुस्तक शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाली है। इस समाचार को पाकर भी 'डॉ० दे' महाशय संपादन कार्य करते रहे, हतोत्साह होकर उसे त्याग नहीं दिया। अन्यथा इस द्वितीय संस्करण का प्रकाशन ही न हो पाता। पांच उन्मेषवाला तथाकथित ग्रंथ आजतक प्रकाशित न हुआ और अब तो ऐसा जान पड़ता है कि उक्त सूचना में कुछ रहस्य था।

पूर्व दो संस्करणों के विषय में विस्तार से कहने का सारांश केवल इतना ही है कि उपलब्ध सामग्री के आधार पर वैज्ञानिक पांडुलिपिमूलक पद्धति से संपादन-कार्य जितना पूर्ण हो सकता था, 'डॉ० दे महोदय' ने यथाशक्ति उसे संपन्न किया। उस पद्धति से और अधिक कुछ हो ही नहीं सकता था। आजतक भी कोई दूसरी हस्तलिखित पूर्ण प्रति कहीं उपलब्ध नहीं हो सकी। अतः उक्त अत्यंत महत्वपूर्ण ग्रंथ, उसी अपूर्ण त्रुटित-खंडित, अंशतः असंपादित-असंशोधित रूपमें पड़ा रहा।

प्रस्तुत संस्करण

डॉ० नगेंद्र के अनुरोध पर, हिंदी अनुसंधान परिषद् दिल्ली के लिए सिद्धांतशिरोमणि आचार्य विश्वेश्वर ने इस ग्रंथ के पुनःसंपादन एवं हिंदी व्याख्याकरण का उत्तरदायित्व स्वीकार किया और प्रस्तुत रूप में यह 'हिंदी वक्रोक्तिजीवित' पुनः संपादित होकर प्रकाशित हुआ।

संस्कृतांश के संपादन-कर्ता एवं हिंदी-व्याख्याकार हैं आचार्य विश्वेश्वर तथा ग्रंथमाला के संपादक डॉ० नगेंद्र ग्रंथ के संपादक हैं।

ग्रंथ की भूमिका

डॉ० नगेंद्र (ग्रंथ-संपादक) द्वारा ग्रंथ के आरंभ में एक अत्यंत विस्तृत एवं विवेचनापूर्ण समालोचनात्मक भूमिका २८२ पृष्ठों में लिखी गई है। इस भूमिकांश में लेखक ने विद्वत्तापूर्ण ढंग से 'वक्रोक्ति'—सिद्धांत के उद्भव, पूर्ववृत, विकास आदि का सुस्पष्ट परिचय दिया है।

कुंतक के पूर्ववर्ती और परवर्ती आचार्यों ने जिस रूप में 'वक्रोक्ति' का उल्लेख किया और परिचय दिया है, भूमिका के आरंभ में उसका निरूपण किया गया है। तदनंतर 'कुंतक' द्वारा काव्य में 'वक्रोक्ति'-सिद्धांत की स्थापना का परिचय देते हुए यह दिखाया गया है कि 'वक्रोक्ति'-सिद्धांत, के अनुसार काव्य का स्वरूप कैसा प्रतिपादित हुआ है। काव्य-प्रयोजन और काव्य-हेतु का निरूपण करने के पश्चात् भूमिका में विस्तार के साथ 'वक्रोक्ति' की परिभाषा देकर उसकी विचारात्मक व्याख्या की गई है। 'कुंतक' के मतानुसार काव्योक्तिशैली तथा शास्त्राख्यानशैली और व्यवहार-निर्वाहशैली का अंतर बताते हुए काव्यशैली के भेदक गुणधर्मों का विचार किया गया है। काव्य में कविकर्तृत्व, प्रतिभा आदि का निरूपणात्मक विवेचन विस्तार के साथ हुआ है। इसके अनंतर 'वक्रोक्ति' के षट-भेदों का पूर्ण एवं समीक्षात्मक परिचय दिया गया है। 'वक्रोक्ति' तथा अन्य भारतीय काव्य-सिद्धांतों का तुलनात्मक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन लगभग नब्बे पृष्ठों में विस्तार के साथ प्रस्तुत किया गया है। हिंदी के कवियों और आलंकारिकों द्वारा 'वक्रोक्ति' सिद्धांत किस सीमा तक और किस रूप में गृहीत हुआ है — इसका भी विवेचन किया गया है। इसी प्रसंग में आधुनिक कुछ कवियों-आलोचकों के मतों का भी उल्लेख किया गया है। वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद पर आचार्य रामचंद्र शुक्ल के विचारकों का भी विश्लेषणात्मक समीक्षण भूमिका - लेखक ने किया है।

इन सबके साथ-साथ पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र में काव्यगत उक्तिवक्रता के मूलभूत तत्वों का परिशीलनात्मक निरूपण और विवेचन प्रस्तुत करते हुए आलोचक ने अपने विचार भी उपस्थित किए हैं।

अंत में संपादक ने पूर्व-विवेचित अध्ययन के आधार पर वक्रोक्तिवाद का मूल्यांकन और परीक्षण-परिणाम का समीक्षणात्मक आकलन प्रस्तुत किया है। इस प्रसंग में वक्रोक्ति-सिद्धांत की व्यापकता का उल्लेख करते हुए उक्त मत के प्रतिष्ठापक आचार्य कुंतल की तत्वदर्शिनी प्रतिभा का परिचय दिया गया है। कुंतक के अनुसार, कविव्यापार-गत उपस्थापन-कौशल के अंतर्गत किस भाँति काव्यगत रमणीयता तथा भावप्रवण कल्पनाशीलता के समस्त विधाओं का अंतर्भाव होता है, अनुभूतिपक्ष, बोधपक्ष एवं कलापक्ष-इन तीनों का कैसे संनिवेश होता है, इसका संकेत किया गया है।

यह भूमिका काव्य के एक प्रौढ़ सिद्धांत का व्यापक परिचय देने के कारण स्वतंत्र रीति से अत्यंत महत्वपूर्ण है। भूमिका-लेखक ने बड़े मनोयोग और पांडित्य के साथ प्रत्न एवं अद्यतन, प्राच्य एवं पाश्चात्य दृष्टियों के प्रकाश में कुंतक के पक्ष की स्थापना की है। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि अभिनवगुप्त, महिम भट्ट और मंमट आदि के सैद्धांतिक समीक्षण का पूर्णतः आकलन किया जाय तो यह दिखाई देगा कि 'कुंतक' के सिद्धांत में वह अपेक्षित एवं व्यापक पूर्णता नहीं है जो होनी चाहिए। विविध काव्य-उपादानों का जिस रीति से 'वक्रता' के अंतर्गत समावेश किया गया है, वह पूर्णतः मन में बैठता नहीं वरन् अंशतः आयासित, तर्क द्वारा साधितमात्र है। संभवतः भूमिका-संपादक ने इस तथ्य की घोषणा करने से अपने को बचाने का प्रयास किया है। फिर भी प्रस्तुत भूमिका के वस्तु-विवेचन में अंतर्भेदिनी प्रौढ़ता का परिचय मिलता है। यद्यपि इसके पूर्व भी 'भारतीय साहित्यशास्त्र' (द्वितीय भाग) में तथा 'वक्रोक्ति और अभिव्यंजना' नामक पुस्तक में इस विषय का निरूपण किया गया है तथापि प्रस्तुत विवेचना द्वारा अनेक मौलिक एवं गंभीर विचार हमारे सामने प्रस्तुत किए गए हैं जो पर्याप्त मननीय हैं।

मूल ग्रंथ का पुनः संपादन

आचार्य विश्वेश्वर ने समग्र प्रस्तुत ग्रंथ का और मुख्यतः त्रुटित तथा असंपादित अंश का पुनः संपादन-संशोधन किया है तथा पूरी कृति की हिंदी व्याख्या प्रस्तुत की है।

यह पहले बताया जा चुका है कि मूल ग्रंथ के तृतीय उन्मेष के तृतीयांश तक (ग्यारहवी कारिका के कुछ भागतक) ही 'डॉ० दे' महोदय संपादन कर सके। उसमें भी अंत का कुछ अंश त्रुटित और अशुद्ध पाठों से युक्त है।

किसी अन्य नवीन पांडुलिपि या हस्तलेख के उपलब्ध न होने से आचार्य विश्वेश्वर को पूर्व-संपादित १९२८ ई० के द्वितीय संस्करण का ही अवलंबन लेना पड़ा। वैज्ञानिक या 'पांडुलिपिमूलक' संपादन-पद्धति के आधार पर जो कुछ भी संभव था वह 'डॉ० दे महोदय' द्वारा किया जा चुका था। अतः आचार्य विश्वेश्वर को अपनी संपादन-पद्धति बदलनी पड़ी।

उन्होंने इस प्रस्तावित अभिनव संस्करण के संपादन में 'विवेकाश्रित संपादन-पद्धति' का आश्रय लिया। पाठ-निर्धारण और पाठ-संशोधन के लिये उन्हें अपने बुद्धि-विवेक पर निर्भर होकर संपादन कार्य करना पड़ा और अनेक स्थलों पर पांडुलिपि पर आधारित पाठ की उपेक्षा करके विवेकानुसार पाठ की योजना और शुद्धि इस ढंग से करनी पड़ी है जिससे कि ग्रंथ का आशय स्पष्ट हो सके। पर इसके साथ ही साथ व्याख्याकार ने हस्तलेखाश्रित पाठ को भी पादटिप्पणियों में सुरक्षित रखा है। इस प्रकार श्री विश्वेश्वर ने असंपादित एवं त्रुटित अंशों का सुव्यवस्थित संपादन करके ग्रंथ को बोधगम्य बनाने का प्रयास किया है। यह कार्य जितने श्रम, अध्ययन और वैदुष्य के द्वारा साध्य हो सका है, विद्वज्जन स्वयं उसकी कल्पना कर सकते हैं। इस प्रयास के लिये व्याख्याकर अभिनंदन के पात्र हैं।

उपर्युक्त रीति से संपादन करने में व्याख्याकार ने स्वमति-प्रयोग के कार्य किये हैं। बहुत से स्थलों पर ऐसे पाठ थे जो स्थानभ्रष्ट होकर, जैसा कि ग्रंथ का आमुख पढ़ने से प्रतीत है, अन्यत्र लग गए थे। फलतः मूल ग्रंथ दोनों ही स्थलों पर दुर्ज्ञेय, दुर्बोध्य तथा अव्याखेय हो गया है। व्याख्याकार ने विवेकाश्रित संपादन-पद्धति के आधार पर ग्रंथ के ऐसे पाठ-स्थलों को व्यवस्थित किया है।

प्रस्तुत ग्रंथ के मूलांश-संपादन में आचार्य विश्वेश्वर ने नीचे निर्दिष्ट विशेष उल्लेखनीय कार्य किए हैं।

(क) स्थानभ्रष्ट (अस्थान-स्थित) ग्रंथांश को ग्रंथ में यथास्थान प्रतिष्ठित करना।

यह कार्य अनेकत्र करना पड़ा जिसके उदाहरण का निर्देश 'आमुख में उल्लिखित है।

(ख) अधिक या असंगत पाठों को मूल ग्रंथ से हटा देना। यद्यपि पाद-टिप्पणी में ऐसे अंशों का उल्लेख कर दिया गया है।

(ग) कहीं-कहीं (यद्यपि बहुत ही कम स्थलों पर) लुप्त पाठ या त्रुटित पाठ को अपने विचार के अनुसार बनाकर योजित करना।

ऐसे अंश इटैलिक टाइप में दिये गए हैं। पर यह कौशल वहीं अपनाया गया है जहाँ कुछ शब्दों के योजन से आवश्यक तात्पर्य की पूर्ति होती दिखाई पड़ी जिन स्थलों पर पाठ का

अधिक अंश त्रुटित या लुप्त है उन स्थलों को छोड़ देना ही संगत समझा गया है। वहाँ पाठलोप के सूचनार्थ पुष्प चिह्न(❀) दे दिया गया है।

ग्रंथ की प्रतीक-पद्धति

इस ग्रंथ के विषय में व्याख्याकार का अनुमान है कि तृतीय-चतुर्थ उन्मेषों के इन त्रुटिपूर्ण अंशों का जो स्वरूप उपलब्ध है, वह इसी रूप, 'प्रतीक-पद्धति' 'में ग्रंथकार द्वारा' ही लिखा गया है। उनकी कल्पना है कि ग्रंथकार ने 'प्रतीक-पद्धति' में अपने ग्रंथ की रूपरेखा पहले प्रस्तुत की रही होगी। उसी के आधार पर ग्रंथ का विस्तृत रूप में प्रणयन आरंभ किया गया जो तृतीय उन्मेष के लगभग तृतीयांश तक ही पूरा किया जा सका। किसी कारणवश (अस्वस्थता, मृत्यु या किसी अन्य कारण से) आगे का ग्रंथ प्रतीक-पद्धति में ही पड़ा रह गया, उसका परिमार्जित परिष्कृत संपादन न हो सका। ग्रंथ उसी रूप में प्रचलित रहा और लिपिकार ने उसी स्वरूप में उसकी प्रतिलिपि की तथा उसी रूप में वह हमें आज उपलब्ध हुआ है।

इस अनुमान की पुष्टि का आधार यह है कि इस भाग में कारिकाएँ पृथक् नहीं मिलती, केवल वृत्ति और उदाहरण मिलते हैं। वृत्ति में प्रतीकों द्वारा कारिकांश मिल पाता है। दूसरा आधार यह है कि अनेक उदाहरण भी पूर्णतः उल्लिखित न होकर प्रतीकमात्र में दिए गए हैं। कहीं-कहीं वृत्तिभाग के गद्य में भी इस प्रकार का लाघव प्रयुक्त है।

इसी प्रकार आचार्य विश्वेश्वर मानते हैं कि 'प्रतीक-पद्धति' में लिखित ग्रंथ पूर्ण है। क्योंकि प्रथम उन्मेष के अट्ठारहवें श्लोक में वर्णित षड्विध वक्रताओं का निरूपण प्रतीकात्मक रूप में यहाँ समाप्त हो जाता है। कोई निरूप्यविवेच्य अंश अवशिष्ट नहीं रहता।

कारिकाओं की योजना में भी व्याख्याकार ने प्रौढ़ अध्ययन और मनन का परिचय देते हुए वृत्तिस्थित प्रतीकों के आधार पर कारिकाओं का आकलन किया है।

अतः प्रस्तुत रूप में संस्कृत मूल का संपादन करने में ग्रंथकार ने पर्याप्त प्राज्ञता और प्रतिपत्ति का परिचय दिया है।

फिर भी इन सब प्रयत्नों का परिणाम इतना ही हो सका है कि वैदुष्यपूर्ण प्रयत्न द्वारा किसी सीमा तक कुंतल के मत को समझने योग्य ग्रंथ हो गया है। अन्यथा अधिक या असंगत पाठांश को जब कुछ अंश के त्रुटित रहने पर हटाया गया है तब उसका पूर्ण समर्थन नहीं हो सकता। क्योंकि जिस अंश को अधिक या असंगत कहकर त्रुटितांश के पूर्व हटाकर तर्कसंगत समझ लिया गया है, बहुत संभव है, पूर्ण पाठ होने पर, वहाँ से हटाया गया अंश अधिक सुसंगत तथा विषय - निरूपक होता।

इसी प्रकार त्रुटित पाठों की योजना भी केवल कामचलाऊ प्रयास है। क्योंकि कितना अंश और किस ढंग से मूल में रहता, इसका ठीक-ठीक अनुमान करना अत्यंत दुष्कर अथवा असंभवप्राय है।

ग्रंथ की 'प्रतीक-पद्धति' का सिद्धांत स्वीकार करके ग्रंथ का यही स्वरूप कुंतककृत मानने का अनुमान भी पुष्ट आधार से समर्थित नहीं कहा जा सकता। कुंतक ने कारिकाओं की रचना अवश्य की रही होगी। वृत्तियों में प्राप्त प्रतीक इसके प्रमाण हैं। इस तथ्य को आचार्य

विश्वेश्वर भी मानते हैं। यदि कुंतककृत अपूर्ण-पूर्ण समग्र ग्रंथ इतना ही है तब उसीके साथ कारिकांश का भी उपलब्ध होना आवश्यक था।

इस अनुमान के लिये कि प्रस्तुत स्वरूप ग्रंथकारकृत रचिष्यमाण ग्रंथ की रूपरेखा है, कोई सबल हेतु नहीं है। हमारे सामने मूल हस्तलेख नहीं हैं — अतः यह कहना तो संभव नहीं है कि वास्तविक परिस्थिति क्या है, पर दस-दस पंद्रह-पंद्रह पंक्तियों की लंबी-चौड़ी वृत्तियों को देखकर यह अनुमान करना अधिक स्वाभाविक जान पड़ता है कि ग्रंथकार द्वारा यह पूरा ग्रंथ संभवतः प्रथम दो उन्मेषों की व्याख्यात्मक पद्धति में ही निर्मित हुआ रहा होगा।

इस अनुमान को यदि ठीक मान लिया जाय तो यह भी स्वतः सिद्ध हो जाता है कि ग्रंथ की समाप्ति में कम से कम उपसंहारांश अवश्य लुप्त है। 'डॉ० दे महोदय' कहते हैं और आचार्य विश्वनाथ ने भी बताया है कि प्रथम उन्मेष में उल्लिखित षड्विध वक्रता का प्रस्तुत ग्रंथ में प्रायः निरूपण हो चुका है। अतः ग्रंथ पूर्ण है। फिर भी जिस धूमधाम से ग्रंथ का उपक्रम किया गया है, उसी शैली में और उसी विस्तार के साथ ग्रंथ के उपसंहार की कल्पना करना असमीचीन न होगा।

अतः ग्रंथ के पांच उन्मेषवाली बात चाहे कोरी कल्पना भले ही हो और ग्रंथ चाहे मूलतः चार ही उन्मेष का रहा हो फिर भी ग्रंथ की समाप्ति में कम से कम प्रौढ़ एवं अनुरूप उपसंहारांश अवश्य रहा होगा जो प्रस्तुत रूप में खंडित है, ऐसा जान पड़ता है।

हिंदी-व्याख्या

ग्रंथ की हिंदी व्याख्या के विषय में अधिक कुछ नहीं कहना है। सिद्धांतशिरोमणि आचार्य विश्वेश्वर के प्रौढ़ पांडित्य और अथक प्रयास ने ग्रंथ के मर्म-प्रकाशन में जो सफलता पाई है, उसको सभी स्वीकार करेंगे। आचार्य जी ने जो हिंदी रूपांतर किया है वह केवल वाक्यानुवाद नहीं है वरन् मर्मप्रकाशिनी व्याख्या है। इस ग्रंथ में हिंदी व्याख्या के माध्यम से विषय का सुस्पष्ट निरूपण हुआ है। यदि संस्कृत से पूर्ण अनभिज्ञों की सुबोध्यता के विचार से इसे थोड़ा और सरल बनाया गया होता तो ग्रंथ का आकार चाहे कुछ और बड़ा हो जाता पर ग्रंथ की उपयोगिता अवश्य बढ़ जाती। क्योंकि अनेक स्थल इस नूतन काव्यवाद में ऐसे अस्पष्ट एवं दुरूह हैं, जिनकी व्याख्या ऐसे ढंग से होनी चाहिए जो सुबोध हो तथा असंस्कृतज्ञों के भी समझ में आ सके। विश्वास है, आचार्य जी अगले संस्करण में इसे कुछ और सरल एवं सुबोध बना देंगे।

अपनी अस्वस्थता के कारण सिद्धांत शिरोमणि जी जो प्रूफ संशोधन का कार्य न कर सके उसके कारण संस्कृतांश में मुद्रण-संबंधी बहुत सी भूलें रह गई हैं। 'जड', 'प्रौढ', 'क्रीडा' 'रूढ' आदि शब्दों के स्थान पर 'जड़', 'प्रौढ़', 'क्रीड़ा' आदि सर्वत्र मुद्रित हैं। आकर संस्कृत में 'ड़ ढ़' ध्वनियाँ होती ही नहीं, वैदिक संस्कृत में होती हैं, पाली में प्रयुक्त हैं तथा हिंदी में हैं। अगले संस्करण में इसे अवश्य दूर कर देना चाहिए। इसी प्रकार प्राकृतांशों की संस्कृतच्छाया में संधि-विषयक अनेक मुद्रण त्रुटियाँ संशोधित होने से छूट गई हैं। विश्वास हैं अवश्य ही द्वितीय संस्करण में इनका भी पूर्ण सशोधन हो जायगा।

अपना आलोचनात्मक निवेदन समाप्त करने के पूर्व आचार्य विश्वेश्वर का ध्यान एक बात की ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ।

नाम और 'राजानक' उपाधि के कारण यह अनुमित बात मानी जाती है कि संभवतः कुंतक काश्मीरी थे। यह भी कल्पना की जाती है कि 'वक्रोक्तिजीवितकार' या तो अभिनव गुप्त के कुछ पूर्ववर्ती हैं वा समकालीन अथवा आसपास के हैं। अतः इनकी दार्शनिक दृष्टि संभवतः 'शैव' सिद्धांत से अवश्यमेव प्रभावित रही होगी। आरंभिक मंगलाचरण में—

जगत्त्रितयवैचित्र्यचित्रकर्मविधायिनाम्।
शिवं शक्तिपरिस्पन्द मात्रोपकरणं नुमः॥

प्रयुक्त 'शिव' 'शक्ति', 'परिस्पद' शब्द इस अनुमान के परिपोषक हैं। प्रथम कारिका में भी 'परिस्पन्द' शब्द आया है। अन्यत्र भी 'स्पंद' शब्द अनेक बार प्रयुक्त है। अतः साक्षात् न सही, परंपरया ही, शब्द-अर्थ तथा काव्यसर्जना के संबंध में काश्मीर शैव-दर्शन की दृष्टि से अवश्यमेव कुंतक का सिद्धांत प्रभावित था। इस विषय पर अभी मैंने निर्णयात्मक निष्कर्ष तो नहीं निकाला है, पर ऐसा भान होता है कि 'कुंतक' का अध्ययन करते समय इस ओर भी ध्यान देना चाहिए। आशा है आचार्य विश्वेश्वर इस पर भी विचार करेंगे।

अंत में पुनः मैं आचार्य विश्वेश्वर और डॉ० नगेंद्र का इस चिर-प्रतीक्षित ग्रंथ-प्रकाशन के लिये अभिनंदन करता हूँ और आशा है कि हिंदी जगत इस रचना से समुचित लाभ उठाएगा।[1]

—कल्याणपति त्रिपाठी

❀

चार नए कहानी संग्रह

यदि आज के कहानीकार के संबंध में कोई यह कहता है कि अमुक गाँव या कस्बे का कहानीकार है तो वह बेहद नाराज हो जाता है। उसकी नाराजगी का मुख्य कारण यह मालूम होता है कि समीक्षक उसके अनुभूतिक्षेत्र को सीमित कर देता है। वह कहानियों में कहानियाँ न ढूँढ़कर गाँव या कस्बा ढूँढ़ने लगता हैं। पर क्या उन कहानियों में गाँव या कस्बा नहीं होता? उस वातावरण में उगनेवाली जिंदगी में वह वातावरण तो होगा ही। मेरी दृष्टि में इसमें नाराज होने की जरूरत नहीं है। जिसको वह कमजोरी समझता है वह उसकी मजबूती है। आज के जीवन की विविधता में आँख मूँदकर हाथ पाँव मारना खतरे से खाली नहीं है। आज के कहानीकार अपने क्षेत्र और सीमा को पहचान कर कलम कर रहे हैं, यह उनकी ईमानदारी ही कही जायगी। अपने क्षेत्र के बाहर जाने पर ही वे प्रायः भटकते हुए दिखाई पड़ते हैं। किसी खास क्षेत्र की कहानियाँ लिखते समय भी संग्रह-त्याग

१. हिंदी वक्रोक्तिजीवित — संपादक, डॉ० नगेंद्र, व्याख्याकार आचार्य श्रीविश्वेश्वर, सिद्धांत शिरोमणि। प्रकाशक— हिंदी-अनुसंधान-परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली। पृ० सं० २८२+२७+५५८। मू० १६)

और सूझ-बूझ का परिचय देना पड़ता है। खास क्षेत्र या खित्ते की जिंदगी को कहानी में बाँधते समय उसका दायित्व दुहरा हो जाता है। वह स्थानीय जिंदगी एक ओर स्थानीय होती है दूसरी ओर स्थानीय सीमाओं का अतिक्रमण कर जाती है। जिस लेखक में जितनी सर्जनात्मक प्रतिभा होगी उसमें यह विशेषता उतनी ही उभर कर आएगी। एक बात और। अपने क्षेत्र से विषयवस्तु का चुनाव करते समय लेखक को अपनी निजी अनुभूतियों से ऊपर उठना होगा, उसे निर्वैयक्तिक होना पड़ेगा। इसके अभाव में वह कहानी के नाम अपने बाप दादे या टोले मुहल्ले की घिसी पिटी बासी बातें कह जायगा। अब उसको कौन समझावे कि रहे होंगे आपके पुरखे कहानियों से अधिक आकर्षक, पर जनाब की निजी उटपटांग बातों से पाठकों का मतलब! निर्वैयक्तिकता को समझना भी तो सरल नहीं है। इसको वही समझ सकता है जिसके पास व्यक्तित्व हो। व्यक्तित्व का नकाब लगाकर उसको कोई खाक समझेगा!

पर हमारे आलोच्य कहानी संग्रहों के लेखक मोहन राकेश, शिवप्रसाद सिंह, कमलेश्वर और ओंकारनाथ श्रीवास्तव अरसे से कहानियाँ लिख रहे हैं। हाँ, ओंकारनाथ अपेक्षाकृत नए हैं। 'जानवर-जानवर' मोहन राकेश का तीसरा, 'कर्मनाशा की हार' शिवप्रसाद सिंह का दूसरा और 'करबे का आदमी' कमलेश्वर का दूसरा कहानी संग्रह है। इसलिये समीक्षक के लिये आवश्यक है कि वह इन संग्रहों की निरपेक्ष छानबीन न कर यह भी देखे कि ये उन्हें विकास की किस मंजिल पर छोड़ते हैं।

मोहन राकेश ने जैसा कि उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है, 'जीवन की पंकिल गहराइयों' में प्रवेश करने की कोशिश की है।

मोहन राकेश ने 'जीवन की पंकिल गहराइयों' में प्रवेश करने का प्रयास किया है। पंक को उन्होंने प्रायः भागती हुई जिंदगी में देखा हैं जो रिस्टोरेंट, बसस्टैंड, गिरिजाघर, सराय, होटल आदि में आती जाती रहती है। पर सवाल यह है कि इन पंकिल गहराइयों में उन्होंने क्या देखा है? जीवन के किन लमहों ने उनकी अनुभूतियों को प्रेरणा दी है? 'जानवर-जानवर' संग्रह के विश्लेषण से यह लगता है वे जीवन की विवशताओं के कहानीकार हैं। इन विवशताओं का एक छोर अर्थ है तो दूसरा छोर सेक्स। 'काला रोजगार', 'मिस्टर भाटिया' 'आखिरी सामान' और 'जानवर-जानवर' कहानियों में इन छोरों को देखा जा सकता है। किंतु इन छोरों के संनिवेश मात्र से कहानियों को श्रेष्ठ या अश्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता। कहानियों की सच्ची कसौटी प्रभावान्विति है और प्रभावान्विति - कहानी की वस्तु सदा शिल्प पर निर्भर है। कहना न होगा कि वस्तु और शिल्प में कोई तात्विक अंतर नहीं होता। इस दृष्टि से 'जानवर और जानवर' इस संग्रह की सर्वोत्तम कहानी है। इसका व्यंग्य इतना तीखा हैं, विवशता इतनी मूक है और शिल्प इतना सजग है कि कहानी सप्राण हो उठी है। आखिर में गिरजे का 'डिंग - डांग', डिंग - डांग'. कहानी की व्यंजना को और भी प्रखर बना देता है। 'काला रोजगार' और 'आखिरी सामान' में चित्रित विवशता भी पाठकों की सहानुभूति प्राप्त कर लेती है। 'आखिरी सामान' का दर्द अधिक गहरा है। 'आर्द्रा' दूसरी तरह की कहानी है जो प्राणवत्ता की दृष्टि से अन्य कहानियों को पीछे छोड़ देती है। 'मवाली' में भी विवशता है जो अपने क्षोभ के कारण सजीव बन गई है। 'वासना की छाया में', 'परमात्मा का कुत्ता' तथा कुछ अन्य कहानियाँ भरती की कहानियाँ हैं। पर 'नए बादल' में जो पंक है उसकी गहराइयों में जिंदगी की जो विविधता और शक्ति दिखाई पड़ती है वह जानवर - जानवर में किंचित मंद पड़ गई।

शिवप्रसाद सिंह का 'कर्मनाशा की हार' शीर्षक उनके कहानी संग्रह को ही प्रतीकात्मक अर्थ नहीं देता है बल्कि वह लेखक के जीवनदर्शन का भी द्योतक है। इस दर्शन के कारण ही 'आर पार की माला' के बाद यह संग्रह उसके विकास की दूसरी मंजिल बन सका है। वह मनुष्य की शक्ति का विश्वासी और उसके संघर्षों के प्रति आस्थावान है। संभवतः अपने इसी संबल के कारण विकास के मार्ग में उसमें मंथरता नहीं दिखाई पड़ती, चौराहों और मोड़ों पर भी अपना रास्ता पहचानने में उसे भटकना नहीं पड़ता है। इन आस्थाओं और विश्वासों ने उसकी अनुभूतियों को प्रेरणा दी है। इसका मतलब यह नहीं है कि वह किसी 'वाद' विशेष का हिमायती है। वादों से उसका कोई मतलब नहीं है — मतलब है तो मनुष्य की कमजोरियों में लिपटी हुई महानता से।

उपर्युक्त कथन के सबूत में 'कर्मनाशा की हार', 'पापजीवी', 'बिंदामहराज' और 'वशीकरण' को उद्धृत किया जा सकता है। ये सभी कहानियाँ लेखक के जाने-पहचाने क्षेत्र की कहानियाँ हैं। इनमें लेखक ने उन मर्मस्पर्शी लमहों को पकड़ा है जो जीवन को ऊर्ध्वमुखी बनाने के साथ साथ कहानी के कहानीपन में कहीं पर भी विकृति नहीं ले आ पाते। इसका कारण यह है कि ये क्षण ही लेखक की अनुभूतियाँ हैं।

शिवप्रसाद सिंह की कहानियों के मूल में पैठने पर यह दिखाई पड़ता है कि वे अंधविश्वासों और क्षुद्र स्वार्थों से ढँकी जीवन की अग्नि को पुनः प्रज्वलित कर देना चाहते हैं। 'कर्मनाशा की हार' में फुलमत के मूक प्रेम को जिन संकेतों से व्यक्त किया गया है वे कहानी की भावात्मकता को घनत्व प्रदान करते हैं और स्थान स्थान पर प्रयुक्त प्रतीक संपूर्ण कहानी पर बौद्धिकता का हलका रंग चढ़ा देते हैं। फिर भी इस कहानी को मोड़ देने में जो सतर्कता बरती गई है वह परिलक्षित हो जाती है। किंतु 'पापजीवी' 'बिंदामहराज' और 'वशीकरण' अत्यंत स्वाभाविक ढंग से उगती और विकसित होती हैं। 'पापजीवी' समूचे समाज को कसकर तमाचा जड़ती है क्योंकि 'पापजीवी', का दायित्व उसी पर है। एक पीढ़ी का 'पापजीवी' दूसरी पीढ़ी के 'पापजीवी' से भिन्न हो गया है। इस भिन्नता को कहानीशिल्प के भीतर से ही व्यंजित किया गया है जो उमड़ती हुई नई जिंदगी का एक दृढ़ संकेत देती है। 'बिंदामहराज' में समाज की उपेक्षा और अंधविश्वासों के पाटों में पिसते हुए व्यक्ति का दर्द भरा संगीत है तो 'वशीकरण' में प्यार की विकृतियों से मुरझाए हुए होठों पर मुस्कराती हुई जिंदगी का चंद्रातप। इस शीतलता को भैया, भाभी, मा, मिस्री सभी अनुभव करते हैं। सहानुभूति के अभाव में आज की पारिवारिक जिंदगी कितनी भारी और जड़ बनती जा रही है, उसके आ जाने पर परिवार स्वर्ग बन सकता है। यह कहानी इस संग्रह की सर्वोत्कृष्ट कहानी है। इसमें न तो कहीं आरोपित आग्रह है और न शिल्पगत चमत्कार। वस्तु और शिल्प का अलगाव इसमें समाप्त हो गया है। भाभी और देवर के शिष्ट विनोद से कहानी और चमक गई है। यह कहानी लेखक की एक उपलब्धि है।

जिन कहानियों की चर्चा ऊपर की गई है वे अन्य कहानियों को थोड़ा बहुत श्रीहीन कर देती हैं। 'प्रायश्चित्त' कहानी के संयम ने इसे बहुत कुछ सँभाल लिया है। फिर भी इसका दर्द पाठक को अछूता नहीं छोड़ता। यदि इसके अंतिम दो तीन वाक्य निकाल दिये जायँ तो इसकी प्रभावोत्पादकता और बढ़ जाय। 'केवड़े का फूल' का प्राणतत्त्व केवल उसका प्रतीक है।

जिस क्षेत्र या रेंज की चर्चा ऊपर की गई है उसके बाहर जाने पर शिवप्रसाद सिंह की कहानियाँ बहुत अच्छी नहीं बन पड़ी हैं। उदाहरण के लिये 'कहानियों की कहानी',

'भग्नप्राचीर', 'हाथ का दाग' आदि का नाम लिया जा सकता है। यद्यपि इनमें लेखक शिल्प द्वारा अनुभूतियों की कमी की पूर्ति करना चाहता है फिर भी वे स्वाभाविक प्रवाह में नहीं बँध पाई हैं।

कमलेश्वर के 'कस्बे के आदमी' की अधिकांश कहानियों में कुछ 'मूडों' को अच्छी तरह बाँधा गया है। 'तीन दिन पहले की रात', 'गर्मियों के दिन' 'चायघर', 'सीखचे', 'सचझूठ' ऐसी ही कहानियाँ हैं। मूलतः इनमें एक ही तरह की मनोवृत्ति चित्रित हुई है पर उनके शेड्स भिन्न भिन्न हैं। इन भागते हुए मूडों में जो अंतर-संघर्ष चित्रित हुआ है वह निषेधात्मक होते हुए भी यथार्थ और रोचक हैं। 'सीखचे' कहानी में अपेक्षाकृत ठहराव अधिक है और अपने प्रतीक के कारण यह अन्य कहानियों से अधिक प्राणवान बन पड़ी हैं। 'चायघर' और 'सचझूठ' घुटनपूर्ण जिंदगी के उन लमहों की कहानियाँ हैं जो क्षण विशेष में तलखी भर देती हैं। अपने क्षेत्र के बाहर जाकर कमलेश्वर ने जो कहानियाँ लिखी है वे स्वयं लेखक की अनुभूतियाँ नहीं पा सकी हैं। 'इंसान हैवान', 'थानेदारसाहब', 'बेकार आदमी' इसी तरह की कहानियाँ हैं।

जिन लोगों ने कमलेश्वर का 'राजा निरबंसिया' संग्रह पढ़ा है उन्हें 'कस्बे का आदमी' किसी तरह संतोषप्रद नहीं लगेगा। 'कस्बे का आदमी' देखते देखते, 'देवा की माँ', 'मुर्दों की दुनिया' और 'राजा निरबंसियां' की छायाएँ उभर उभर आती हैं। फिर तो उनके गहरे धुंध में कस्बे के आदमी के चेहरे बहुत कुछ अनदेखे ही रह जाते हैं। कमलेश्वर को कहानी कहने की कला खूब मालूम है पर उन्हें सजग होकर अपने पहले कहानीसंग्रह की परंपरा को आगे बढ़ाना चाहिए।

'काल सुंदरी' ओंकारनाथ श्रीवास्तव का पहला कहानी संग्रह है। इस संग्रह में भी तीन ही ऐसी कहानियाँ हैं जो हमारा ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट कर पाती है — 'काल सुंदरी', 'वाली और बुंदे' और 'सर्वहारा'। लड़कों के ऊधम, बड़ों के हँसी - मजाक के बीच पलनेवाले मूक, पर सच्चे प्रेम को 'काल सुंदरी' में आकर्षक ढंग से चित्रित किया गया हैं। 'वाले और बुन्दे' में मा-बेटे और बहिन के बीच जिस त्यागमूलक प्रेम को चित्रित किया गया है उसमें एक विशेष ताजगी है। आज की दमघोंट प्रेम कहानियों से परिचित पाठकों को यहाँ पर ताजी हवा का वह हल्का स्पर्श मिलता है जो जिंदगी को गुदगुदा देता है। सर्वहारा में भी निस्वार्थ प्रेम का वह पहलू अंकित किया गया है जो त्याग का विश्वासी है। पर मनोवैज्ञानिक प्रतीकों की भूलभुलैया में 'नागपूजा' की कहानी भटक गई है, भोंपू को कहानी का भोंपू ही समझना चाहिए। 'यही जिंदगी हकीकत, यही जिंदगी फसाना' के सम्बंध में हकीम आगा जैन ऐश का यह कहना पर्याप्त समझना चाहिए — 'मगर इनका कहा यह, आप समझें या खुदा समझें।' जो हो, पर ओंकारनाथ में संभावनाएँ हैं। हाँ, यदि वे बुरा न समझें तो भाषा के संबंध में उन्हें अधिक सचेत होने की जरूरत है।

इन संग्रहों का लेखा जोखा लगाने पर संक्षेप में यही कहना होगा कि हिंदी कहानी साहित्य तेजी से आगे बढ़ रहा है। इस दौड़धूप में इसके चरण प्रायः लड़खड़ा जाते हैं, मार्ग अनचीन्हा रह जाता है और लक्ष्य अपरिचित। राष्ट्रीय आकांक्षाओं की भी इनमें प्रायः उपेक्षा हो गई है। शिल्प की दृष्टि से हिंदी कहानी के विकास के संबंध में दो मत हो नहीं

सकते। पर वस्तु (कॉंटेंट) की दृष्टि से उनमें वे तत्त्व बहुत कम आ पाए हैं जिन्हें निःसंकोच भारतीय कहा जा सके। इनके प्रति कुछ कहानियाँ जरूर सजग हैं और भावी कहानी को उनसे बड़ी आशाएँ हैं।[1]

—बच्चन सिंह

❀

उर्मिला

इस प्रबंध काव्य में उर्मिला को केंद्र बनाकर श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने रामायण की कथा अपने ढंग से कही है। यह सोचकर कि रामकथा सुप्रसिद्ध है, कवि ने इसे घटनाबहुल नहीं बनाया, क्योंकि उसमें मौलिकता के प्रदर्शन का कोई अवकाश नहीं था। और यह तो एक निर्विवाद सत्य है कि वाल्मीकि या तुलसी ने कथा को जो रूप दिया है, उससे श्रेष्ठतर रूप में रामकथा को प्रस्तुत करना संभव नहीं है, अतः कुछ चुनी हुई महत्वपूर्ण घटनाओं की मानसिक प्रतिक्रियाओं का विस्तृत एवं कल्पनाप्रसूत वर्णन ही इस काव्यग्रंथ की विशेषता है। मिथिला, अयोध्या और लंका में जिन नये और अनूठे प्रसंगों की उद्भावना कवि ने की है वे उसकी मौलिक प्रतिभा के परिचायक हैं और काव्य-सृजन की सार्थकता को सिद्ध करते हैं।

इस ग्रंथ में रामकथा के विशाल पट को एक परिवार तक, परिवार में भी दंपति के संयोग-वियोग तक, 'नवीन' जी ने सीमित कर दिया है, लेकिन प्रेम का जैसा सांगोपांग और सूक्ष्म वर्णन उन्होंने किया है, वैसा अन्यत्र मिलना कठिन है। लक्ष्मण और उर्मिला यदि संयोग-वियोग में हैं तो फिर प्रकृति का एक एक कण संयोग-वियोग में है। इस प्रकार व्यक्तिगत प्रेम को विराट प्रेमतत्व से संबद्ध कर कवि ने उसे बहुत ऊँचा उठा दिया है। कवि का यही उदात्त दृष्टिकोण समस्त काव्य का मूलाधार है। भेद में अभेद की प्रतिष्ठा करना, द्वैत से अद्वैत की ओर जाना, स्थूल को आध्यात्मिक स्तर तक उठाना, उसका स्वभाव ही बन गया है। संक्षेप में जीवन को उसकी दार्शनिक पीठिका में स्थापित कर 'नवीन' जी ने उसे महिमान्वित कर दिया है।

राम-रावण-युद्ध को कवि ने आर्य-अनार्य-संस्कृतियों के संघर्ष के रूप में स्वीकार किया है। इसमें राम हैं अध्यात्मवाद के पोषक और रावण जड़वाद का समर्थक। इस जड़वाद को नवीन जी ने पदार्थवाद, भोगवाद और राक्षसवाद के नाम से भी पुकारा है। राज्याभिषेक के समय राम ने विभीषण को उपदेश देते हुए इस बात पर खेद प्रकट किया है कि वे प्रयत्न

१. जानवर - जानवर, ले० मोहन राकेश, प्र० राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड दिल्ली
कर्मनाशा की हार, ले० शिवप्रसादसिंह, प्र० भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
कस्बे का आदमी, ले० कमलेश्वर, प्र० श्रमजीवी प्रकाशन, इलाहाबाद
काल सुंदरी, ले० ओंकारनाथ श्रीवास्तव, प्र० राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

करने पर भी रावण का हृदयपरिवर्तन न कर सके। यह हृदय परिवर्तन आधुनिक युग की पुकार है और इस उदार भावना पर गांधीवाद का प्रभाव है। इस प्रकार के दोषों से किसी भी युग के कवियों का बचना कठिन है।

यह काव्य ग्रंथ घटनाप्रधान न होकर भावनाप्रधान है, अतः विशिष्ट प्रकार के पाठक ही इसमें रस ले सकेंगे। भावनाओं के चित्रण में भी कवि ने अनुपात का ध्यान नहीं रखा है। अनेक स्थलों पर ऐसा लगता है कि कवि कथा के अनुरोध से नहीं, बल्कि वर्णन के लिए ही वर्णन कर रहा है, अतः पाठक यहाँ वहाँ ऊब का अनुभव करने लगता है। अलंकरण प्राचीन ढंग का है और भाषा अनेक स्थलों पर अपरिमार्जित है। दोहों का वाग्वैदग्ध्य भी रीतिकालीन अधिक है।

यह कृति राम कथा की एक मार्मिक घटना के मानसिक पक्ष का उज्ज्वल चित्र प्रस्तुत करती है। इसके अध्ययन से पाठक उच्च स्तर की एक ऐसी भावभूमि में प्रवेश करता है जहाँ वह सृष्टि के अनेकमुखी क्रियाकलाप को एक सामंजस्य में पाकर अलौकिक आनंद का अनुभव कर सके। यदि रामचरितमानस के उपरांत रामचंद्रिका और साकेत की रचना की कोई सार्थकता है तो उर्मिला के प्रणयन की अनिवार्यता पर भी संदेह नहीं किया जा सकता।[1]

—विश्वंभर 'मानव'

❀

हिंदी-नाटक

'हिंदी-नाटक' डा० बच्चनसिंह की नाट्यालोचन संबंधी नवीनतम रचना है। इसमें लेखक ने कुछ अधिक गहरे पैठकर हिंदी नाटकों की समीक्षा की है और बहिरंग की अपेक्षा उसके अंतरंग के विवेचन-विश्लेषण पर अधिक बल दिया है।

पूरी पुस्तक कुल १७ अध्यायों में विभक्त है। अंत में चार उपयोगी परिशिष्ट भी जोड़ दिए गए हैं। परिशिष्ट १–२ के विषय में एक बात ध्यान देने की है कि 'हिंदी एकांकी' तथा 'रेडियो नाटक (ध्वनि एकांकी)' को मूल पुस्तक के साथ विवेचित न कर उन्हें परिशिष्ट में स्थान दिया गया है। एकांकी को एक अलग विधा मानते हुए भी हिंदी की नाट्यालोचन-संबंधी पुस्तकों में नाटकों के साथ ही एकांकी नाटकों का विवेचन किया जाता है। ऐसा करना मूलतः अवैज्ञानिक है। अंग्रेजी में भी अनेकांकी नाटकों पर विचार करते हुए एकांकी नाटकों का विचार नहीं किया गया है। डा० बच्चनसिंह ने 'हिंदी एकांकी' और 'रेडियो एकांकी' को (जो नाटक की दो भिन्न और स्वतंत्र विधाएँ हैं) परिशिष्ट में रखकर पहली बार इस अवैज्ञानिकता को मिटाने का प्रयास किया है।

१. उर्मिला — प्रबंध काव्य, लेखक – बालकृष्ण शर्मा नवीन, प्रकाशक — अतरचंद्र कपूर एंड संस दिल्ली, पृष्ठ डिमाई साइज के ६१६, मूल्य १२।

मूल पुस्तक के प्रथम अध्याय में हिंदी नाटकों के उद्भव के पूर्व की अवस्थाओं का विचार किया गया है। संस्कृत नाटकों की परंपरा और उसके हिंदी नाटकों पर पड़नेवाले प्रभाव का विवेचन करते हुए हिंदी नाटकों के मूल को 'लोकनाटकों' में खोजने के प्रयास का खंडन किया गया है। इस संबंध में लेखक का मत है कि 'वस्तुतः लोकनाटकों से हिंदी नाटकों को प्रभावित नहीं कहा जा सकता। इन लोक नाटकों और हिंदी नाटकों के बीच पारसी थिएटर कंपनियों का समय आता है। पारसी कंपनियों पर लोक नाटकों के कुरुचिपूर्ण वातावरण का प्रभाव अवश्य पड़ा और इन कंपनियों का जो कुछ थोड़ा बहुत प्रभाव हिंदी नाटकों पर पड़ा उसके संबंध में कोई विवाद नहीं रह गया है।'' (पृष्ठ १७)। इस निष्कर्ष तक पहुँचने में लेखक ने सूक्ष्म विश्लेषण और तर्क का सहारा लिया है। हिंदी नाटकों के आरंभ काल की राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अवस्थाओं का विवेचन कर उनके उदय की पृष्ठभूमि का सुंदर और व्यवस्थित रीति से विचार किया गया है।

दूसरा अध्याय भारतेंदु हरिश्चंद्र से संबद्ध है। भारतेंदुयुग की संक्रमणात्मक स्थिति की गहराई में पैठकर लेखक ने कुछ बहुत ही महत्व के निष्कर्ष निकाले हैं। भारतेंदु के अनूदित नाटकों के विषय में प्रकट किए गए उसके विचार काफी बहुमूल्य और वज़नी हैं, और लेखक की सूझ-बूझ तथा विश्लेषणक्षमता को स्पष्ट करते हैं। भारतेंदु ने 'रत्नावली', 'मुद्राराक्षस', 'कर्पूरमंजरी' आदि का ही अनुवाद क्यों किया? इस विषय में लेखक के अपने तर्क हैं। भारतेंदुजी प्रकृति से ही रसिक और सहृदय थे, रीतिकालीन प्रभाव भी उनकी रुचि पर कम न थे। अतः दरबारी नाटक उन्हें पसंद थे, साथ ही रत्नावली आदि नाटक अर्थप्रकृतियों, कार्यावस्थाओं तथा पंचसंधियों की दृष्टि से संस्कृत नाटकों में अप्रतिम थे। निश्चय ही इन्हीं कारणों से उक्त नाटकों के अनुवाद भारतेंदुजी ने किए। साथ ही भारतेंदुजी रूढ़िवादिता के कट्टर विरोधी थे। 'मुद्राराक्षस' नाटक के अनुवाद के मूल में भारतेंदु जी की यही धारणा काम करती दीख पड़ती है। इस नाटक में शास्त्रीय व्यवधानों का अतिक्रमण किया गया है अतः अपने नवागत युग के लिए यह नाटक भारतेंदुजी को पसंद आ गया हो, इसकी अधिक संभावना है। भारतेंदु की प्रकृति को समझते हुए अनुवादों के संबंध में डा० बचनसिंह द्वारा लगाए गए अंदाज वज़नी और एक नए विचारक्षितिज का उद्घाटन करते हैं।

भारतेंदु की सामाजिक चेतना बहुत प्रबल थी। 'विद्यासुंदर' के छायानुवाद के मूल में डा० बचनसिंह ने भारतेंदुजी की इसी प्रवृत्ति को लक्ष्य किया है और स्वीकार किया है कि 'प्रेमविवाह को माता पिता द्वारा अनुमोदित बाह्यविवाह की अपेक्षा अधिक श्रेयस्कर सिद्ध करने के लिए ही इस नाटक का अनुवाद हुआ।'

भारतेंदु के मौलिक नाटकों के वस्तुविन्यास, चरित्रचित्रण तथा अभिनेयता का विचार भी अधिक नई और वैज्ञानिक रीति से किया गया है। अर्थप्रकृतियों, कार्यावस्थाओं तथा पंचसंधियों आदि की चूल बैठाने का प्रयास न करके उनके साहित्यिक मूल्यांकन को ही दृष्टि में रक्खा गया है। ऐसा करने में ही भारतेंदु जी के साथ न्याय किया जा सकता है क्योंकि वे स्वयं इन शास्त्रीय बंधनों को हिंदी नाटकों के लिये बहुत कुछ अनावश्यक मानते थे। अपने 'नाटक' शीर्षक के निबंध में भारतेंदु जी ने स्पष्ट लिखा है — 'संस्कृत नाटकों की भाँति हिंदी नाटकों में इनका (प्रकरी, विलोभन, पचसंधि आदि का) अनुसंधान करना, वा किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक रखकर हिंदी नाटक लिखना व्यर्थ है।' (सभा, भारतेंदु ग्रंथावली खंड १, पृ० ७२२)।

भारतेंदुजी के नाटकों की समाजशास्त्रीय दृष्टि से परीक्षा करते हुए डा० बचनसिंह ने इस बात का भी स्पष्टीकरण किया है कि भारतेंदु ने संस्कृत के वर्गविशेष का प्रतिनिधित्व करनेवाले पात्रों (राजाओं आदि) के साथ ही सामान्यजीवन के विविध पात्रों को क्यों लिया ? वे इतना तो स्वीकार करते हैं कि 'चरित्रसृष्टि की दृष्टि से भारतेंदु का विशेष महत्व नहीं आंका जा सकता' किंतु राजाओं - महाराजाओं के साथ ही दलाल, कुंजड़िन, कवि, एडिटर जैसे पात्रों को भारतेंदु जी ने अपने नाटकों में स्थान दिया है उसे 'संस्कृत की पिटी हुई परंपरा को पीछे छोड़कर एक क्रांतिकारी कदम' माना जा सकता है। (दे० पृ० ३३)।

'भारतेंदुयुग : नाटक की विविध दिशाएँ' शीर्षक अध्याय में रोमांटिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, पौराणिक, राष्ट्रीय और व्यंग्यात्मक नाटकों का प्रौढ़ विवेचन किया गया है और विश्लेषण-परीक्षण के सहारे कितने ही बहुमूल्य तथ्यों का उद्घाटन किया जा सका है।

'प्रसाद – नाटक की नयी दिशा' में खूब जमकर विचार किया गया है। वस्तुयोजना के संबंध में प्रसाद के नाटकों का विवेचन बहुत व्यवस्थित, सुगठित और पर्याप्त मौलिक है। प्रसाद जी के नाटकों में अर्थप्रकृतियों, कार्यावस्थाओं और संधियों की संगति खोजने से डा० बचनसिंह ने अपना विरोध प्रकट किया है — 'कोई श्रेष्ठ नाटककार इन बंधनों को स्वीकार नहीं कर सका। जब संस्कृत के नाटक इस साँचे में अपने को नहीं ढाल सके तब हिंदी नाटकों पर इनका आरोप जबरदस्ती नहीं, तो और क्या है ?' (पृ० ५६)। इसी प्रसंग में अन्वितित्रयी (थ्री यूनीटीज) के सिद्धांत का खंडन करते हुए उन्होंने लिखा हैं — 'एक समय की इन रूढ़ियों के आधार पर प्रसाद के रोमैंटिक नाटकों का आकलन करना अपने आप में एक असंगति है।' (पृ० ५७)।

प्रसाद के नाटकों के लिये इस प्रकार की विश्लेषणात्मक आलोचना (एनेलिटिक क्रिटिसिज्म) की उपयुक्तता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। डा० बचनसिंह की विश्लेषणात्मक आलोचना से प्रसाद के नाटकों की बहुत सी विशेषताएँ अधिक उभर कर सामने आ सकी है।

प्रसाद के समसामयिकों का विचार करते हुए पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र को प्रसाद का परवर्ती कहना ठीक नहीं। मिश्र जी के 'संन्यासी', 'राक्षस का मंदिर' (१९३१ ई०) तथा 'मुक्ति का रहस्य' (१९३२) के पूर्व १९२५ में ही उनका 'अशोक' प्रकाशित हो चुका था। 'अशोक' के पहले प्रसाद जी का केवल एक नाटक 'जनमेजय का नागयज्ञ' प्रकाशित हुआ था। माना कि 'अशोक' बहुत कमजोर है पर इसी नाते उसे छोड़ा नहीं जा सकता।

'प्रसाद के परवर्ती नाटक' के अंतर्गत प्रसाद के परवर्ती ऐतिहासिक नाटकों की प्रवृत्तियों का विचार हुआ है। इन नाटकों को इनकी प्रधान प्रवृत्ति के अनुसार दो श्रेणियों में बाँटा गया है — ऐतिहासिक-राष्ट्रीय, और ऐतिहासिक-सांस्कृतिक। आगे के तीन अध्यायों में इन्हीं का विवेचन-विश्लेषण किया गया है। स्वतंत्रता के पूर्व भी ऐतिहासिक-राष्ट्रीय नाटक लिखे गए और बाद में भी, किंतु इनमें एक मौलिक भेद है जिसे लेखक ने बड़ी सफाई से लक्ष्य किया है। स्वतंत्रता के पूर्व लिखे गए ऐतिहासिक-राष्ट्रीय नाटकों का 'मुख्य उद्देश्य था देश की राष्ट्रीय चेतना को उद्बुद्ध करना' जब कि बाद के नाटकों का 'प्रधान उद्देश्य जनता में स्वराष्ट्र-रक्षा की भावना भरना तथा देश को पतन के गर्त में ढकेलनेवाले उपकरणों के प्रति हमें सचेत

करना' और 'जनसंघटन पर बल देना' है। स्वतंत्रता के पूर्व गांधीजी के प्रभाव से पुराने नैतिक तथा सामाजिक मूल्यों में, जाति तथा वर्णभेद के बंधनों में, नारी के प्रति हमारे दृष्टिकोण में कैसे कैसे परिवर्तन आए, इन्हें नाटकों के विश्लेषण द्वारा जानने का प्रयास अपने में काफी मूल्यवान है। स्वतंत्रता के बादवाले ऐतिहासिक-राष्ट्रीय नाटकों में नायक के रूप में अंकित राजकुमारों तक को जनसेवक रूप में चित्रित करने की प्रवृत्ति की प्रमुखता देखी जाती है।

चौदहवें अध्याय में हिंदी के समस्यानाटकों पर विचार हुआ है और इब्सन, शा आदि के समानांतर रखकर पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्यानाटकों की समीक्षा की गई है। यहाँ मिश्र जी के समस्यानाटकों के उन पक्षों पर तर्कयुक्त विचार किया गया है जो उन्हें बुद्धिवादी नाटककार न होने देकर पुनरुत्थानवादी नाटककार बना देते हैं।

एलिगोरिकल ड्रामा को डा० बचनसिंह ने अन्यापदेशिक नाटक कहा है और नाट्यरूपक, रूपक कथात्मक नाटक, प्रतीकात्मक नाटक एवं अध्यवसित रूपक न कहकर अन्यापदेशिक नाटक कहने के पक्ष में उन्होंने बुद्धिसंगत तर्क उपस्थित किए हैं। हिंदी में देव का 'देवमाया प्रपंच' अन्यापदेशिक नाटक है। संस्कृत में 'प्रबोधचंद्रोदय' (११वीं शती) के अतिरिक्त, इस प्रकार के नाटकों की परंपरा में और कोई रचना नहीं मिलती फिर भी लेखक का अनुमान है कि 'प्रबोधचंद्रोदय के बाद इस श्रेणी के कुछ नाटक अवश्य लिखे गए पर नाट्यसाहित्य में उन्हें उल्लेखनीय नहीं माना गया।' (पृ० १५६)। हिंदी अन्यापदेशिक नाटकों को संस्कृत के 'प्रबोधचंद्रोदय', 'देवमायाप्रपंच' और अंग्रेजी के एलिगोरिकल तथा मोरैल्टीप्लेज के समानांतर रखकर परीक्षा की गई हैं। लेखक का यह मत ठीक है कि 'हिंदी के अन्यापदेशिक नाटक—कामना, ज्योत्स्ना और नवरस 'प्रबोधचंद्रोदय' तथा 'देवमाया प्रपंच' के उतने निकट नहीं हैं, जितने अंग्रेजी के 'मारैल्टीप्लेज' के।' (पृ० १५८)।

सोलहवें, सत्रहवें अध्याय में क्रमशः 'गीतिनाट्य' और 'सामाजिक नाटक की विवेचना की गई है। गीतिनाट्य की संभावनाओं और विशेषताओं की परीक्षा तथा सामाजिक नाटकों पर किया गया विचार भी कई दृष्टियों से उल्लेख्य है।

चार परिशिष्टों में से प्रथम दो में क्रमशः एकांकी नाटक और रेडियो एकांकी के रचनातंत्र (टेकनीक) आदि का विवेचन है। परिशिष्ट ३ में हिंदी के रंगमंच पर प्रकाश डाला गया है। इस संबंध में काशी की 'नागरी नाट्यकला प्रवर्तक मंडली' का उल्लेख महत्वपूर्ण हैं। परिशिष्ट ४ में नाटक के सिद्धांतपक्ष की चर्चा है। संस्कृत के नाट्यशास्त्रीय सिद्धांतों, अरस्तू आदि की मान्यताओं तथा अन्य देशी विद्वानों के महत्वपूर्ण विचारों की इसमें सम्यक् विवेचना और परीक्षा की गई है। इससे नाटक के सिद्धांतपक्ष को समझने में निश्चय ही सहायता मिलेगी। निस्संदेह 'हिंदी नाटक' लिखकर डा० बचनसिंह ने हिंदी नाट्यालोचन संबंधी आधुनिक और वैज्ञानिक समीक्षापुस्तक की कमी को दूर किया है।[1]

—राजदेवसिंह

❀

१. हिंदीनाटक—लेखक डा० बचनसिंह; प्रकाशक — साहित्य भवन (प्राइवेट) लि०, प्रयाग, पृष्ठ संख्या २४६, मूल्य ४)।

रेणुका

राष्ट्रीय चेतना को ओजस्वी स्वर देनेवाले हिंदी कवियों में कवि दिनकर का श्रेष्ठ स्थान रहा है। यौवन की स्फूर्ति से युक्त राष्ट्रीय भावना और प्रेम की उमंग की सरल-सुंदर परिणति उनके रेणुका नामक कविता संग्रह में हुई है। इसका पहला संस्करण सन् १९३५ में हुआ था और हिंदी जगत में इसका स्वागत भी खूब हुआ था। ३५ के बाद 'रेणुका' का कई बार मुद्रण हुआ। सन् ५४ में कवि ने इसका नया संस्कार किया है। पहले संस्करण में तीस कविताएँ थीं, इस संस्करण में इकतालीस। इसमें कुछ पुरानी कविताएँ नहीं हैं, चौदह नई कविताएँ जोड़ दी गई हैं। नई रचनाओं में से कुछ विदेशी कविताओं के स्वतंत्र अनुवाद हैं और कुछ मौलिक। इस संस्करण में श्री माखनलाल चतुर्वेदी की भूमिका भी नहीं है। इस प्रकार यह संस्करण नए रूप में प्रकाशित हुआ है।

श्री दिनकर मुख्यतः ओजस्विता और उमंग के कवि के रूप में प्रसिद्ध हैं। ये विशेषताएँ अधिकतर राष्ट्रीयतामूलक भाववस्तु के संदर्भ में प्रकट हुई हैं तो प्रेम के सुकुमार प्रसंगों में भी इनके कारण एक नई दमक आ गई है। छायावादी कविता की स्वातंत्र्यचेतना, जो वर्तमान, भूत और भविष्य से एक साथ संबद्ध है, रेणुका की प्रमुख रचनाओं में सरल-सहज रूप में प्रकाशित है। भावावेग और कल्पना की क्रीड़ा का चमत्कार इन सभी रचनाओं में है। जोड़ी गई नई रचनाओं में शैलीशिल्प का अधिक परिष्कृत रूप मिलता है पर भाववस्तु में कोई खास अंतर नहीं है। कविताप्रेमियों को रेणुका का यह नया रूप प्रियतर लगेगा इसमें संदेह नहीं।[1]

— विद्याविनोद

❀

दिल्ली

इसमें कवि की दिल्ली पर लिखी गई चार कविताएँ — 'नई दिल्ली के प्रति' (१९३३), 'दिल्ली और मास्को' (१९४५), 'हक की पुकार' (१९५२) और 'भारत का यह रेशमी नगर' (१९५४) संकलित हैं।

भूमिका में लिखा है — 'दिल्ली पर लिखी चारो कविताओं को एक साथ पढ़ने पर लोग मेरे दृष्टिकोण को कुछ अधिक न्याय के साथ ग्रहण कर सकेंगे, इसलिए उनका अलग संग्रह

१. रेणुका — ले० दिनकर ; प्र० उदयाचल, पटना; पृ० सं० १३९, मू० २॥)।

निकाल देने की बात मुझे पसंद आई।' ठीक लिखा है। श्री दिनकर देश और समाज की भावनाओं को वाणी देनेवाले कवि हैं। युग के जीवन के प्रति उनमें अडिग आस्था रही है। इन कविताओं में दिल्ली को केंद्र मानकर युग की भावनाओं को व्यक्त किया गया है क्योंकि यह नगरी भारत के शासकों का केंद्र रहती आई है। विभिन्न समयों में इसके प्रति देशवासियों के मन में विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाएँ हुई हैं और कवि ने आवेगमयी शैली में उनकी तदनुरूप अभिव्यक्ति की है।

पहली रचना में विदेशी शासन के दमनचक्र और दिल्ली के विलासमय रूप की कटुता व्यंजित है। दूसरी में रूसियों के नव अभ्युत्थान, वीरत्व और साम्यभाव के प्रति जनता की ललक और दिल्ली के शोषणचक्र के दुष्परिणामों के प्रति आक्रोश व्यक्त करके जनता का उद्बोधन किया गया है। शेष दो रचनाओं में स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद की दिल्ली के प्रति जनसमूह की प्रतिक्रिया व्यक्त की गई है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी देश की प्रगति कितनी मंद है, जनता का दुखदर्द बना ही रह गया और उधर दिल्ली अब भी वारविलासिनी की भाँति ही चटकमटक से भरी है। यही सब बातें ऐसे ढंग से लिखी गई हैं जो पढ़नेसुनने में अच्छी लगती हैं, साथ ही कवि की जनभावना की असंदिग्ध पहचान भी सूचित करती हैं। पाठकों को आधुनिक दिल्ली के विविध रूपों की झाँकी देखने के लिये एक बार यह संग्रह पढ़ देखना चाहिए।[1]

— विद्याविनोद

*

नीम के पत्ते

'नीम के पत्ते' कवि की पंद्रह कविताओं का संग्रह है। इसमें देश की स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद की विभिन्न स्थितियों के प्रति कवि या जनता के आक्रोश और असंतोष की बहुविध अभिव्यक्ति हुई है। देश का विभाजन, स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद राजनीतिज्ञों के पद-लोभ, स्वार्थममता, अधिकारलिप्सा, गांधी जी की हत्या आदि अनेक विषयों ने कवि की भावनाओं को उद्रिक्त किया है, और उसका दुख दर्द, आशा - निराशा, मानव जीवन के विकास में उसकी अटल आस्था आदि मार्मिक ढंग से व्यंजित हुए हैं। कविताएँ बहुत ही रोचक और सजीव हैं।[2]

— विद्याविनोद

*

१. **दिल्ली** — ले० दिनकर ; डिमाई, पृ० २३, मू० ।।।); प्रका०, उदयाचल, पटना।
२. **नीम के पत्ते** — ले० दिनकर; क्रा० पृ० ३६, प्र० उदयाचल, पटना मू० ।।।)।

लोकों का युद्ध

यह एच० जी० वेल्स के प्रसिद्ध वैज्ञानिक उपन्यास 'वार आफ द वर्ल्ड्स' का रूपांतर है। इस उपन्यास के संबंध में कुछ लिखना अनावश्यक है क्योंकि अंगरेजी उपन्यास के प्रेमी इसके महत्त्व से परिचित हैं। हाँ अनुवाद के संबंध में यह कहना जरूरी है कि वह बहुत ही शिथिल और अशुद्धियों से भरा है। स्थानाभाव के कारण यहाँ उदाहरण नहीं दिये जा रहे हैं। इस प्रकार के अनुवादों से उनका न होना ही अच्छा है।[1]

— क ख ग

१. लोकों का युद्ध — मूल लेखक – एच० जी० वेल्स; अनुवादक — रमेश बिसारिया एम० ए०; पृ० २३८; मू० ४); प्रकाशक — राजपाल ऐण्ड संस, दिल्ली।

सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश के कुछ महत्वपूर्ण प्रकाशन

विषय	लेखक	पृष्ठ संख्या	मूल्य
बुद्ध जयन्ती चित्रावली	...	...	६. ००
फ्रीडम स्ट्रगल इन उत्तर प्रदेश भाग १	आधारभूत सामग्री	५१४	१०. ००
,, ,, भाग २	,, ,,	७३६	१०. ००
थाट्स आन एजूकेशन एण्ड एलाईड प्राब्लम्स	डा० संपूर्णानन्द	८१	३. ००
ट्रायल्स आफ आवर डिमोक्रेसी	,, ,,	३५	०. ७५
इंडियन इंटेलेक्चुअल	,, ,,	३२	०. ७५
स्पेस ट्रेवल	,, ,,	२६	०. ७५
साइंटिफिक फाउंडेशन आफ अस्ट्रालाजी	,, ,,	२०	०. ७५
स्पार्क्स फ्राम ए गवर्नर्स ऐनविल भाग १	श्री क० मा० मुंशी	३६६	५. ००
,, ,, ,, भाग २	,,	६१३	८. ००
म्युजिशियन्स आई हैव मेट	डा. एस.के. चौबे	१०८	३. ००
ग़दर के फूल	श्रीअमृतलाल नागर	२६२	४. ५०
संघर्षकालीन नेताओं की जीवनियाँ (द्वितीय संस्करण)	अनेक विद्वानों द्वारा लिखित		१. ००
समाजवाद	डा० सम्पूर्णानन्द	३६	०. ७५
भारतीय बुद्धिजीवी	,, ,,	३१	०. ७५
चन्द्रसखी के लोकगीत और भजन	श्री प्रभुदयाल मीतल	६१	२. ००
राष्ट्रीय कविताएँ (संकलन)		११७	०. ५०
कालिदास (बालोपयोगी)		१२	०. १०
अमीर खुसरू (बालोपयोगी)		२०	०. २५
जगदीशचन्द्र बसु (बालोपयोगी)		१६	०. १०

स्वच्छ छपाई और आकर्षक आवरण इन ग्रंथों की अपनी विशेषता है। पुस्तक-विक्रेता बिक्री के नियमादि के लिये कृपया पत्र व्यवहार करें।

प्राप्ति स्थान—

१. प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ

२. सूचना साहित्य, फरीदी बिल्डिंग, हजरतगंज, लखनऊ

३. समस्त जिला सूचना अधिकारी, उत्तर प्रदेश
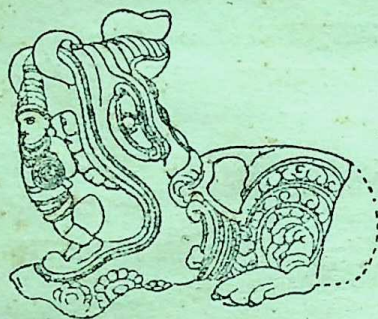
प्रकाशक — डा० राजबली पांडेय, प्रधान मंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
मुद्रक — महताब राय, नागरी मुद्रण, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी